ॐ

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति संस्कृत टीका सहित

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

समयसार

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत

गाथाओं और कलशों के हिन्दी पद्यानुवाद सहित

ज्ञायकभावप्रबोधिनी

हिन्दी टीका

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१ फैक्स : २७०४१२७

प्रकाशकीय : द्वितीय संस्करण

डॉ. भारिल्लकृत ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका सहित समयसार का दूसरा संस्करण मात्र ८० दिन के भीतर ही प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। २ हजार प्रतियों का प्रथम संस्करण हाथों-हाथ समाप्त हो गया।

जो लोग ऐसा कहते व मानते हैं कि आज शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है। कोई पढ़ता तो है नहीं; यों ही छपाये जाते हैं। उनसे हम कहना चाहते हैं कि आपका यह कहना डॉक्टर भारिल्ल के साहित्य के संदर्भ में उचित नहीं है।

इस कृति के संदर्भ में प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय में जो बात कही गई है, उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है - ''डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत समयसार अनुशीलन पढ़कर मुझे विचार आया कि यदि डॉक्टर भारिल्ल ग्रंथाधिराज समयसार की सरल-सुबोध टीका हिन्दी भाषा में लिख दें तो बहुत लोगों पर उपकार हो सकता है।

मैंने उनसे अनुरोध किया कि लगभग ४० वर्षों से आप समयसार के लिए ही समर्पित हैं। उस पर हजारों प्रवचन तो किये ही हैं, साथ में २२५० पेज का अनुशीलन भी लिखा है। उसके पहले प्रवचनरत्नाकर के ५००० पृष्ठों का संपादन भी आपने किया है। इसके अतिरिक्त ४०० पृष्ठों का समयसार का सार भी प्रस्तुत किया है। अनेक वर्ष पूर्व 'सार समयसार' नामक छोटी कृति भी लिखी थी।

इसप्रकार मूल ग्रंथ समयसार और उसकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति संस्कृत टीका पर आपका पूरा अधिकार हो गया है। इस समय और कोई ऐसा विद्वान दिखाई नहीं देता कि जो समयसार पर आपके समान अधिकार रखता हो। आपकी हिन्दी भाषा भी सरल-सुबोध है, लेखन शैली भी आकर्षक एवं सामान्यजन को बुद्धिगम्य है। इसलिए आप मूल ग्रंथ समयसार और आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के ऊपर हिन्दी भाषा में टीका अवश्य लिखें।

मुझे प्रसन्नता है कि डॉ. भारिल्ल ने मेरे द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने पर समयसार ग्रंथाधिराज पर हिन्दी टीका लिखना स्वीकार कर लिया; परिणामस्वरूप आज यह **ज्ञायकभावप्रबोधिनी** हिन्दी टीका आपके करकमलों में प्रस्तुत है।

इस टीका में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं; जो इसे अन्य टीकाओं से पृथक् स्थापित करती हैं और उन टीकाओं के रहते हुए भी इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को रेखांकित करती हैं।

वे विशेषताएँ इसप्रकार हैं -

१. भाषा सरल, सहज, सुलभ, स्पष्ट भाववाही है।

२. संस्कृत टीका का अनुवाद भी सहजगम्य है।

३. गाथा एवं कलशों का पद्यानुवाद भी सरस है, पद्य भी गद्य जैसा ही है, अन्वय लगाने की आवश्यकता नहीं है।

४. टीका, गाथा एवं कलशों का भाव व्यक्त करनेवाला हिन्दी टीकाकार का विशेष स्पष्टीकरण मूल ग्रंथ के प्राणभूत विषय को स्पष्ट करने में पूर्णत: समर्थ है।

५. आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति में समागत गाथायें, जो आत्मख्याति में नहीं हैं, वे भी इसमें शामिल की गई हैं, उन गाथाओं का गद्य एवं पद्यानुवाद के साथ-साथ तात्पर्यवृत्ति टीका का भाव भी इसमें दिया गया है। हिन्दी-गुजराती-मराठी-कन्नड़ भाषा में प्राप्त आत्मख्याति की अन्य टीकाओं में उक्त गाथायें उपलब्ध नहीं हैं।

६. इस ग्रन्थ की ऐसी कोई हिन्दी, गुजराती, मराठी और कन्नड़ टीका उपलब्ध नहीं है, जिसमें टीकाकार गाथाओं और कलशों का टीकाकार द्वारा किया गया पद्यानुवाद दिया गया हो; पर इस टीका में टीकाकार द्वारा ही किया गया गाथाओं और कलशों का हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है।

७. ४७ शक्तियों का विवरण जितना स्पष्ट इस कृति में दिया गया है, उतना इसके पहले की टीकाओं में उपलब्ध नहीं होता।

८. महत्त्वपूर्ण गाथाओं का भाव विस्तार से सोदाहरण समझाया गया है।

९. कठिन विषय को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी टीकाकार ने अनेक स्थान पर अपनी ओर से उदाहरण देकर समझाने का सफल प्रयास किया है।

१०. जिन-अध्यात्म का प्राथमिक अध्ययन करनेवाले को भी इस कृति के स्वाध्याय से अध्यात्म के मूल विषय का ज्ञान सहज हो जायेगा।

११. समयसार ३२०वीं एवं ४१४ गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका के उपरान्त दोनों प्रकरणों के उपसंहाररूप आत्मानुभूति संबंधी जो सामग्री दी है; वह भी इस टीका में सरल हिन्दी भाषा में दी गई है, जो आत्मख्याति की अन्य हिन्दी टीकाओं में उपलब्ध नहीं होती।

१२. प्रत्येक अधिकार के आरंभ में उसके पूर्व समागत विषयवस्तु का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण इस कृति की अपनी अलग विशेषता है; जिसके कारण पाठकों को विषयवस्तु का क्रमिक विकास और तारतम्य सहज ही स्पष्ट होता जाता है।

१३. सरलता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके कारण साधारण से साधारण अनभ्यासी पाठकों का भी प्रवेश समयसार और आत्मख्याति टीका में सहज हो जायेगा।

१४. दातारों के सहयोग से लागत मूल्य से लगभग आधे मूल्य में जितनी चाहे, उतनी संख्या में सर्वत्र सहज उपलब्ध होना भी एक ऐसा कारण है कि जिसके कारण यह कृति प्रत्येक मंदिर में प्रतिदिन के स्वाध्याय में रखी जावेगी और न केवल वक्ता के हाथ में, अपितु प्रत्येक श्रोता के हाथ में भी यह उपलब्ध रहेगी।

इतनी सशक्त, सरल, सुबोध और सार्थक टीका की रचना के लिए हिन्दी टीकाकार डॉ. भारिल्ल; सुन्दरतम प्रकाशन के लिए प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल; शुद्ध मुद्रण के लिए इसका प्रूफ देखनेवाले संजय शास्त्री बड़ामलरा; कम्पोजिंग और सेटिंग के लिए दिनेश शास्त्री बड़ामलहरा और लगभग आधी कीमत में उपलब्ध करानेवाले आर्थिक सहयोगियों के हम हृदय से आभारी हैं और सभी को कोटिश: धन्यवाद देते हैं।''

जिनवाणी का सर्वस्व समयसार का हार्द समझने में यह कृति अत्यन्त उपयोगी है। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस कृति का भरपूर उपयोग, समयसार के हार्द ज्ञायकभाव को समझने में अवश्य करेंगे।

१० अगस्त २००६ ई. **– ब्र. यशपाल जैन एम.ए.**

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.)

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

आचार्य कुन्दकुन्द –

जिन–अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन–आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ–साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है।

प्रवचन के प्रारम्भ में बोली जानेवाली वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं –

''अस्य मूलग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये.....विरचितम्। श्रोतार: सावधानतया शृण्वन्तु।''

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला छन्द इसप्रकार है –

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्द–कुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं –

''कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर–कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।[१]''

''यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रज:स्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे।[२]''

---

१. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द: कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताश:।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत: प्रतिष्ठाम्।। (चन्द्रगिरि शिलालेख)

२. .....कौण्डकुन्दो यतीन्द्र:।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीष:।
रज:पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं स:।। (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकैषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की विशेषता यही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है।[३] इसीप्रकार 'बोधपाहुड़' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।[४]

अत: उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्ति-पत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोढ़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है -

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[५] अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुल-मिल गया कि वह नाम का ही अंग हो गया।

इस संदर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों मे अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं -

''श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्ग्गा श्री गौतमाद्यार्प्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ।।३।।।
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धि ।।४।।[६]

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों के रत्नाकर, आचार्य परम्परा में नन्दिगण में श्रेष्ठ चारित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम - आचार्य शब्द है अंत में जिसके - ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।''

---

३. द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०
४. बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२
५. नन्दिसंघ की पट्टावली
६. जैनशिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं – १. गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है। २. उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। ३. उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।

'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि '**आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः**' पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ; परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[७] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है –

''आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा।।''[८]

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? – इस संदर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं –

''सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।६१।।
बारस अंगवियाणं चउदस पुवंग दिउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ।।६२।।

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है। बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।''

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इस संदर्भ में समयसार की पहली गाथा की दूसरी पंक्ति भी देखी जा सकती है, जो इसप्रकार है –

''वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।''

इसका अर्थ यह है कि श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।

इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए –

''जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

---

७. श्रुतसागर सूरि : षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ।
८. जैन सिद्धान्त भाग १, किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ-१०२)

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?''

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जा सकता है ?

यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था; वस्तुत: बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था ?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[९] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है; किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके संबंध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त (नन्दी है अन्त में जिनके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरम्भ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलत: इसप्रकार है -

''अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यै: प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धा-त्मतत्त्वादिमार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै: श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवै: पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहि-र्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चा-स्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमन्धर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर, उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर, ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और बहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।''

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की बारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

९. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है – ''**श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे...**

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य – पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि के धारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में... ।''

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द के संबंध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

''मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही **'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'** प्रस्फुटित हुआ। समवशरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान की दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं कि वापस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्यपद प्रदान कर वे स्वर्गवासी हो गये।''

एक कथा **'पुण्यास्रव कथाकोष'** में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है –

''भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था।

एक दिन जब वह अपने पशुओं को जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई।

वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अत: वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा।

तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।''

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा **'आराधनाकोष'** में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती। अत: उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं।

वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं; भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रात:स्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय बरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अत: उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आदर्श रहे हैं, मागदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है-

''आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं।

हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि श्री कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।[१०]''

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है –

१. समयसार (समयपाहुड)
२. प्रवचनसार (पवयणसार)
३. नियमसार (णियमसार)
४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंगहो)
५. अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[११] उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं –

१. दंसणपाहुड २. सुत्तपाहुड ३. चारित्तपाहुड ४. बोधपाहुड
५. भावपाहुड ६. मोक्खपाहुड ७. लिंगपाहुड एवं ८. सीलपाहुड

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं।

१०. जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय **११. रयणसार प्रस्तावना**

ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमश: 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा इन तीनों ग्रन्थों पर लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड़ नाम से प्रकाशित हुई। षट्पाहुड़ कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ ही षट्पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति अष्टपाहुड के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है।

समयसार

यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बरजिन-आचार्य परम्परा में शिरोमणि हैं, तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह ग्रन्थाधिराज **समयसार** सम्पूर्ण जिन-वाङ्मय का शिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे **'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयम्**[१२] - यह जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु है' कहा है तथा इसकी महिमा **'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति**[१३] - समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है' कहकर गाई है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं इसकी अन्तिम गाथा में इसके अध्ययन का फल बताते हुए कहते हैं -

''जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर, अर्थ और तत्त्व से जानकर इसके विषयभूत अर्थ में स्वयं को स्थापित करेगा; वह उत्तमसुख (अतीन्द्रिय आनन्द) को प्राप्त करेगा।''

आचार्य जयसेन के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने संक्षेपरुचिवाले शिष्यों के लिए पंचास्तिकाय, मध्यमरुचिवाले शिष्यों के लिए प्रवचनसार और विस्ताररुचिवाले शिष्यों के लिए इस ग्रन्थाधिराज समयसार की रचना की है। इस बात का उल्लेख उक्त ग्रन्थों पर उनके द्वारा लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं के आरंभ में कर दिया गया है।

इस ग्रन्थाधिराज पर आद्योपान्त १९ बार सभा में व्याख्यान कर इस युग में इसे जन-जन की वस्तु बना देनेवाले आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहा करते थे कि -

१२. आत्मख्याति टीका, कलश २४५ १३. वही, कलश २४४

''यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैनशासन का स्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है।''

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छिपी हुई परमशुद्ध-निश्चयनय की विषयभूत यह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

आचार्यदेव पूर्वरंग में ही कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा का दिग्दर्शन करूँगा, जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है; न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; मात्र अभेद-अखण्ड एक ज्ञायकभाव रूप है, परमशुद्ध है। परमध्यान का ध्येय, एकमात्र श्रद्धेय वह भगवान आत्मा न तो कर्मों से बद्ध ही है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह ध्रुवतत्त्व पर से पूर्णत: असंयुक्त, अपने में ही सम्पूर्णत: नियत, अपने से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।

तात्पर्य यह है कि पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एकमात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है; इसकी आराधना-उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त सभी देहादि पर पदार्थों, रागादि विकारी भावों गुणभेदादि के विकल्पों में अपनापन ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यद्यपि देहादि पदार्थों एवं रागादि विकारी भावों को जिनागम में व्यवहार से आत्मा का कहा गया है; पर वह व्यवहार प्रयोजनविशेषपुरत: ही सत्यार्थ है।

जिसप्रकार अनार्य को समझाने के लिए अनार्यभाषा का उपयोग उपयोगी ही है, पर अनार्य हो जाना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता; उसीप्रकार परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार का उपयोग उपयुक्त ही है, तथापि व्यवहार-विमुग्ध हो जाना ठीक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि व्यवहार के विषयभूत देहादि एवं रागादि को वास्तव में आत्मा जान लेना - मान लेना, अपना जान लेना - मान लेना कदापि उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

भगवान आत्मा तो देहादि में पाये जानेवाले रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी स्वभाववाला चेतन तत्त्व है, शब्दादि से पार अवक्तव्य तत्त्व है, इसे बाह्य चिह्नों से पहिचानना संभव नहीं है। भले ही उसे व्यवहार से वर्णादिमय अर्थात् गोरा-काला कहा जाता हो, पर कहने मात्र से वह वर्णादिमय नहीं हो जाता। कहा भी है -

''घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मय:।।[१४]

---

१४. आत्मख्याति टीका, कलश ४०

जिसप्रकार 'घी का घड़ा' कहे जाने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता; उसीप्रकार 'वर्णादिमान जीव' कहे जाने पर भी जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता।''

यह सार है समयसार के पूर्वरंग और जीवाजीवाधिकार का। सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न और अपने से अभिन्न निज भगवान आत्मा की पहिचान कराना यहाँ मूल प्रयोजन है।

जीवाजीवाधिकार के अध्ययन से स्व और पर की भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी जबतक यह आत्मा स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता रहता है; तबतक वास्तविक भेद-विज्ञान उदित नहीं होता।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद कर्ता-कर्म अधिकार लिखना आवश्यक समझा। पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा आत्मा न तो स्वतंत्र ही हो सकता है और न उसमें स्वावलम्बन का भाव ही जागृत हो सकता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्यों का कर्ता-भोक्ता स्वीकार किया जाता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इस बात को कर्ता-कर्म अधिकार में बड़ी ही स्पष्टता से समझाया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो साफ-साफ कहते हैं -

''कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।[१५]

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता ही है, वह ज्ञानी है।''

यदि हम गहराई से विचार करें तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्यों को करता है, उनके स्वतंत्र परिणमन में हस्तक्षेप करता है, उन्हें भोगता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का क्या अर्थ शेष रह जाता है ?

इस कर्ता-कर्म-अधिकार की उक्त गाथा में तो यहाँ तक कहा गया है कि पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का कर्ता भी ज्ञानी नहीं होता, वह तो उन्हें भी मात्र जानता ही है।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव आस्रवभाव हैं। इस कर्ता-कर्म-अधिकार का आरंभ भी आत्मा और आस्रवों के बीच भेदविज्ञान से होता है। जब आत्मा भिन्न है और आस्रव भिन्न हैं तो फिर आस्रवभावों का कर्ता-भोक्ता भगवान आत्मा कैसे हो सकता है ?

जिनागम में जहाँ भी आत्मा को पर का या विकार का कर्ता-भोक्ता कहा गया है, उसे प्रयोजन विशेष से किया गया व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में वस्तुस्थिति तो यह है -

''आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।[१६]

---

१५. समयसार, गाथा ७५ १६. आत्मख्याति टीका, कलश ६२

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; अत: वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है – ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।''

यद्यपि युद्ध योद्धाओं द्वारा ही किया जाता है, तथापि व्यवहार में यही कहा जाता है कि युद्ध राजा ने किया है। जीव को ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता कहना – इसीप्रकार का व्यवहार है।

जिसप्रकार प्रजा के दोष-गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है; उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य के परिणमन का कर्ता जीव को कहा जाता है।

इसप्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा परकर्तृत्व के व्यवहार की स्थिति स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

''उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं व्यवहार णयस्स वत्तव्वं।।[१७]

आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहारनय का कथन है।''

वास्तव में देखा जाये तो आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी संबंध नहीं है।

अज्ञानी आत्मा देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारों को निजरूप ही मानता है या फिर उन्हें अपना मानकर उनसे स्व-स्वामी संबंध स्थापित करता है, उनका स्वामी बनता है। यदि कदाचित् उन्हें अपना न भी माने तो भी उनका कर्ता-भोक्ता तो बनता ही है।

इसप्रकार अज्ञानी के पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व पाये जाते हैं। उक्त चारों ही स्थितियों को अध्यात्म की भाषा में पर से अभेद ही माना जाता है। अत: पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व तोड़ना ही भेदविज्ञान है। जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व-ममत्व और कर्ता-कर्म अधिकार में पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध कर भेदविज्ञान कराया गया है।

इसप्रकार उक्त दोनों ही अधिकार भेदविज्ञान के लिए ही समर्पित हैं।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं रागादिभावकर्मों को पुण्य-पाप के रूप में भी विभाजित किया जाता है। इसप्रकार शुभभाव एवं शुभकर्मों को पुण्य एवं अशुभभाव एवं अशुभकर्मों को पाप कहा जाता है।

यद्यपि शुभाशुभरूप पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा को बंधन में डालनेवाले हैं; तथापि अज्ञानीजन पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानते हैं। अज्ञानजन्य इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप अधिकार का प्रणयन किया है।

अज्ञानीजनों को संबोधित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इसी समयसार में कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है ?

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है; उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभ (पाप) कर्म जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों ही कर्म समान ही हैं।

---

१७. समयसार, गाथा १०७

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि इसलिए पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

शुभाशुभभावरूप पुण्य-पापभाव भावास्रव हैं एवं उनके निमित्त से पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं का पुण्य-पाप प्रकृतियोंरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है। भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) इन दोनों ही आस्रवों से भिन्न है। अज्ञानी जीव पुण्य और पाप में अच्छे-बुरे का भेद कर पुण्य को अपनाना चाहता है, उपादेय मानता है, मोक्षमार्ग जानता है; जबकि आस्रवतत्त्व होने से पाप के समान पुण्यतत्त्व भी हेय है, उपादेय नहीं; संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। यही भेदज्ञान कराना पुण्य-पाप अधिकार का मूल प्रयोजन है।

आस्रव अधिकार में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को निरास्रव सिद्ध किया गया है एवं इस संदर्भ में उठनेवाली शंका-आशंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

वस्तुत: बात यह है कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है।

आस्रव का निरोध संवर है। अत: मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध होने पर संवर की उत्पत्ति होती है। संवर से संसार का अभाव और मोक्षमार्ग का आरंभ होता है, अत: संवर साक्षात् धर्मस्वरूप ही है।

सर्वदर्शी भगवान ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप अध्यवसानों को आस्रव का कारण कहा है। मिथ्यात्वादि कारणों के अभाव में ज्ञानियों के नियम से आस्रवों का निरोध होता है और आस्रवभाव के बिना कर्म का निरोध होता है। इसीप्रकार कर्म के अभाव में नोकर्म का एवं नोकर्म के अभाव में संसार का ही निरोध हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि संवर अनंतदु:खरूप संसार का अभाव करनेवाला एवं अनंत सुखस्वरूप मोक्ष का कारण है। संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस ग्रन्थराज में आरंभ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते आ रहे हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के आस्रव के अभावरूप संवर पूर्वक निज भगवान आत्मा का उग्र आश्रय होता है, उसके बल से आत्मा में उत्पन्न शुद्धि की वृद्धिपूर्वक जो कर्म खिरते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं।

शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा।

जिसप्रकार वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानीपुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बंध को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार मदिरा को अरतिभाव से पीनेवाला पुरुष मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्यों के उपभोग के प्रति अरत रहने से बंध को प्राप्त नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को क्रिया करते हुए एवं उसका फल भोगते हुए भी यदि कर्मबंध नहीं होता है और निर्जरा होती है तो उसका कारण उसके अन्दर विद्यमान ज्ञान और वैराग्य का बल ही है। इस बात को निर्जरा अधिकार में बहुत ही विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

परपदार्थ एवं रागभाव में रंचमात्र भी एकत्वबुद्धि नहीं रखनेवाले एवं अपने आत्मा को मात्र ज्ञायकस्वभावी जाननेवाले आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को संबोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं –

''एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।[१८]

हे भव्यप्राणी ! तू इस ज्ञानपद को प्राप्त करके इसमें ही लीन हो जा, इसमें ही निरन्तर सन्तुष्ट रह और इसमें ही पूर्णत: तृप्त हो जा; इससे ही तुझे उत्तम सुख (अतीन्द्रिय-आनन्द) की प्राप्ति होगी।''

इसप्रकार निर्जराधिकार समाप्त कर अब बंधाधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार धूल भरे स्थान में तेल लगाकर विभिन्न शस्त्रों से व्यायाम करनेवाले पुरुष को सचित्त-अचित्त केले आदि वृक्ष को छिन्न-भिन्न करने पर जो धूल चिपटती है, उसका कारण तेल की चिकनाहट ही है, धूल और शारीरिक चेष्टायें नहीं। उसीप्रकार हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि जीव को होनेवाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टायें या कर्मरज आदि नहीं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अकेला अशुद्धोपयोग ही बंध का कारण क्यों है ? परजीवों का घात करना, उन्हें दु:ख देना, उनकी सम्पत्ति आदि का अपहरण करना, झूठ बोलना आदि को बंध का कारण क्यों नहीं कहा गया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि प्रत्येक जीव अपने सुख-दु:ख और जीवन-मरण आदि का उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई अन्य जीव अन्य जीव को सुखी-दु:खी नहीं कर सकता और न मार-जिला ही सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर किसी अन्य के जीवन-मरण और सुख-दु:ख के कारण किसी अन्य को बंध भी क्यों हो ?

सभी जीव अपने आयुकर्म के उदय से जीते हैं और आयुकर्म के समाप्त होने पर मरते हैं। इसीप्रकार सभी जीव अपने कर्मोदय के अनुसार सुखी-दु:खी होते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य के आयु या कर्म को ले-दे नहीं सकता तो फिर उसके जीवन-मरण और सुख-दु:ख का जिम्मेवार भी कैसे हो सकता है ?

हाँ, यह बात अवश्य है कि जीव दूसरों को मारने-बचाने एवं सुखी-दु:खी करने के भाव (अध्यवसान) अवश्य कर सकता है और इन भावों के कारण कर्मबंधन को भी प्राप्त हो सकता है। इसीप्रकार झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने एवं परिग्रह जोड़ने के संदर्भ में भी समझना चाहिए।

जिसप्रकार बंधनों में जकड़ा हुआ पुरुष बंधन का विचार करते रहने से बंधन से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार कर्मबंधन का विचार करते रहने मात्र से कोई आत्मा कर्मबंधन से मुक्त नहीं होता; अपितु वह कर्मबंधन को छेदकर मुक्ति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबंधनों से मुक्त होते हैं।

आत्मा और बंध के बीच प्रज्ञारूपी छैनी को डालकर जो आत्मा उन्हें भिन्न-भिन्न पहिचान लेते हैं; वे बंध को छेदकर शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रज्ञा से बंध से भिन्न निज आत्मा को जानते हैं, उसी प्रज्ञा से बंध से भिन्न निज को ग्रहण भी करते हैं। ज्ञानी आत्मा भलीभाँति जानते हैं कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा ही हूँ, शेष सभी भाव मुझसे भिन्न भाव हैं।

---

१८. समयसार, गाथा २०६

जिसप्रकार लोक में अपराधी व्यक्ति निरन्तर सशंक रहता है और निरपराधी व्यक्ति को पूर्ण निशंकता रहती है; उसीप्रकार आत्मा की आराधना करनेवाले निरपराधी आत्मा को कर्मबंधन की शंका नहीं होती। यह सार है मोक्षाधिकार का।

अब सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं कि – जिसप्रकार आँख परपदार्थों को मात्र देखती ही है, उन्हें करती या भोगती नहीं; उसीप्रकार ज्ञान भी पुण्य-पापरूप अनेक कर्मों को, उनके फल को, उनके बंध को, निर्जरा व मोक्ष को जानता ही है, करता नहीं।

एक द्रव्य को दूसरे पदार्थों का कर्ता-भोक्ता कहना मात्र व्यवहार का ही कथन है, निश्चय से विचार करें तो दो द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्मभाव ही नहीं है।

केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाये तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमित पुद्गल आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तुम हमें जानो' और आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर उन्हें जानने को कहीं नहीं जाता; दोनों अपने-अपने स्वभावानुसार स्वतंत्रता से परिणमित होते हैं। इसप्रकार स्वभाव से आत्मा परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त उदासीन होने पर भी अज्ञान अवस्था में उन्हें अच्छे-बुरे जानकर राग-द्वेष करता है।

शास्त्र में ज्ञान नहीं है; क्योंकि शास्त्र कुछ जानते नहीं हैं, इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य हैं – ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसीप्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल, आकाश एवं अध्यवसान में भी ज्ञान नहीं है; क्योंकि ये सब कुछ जानते नहीं हैं, अत: ज्ञान अन्य है और ये सब अन्य हैं। इसप्रकार सभी परपदार्थों एवं अध्यवसानभावों से भेदविज्ञान कराया गया है।

अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि बहुत से लोग लिंग (भेष) को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु निश्चय से मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसलिए हे भव्यजनो ! अपने आत्मा को आत्मा की आराधनारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्षमार्ग में लगाओ, अपने चित्त को अन्यत्र मत भटकाओ।

अत्यन्त करुणा भरे शब्दो में आचार्य कहते हैं –

''मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहिं तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

हे भव्य ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तदर्थ अपने आत्मा का ही ध्यान कर, आत्मा में ही चेत, आत्मा का ही अनुभव कर और निज आत्मा में ही सदा विहार कर; परद्रव्यों में विहार मत कर।

समयसार शास्त्र का यही सार है, यही शास्त्र तात्पर्य है।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ४१५ गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट के रूप में अनेकांत-स्याद्वाद, उपाय-उपेयभाव एवं ज्ञानमात्रभाव और भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों का बड़ा ही मार्मिक निरूपण करते हैं, जो मूलत: पठनीय है।

इसप्रकार इस ग्रन्थाधिराज समयसार में नवतत्त्वों के माध्यम से मूल प्रयोजनभूत उस शुद्धात्मवस्तु का प्ररूपण है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का बहाना लेकर परमाध्यात्म के प्रतिपादक इस शास्त्र के अध्ययन का निषेध करनेवाले मनीषियों को पण्डित टोडरमलजी के इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए -

''यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है, उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जिसप्रकार मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसीप्रकार सभा में अध्यात्म-उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते तो इसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्मशास्त्रों से कोई स्वच्छन्द हो; सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी, परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होने पर बहुत जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बुरा होता है; इसलिए अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।[१९]''

भव और भव के भाव का अभाव करने में सम्पूर्णत: समर्थ इस ग्रन्थाधिराज का प्रकाशन, वितरण, पठन-पाठन निरन्तर होता रहे और सबके साथ में मैं भी इसके मूल प्रतिपाद्य समयसारभूत निजात्मा में ही एकत्व स्थापित कर तल्लीन हो जाऊँ अथवा मेरा यह नश्वर जीवन भी इसी के अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा रहस्योद्घाटन में ही अविराम लगा रहे - इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

---

१९. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२९२

●●●

पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

- सार समयसार, पृष्ठ-४-

विषयानुक्रमणिका

१. पूर्वरंग	**३**
(गाथा १ से गाथा ३८ तक)	
२. जीवाजीवाधिकार	**८७**
(गाथा ३९ से गाथा ६८ तक)	
३. कर्ताकर्माधिकार	**१२८**
(गाथा ६९ से गाथा १४४ तक)	
४. पुण्यपापाधिकार	**२२६**
(गाथा १४५ से गाथा १६३ तक)	
५. आस्रवाधिकार	**२५०**
(गाथा १६४ से गाथा १८० तक)	
६. संवराधिकार	**२७१**
(गाथा १८१ से गाथा १९२ तक)	
७. निर्जराधिकार	**२९१**
(गाथा १९३ से गाथा २३६ तक)	
८. बन्धाधिकार	**३४७**
(गाथा २३७ से गाथा २८७ तक)	
९. मोक्षाधिकार	**३९६**
(गाथा २८८ से गाथा ३०७ तक)	
१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	**४२५**
(गाथा ३०८ से गाथा ४१५ तक)	
११. परिशिष्ट	**५५१**
(क) स्याद्वादाधिकार	**५५२**
(ख) सैंतालीस शक्तियाँ	**५७१**
(ग) उपयोपेयाधिकार	**६०६**

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति संस्कृत टीका

एवं

डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका

सहित

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

समयसार

मंगलाचरण

(दोहा)

समयसार को साधकर, बने सिद्ध भगवान ।
अनंत चतुष्टय के धनी, श्री अरिहंत महान ।।१।।
आचारज पाठक मुनी, प्रमत्त और अप्रमत्त ।
गुण में नित विचरण करें, नमन करूँ मैं नित्य ।।२।।
ज्ञायकभाव प्रकाशिनी, भाषी श्री भगवन्त ।
परमतत्त्व प्रतिपादिनी, जिनवाणी जयवंत ।।३।।

(अडिल्ल छन्द)

साधकगण का एकमात्र है साध्य जो ।
मुक्तिमार्ग का एकमात्र आराध्य जो ।।
उसमें ही मन रमे निरन्तर रात-दिन ।
परमसत्य शिव सुन्दर ज्ञायकभाव जो ।।४।।

(रोला छन्द)

केवल ज्ञायकभाव जो बद्धाबद्ध नहीं है।
जो प्रमत्त–अप्रमत्त न शुद्धाशुद्ध नहीं है ।।
नय–प्रमाण के जिसमें भेद–प्रभेद नहीं हैं।
जिसमें दर्शन–ज्ञान–चरित के भेद नहीं हैं ।।५।।

जिसमें अपनापन ही दर्शन–ज्ञान कहा है।
सम्यक्चारित्र जिसका निश्चल ध्यान कहा है।।
वह एकत्व–विभक्त शुद्ध आतम परमातम।
अज अनादि मध्यान्त रहित ज्ञायक शुद्धातम ।।६।।

गुण भेदों से भिन्न सार है समयसार का।
पर्यायों से पार सार है समयसार का ।।
मुक्तिवधू का प्यार सार है समयसार का।
एकमात्र आधार सार है समयसार का ।।७।।

शुद्धभाव से बलि–बलि जाऊँ समयसार पर।
जीवन का सर्वस्व समर्पण समयसार पर ।।
समयसार की विषयवस्तु में नित्य रमे मन।
समयसार के ज्ञान–ध्यान में बीते जीवन ।।८।।

शुद्धभाव से करूँ विरेचन पुण्य–पाप का।
शुद्धभाव से करूँ विवेचन समयसार का ।।
समयसार की टीका ज्ञायकभावप्रबोधिनि।
भक्तिभाव से लिखने का संकल्प किया है ।।९।।

आत्मख्याति टीका है जैसी गद्य–पद्य में।
वैसी ही यह टीका होगी गद्य–पद्य में ।।
समयसार अर आत्मख्याति को सभी जनों तक।
पहुँचाने के लिए लिख रहा जनभाषा में ।।१०।।

●●●

पूर्वरंग

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ।।१ ।।

मंगलाचरण

(दोहा)

देहादिक से भिन्न जो, पर्यायों से पार।
ज्ञानस्वभावी आतमा, दे आनंद अपार ।।

भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार जिनागम का अजोड़ रत्न है, सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र इसे जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु कहते हैं और कहते हैं कि जगत में इससे महान और कुछ भी नहीं है। **'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयम्'**[१], **'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति'**[२] – आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त सूक्तियाँ समयसार की महिमा बताने के लिए पर्याप्त हैं।

समयसार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं कि जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है; वह आत्मा उत्तम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है।

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छिपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के मंगलाचरण का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप।
सकलज्ञेय-ज्ञायक नमौं, समयसार सद्रूप ।।१।।

स्वानुभूति से प्रकाशित, चैतन्यस्वभावी, सर्वपदार्थों को जाननेवाले सत्तास्वरूप समयसार को नमस्कार हो।

यहाँ जिस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को नमस्कार किया गया है, उसे चार विशेषणों से समझाया गया है –

(१) भावाय (२) चित्स्वभावाय (३) सर्वभावान्तरच्छिदे एवं (४) स्वानुभूत्या चकासते।

उक्त चार विशेषणों से समयसार के द्रव्य, गुण और पर्याय स्वभाव को समझाया गया है। 'भाव' कहकर द्रव्य, 'चित्स्वभाव' कहकर गुण और 'सर्वभावान्तरच्छिदे' तथा 'स्वानुभूत्या चकासते' कहकर पर्यायस्वभाव को स्पष्ट किया गया है; क्योंकि मोह के नाश का उपाय द्रव्य-गुण-पर्याय से निज भगवान आत्मा को जानना ही है।

---

१. आत्मख्याति टीका, कलश २४५ २. आत्मख्याति टीका, कलश २४४

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।२।।

यहाँ जिस समयसाररूप भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है, वह सर्वज्ञपर्याय सहित भगवान आत्मा की बात नहीं है, अपितु सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात है।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि मैं उस समयसाररूप शुद्धात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो सत्तास्वरूप है, चैतन्यस्वभावी है, सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञत्वादि शक्तियों से सम्पन्न है और स्वानुभूति द्वारा प्रकाशित होता है।

इसप्रकार देवाधिदेव के रूप में समयसाररूप भगवान आत्मा का स्मरण कर आचार्य अमृतचन्द्र अब 'अनेकान्तमयी जिनवाणी नित्य प्रकाशित रहे, भव्यजीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाती रहे' – ऐसी मंगल कामना करते हुए दूसरा कलश लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ।।२।।

पर-पदार्थों, उनके गुण-पर्यायरूप भावों एवं पर-पदार्थों के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार अनन्तधर्मात्मक निज आत्मतत्त्व को देखनेवाली, जानने-वाली, प्रकाशित करनेवाली, अनेकान्तमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशित रहे, जयवंत वर्ते।

सर्व परवस्तुओं से भिन्न, नैमित्तिक परभावों से भिन्न व अपने ही स्वरूप में तन्मय आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है। यहाँ अनेकान्तमयी सरस्वती को उक्त प्रत्यगात्मा की प्रतिपादक कहा गया है और उसके नित्य प्रकाशित रहने की कामना की गई है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मारूप निज भगवान आत्मा की चर्चा-वार्ता, उसके स्वरूप का प्रतिपादन निरन्तर होते रहना चाहिए; क्योंकि इस प्रत्यगात्मा के स्वरूप की देशना ही आत्मार्थी जीवों को मुक्तिमार्ग में लगाने में निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में देशनालब्धि का होना भी अनिवार्य है। उस देशनालब्धि का साधन सदा उपलब्ध रहे – इस आशीर्वादरूप जिनवाणी की वंदना में यही भावना व्यक्त हुई है।

वैसे तो विद्यमान बीस तीर्थंकरों के माध्यम से अढ़ाई द्वीप में निरन्तर ही इसप्रकार की देशना उपलब्ध रहती है, अत: अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य प्रकाशित ही है; तथापि हम-तुम जैसे भव्यजीवों को भी प्रत्यगात्मा का उपदेश निरन्तर प्राप्त होता रहे, वह प्रत्यगात्मा हमारे ज्ञान का ज्ञेय निरन्तर बना रहे – आचार्यदेव ने हम सबको यही मंगल-आशीर्वाद दिया है।

वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की शुद्धात्मा की प्रतिपादक वीतरागवाणी हम सभी को निरन्तर प्राप्त होती रहे – इस मंगल कामना के बाद अब आचार्य अमृतचन्द्र इस आत्मख्याति टीका के प्रणयन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कलश लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।।३।।

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से।।
परमविशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से।।३।।

यद्यपि मैं तो शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति भगवान आत्मा हूँ; तथापि परपरिणति का मूल कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके उदय का निमित्त पाकर मेरी परिणति वर्तमान में मैली हो रही है, कल्माषित हो रही है। समयसार की इस आत्मख्याति नामक व्याख्या से, टीका से मेरी वह परिणति परमविशुद्धि को प्राप्त हो – यही मेरी मंगल भावना है।

आचार्यदेव की परिणति तीन कषाय का अभाव होने से विशुद्ध तो है ही, पर अभी ऐसी परमविशुद्धि नहीं है कि जिसके फल में केवलज्ञान की प्राप्ति हो; अभी संज्वलन कषाय संबंधी मलिनता विद्यमान है।

यही कारण है कि वे विशुद्धि की नहीं, परमविशुद्धि की कामना करते हैं। अन्य किसी भी प्रकार की लौकिक कामना आचार्यदेव के हृदय में नहीं है, जिसकी प्रेरणा से वे यह टीका लिखने को उद्यत हुए हों। उनकी तो एकमात्र यही कामना है कि जब उनका उपयोग शुभभाव में रहे, तब वे एकमात्र समयसार की विषयवस्तु का ही चिन्तन-मनन करते रहें।

इस छन्द में प्रकारान्तर से आचार्यदेव ने समयसार की व्याख्या लिखने का संकल्प भी व्यक्त किया है, प्रतिज्ञा भी की है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मेरा अपनापन तो अन्तर में विराजमान शुद्धतत्त्व में ही है। इसीलिए वे जोर देकर कहते हैं कि मैं तो शुद्धचैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, मुझमें तो कुछ विकृति है ही नहीं। हाँ, पर्याय में पर्यायगत योग्यता के कारण एवं मोहोदय के निमित्त से कुछ मलिनता है; वह भी इस समयसार की व्याख्या से समाप्त हो जावे; क्योंकि व्याख्या के काल में मेरा जोर तो त्रिकाली स्वभाव पर ही रहना है।

आचार्यदेव के हृदय में कोई पापभावरूप मलिनता तो है नहीं; यही टीका लिखने, उपदेश देने आदि शुभभावरूप मलिनता ही है और वे उसका ही नाश चाहते हैं तथा वे अच्छी तरह जानते हैं कि टीका करने के भाव से, टीका करने के भावरूप मलिनता समाप्त नहीं होगी; पर वे यह भी जानते हैं कि अन्तर में तीन कषाय के अभावरूप निर्मलता है, मिथ्यात्व के अभाव से पर में से अपनापन टूट गया है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही अपनापन आ गया है; उसके बल से, आत्मा की रुचि की तीव्रता से, निश्चित ही इस विकल्प का भी नाश होगा और उपयोग शुद्धोपयोग में चला जायेगा।

अथ सूत्रावतार: –

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।।१।।

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम्।।१।।

दूसरे कलश में उन्होंने यह भावना व्यक्त की थी कि इस जिनवाणी का प्रवाह निरन्तर चलता रहे, जिनवाणी नित्य ही प्रकाशित रहे। यह भावना तो उत्तम है, पर शुद्धोपयोगरूप तो नहीं है। बस, आचार्यदेव को तो यही मलिनता भासित होती है और मानो उसके नाश के लिए शुद्धात्मा के जोरवाले शास्त्र की टीका लिखने का भाव उन्हें आया है।

प्रकारान्तर से आचार्यदेव यह भी बताना चाहते हैं कि समयसार का पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना; उसकी टीका करना, गहराई से अध्ययन करना, मनन करना; उसकी विषयवस्तु का परिचय प्राप्त करना, घोलन करना परमविशुद्धि का कारण है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश के माध्यम से स्वयं की वर्तमान पर्याय की स्थिति का ज्ञान भी कराना चाहते हैं और जिनवाणी के अध्ययन-मनन करने की, स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी देना चाहते हैं।

अत: मानो वे कह रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम इसका अध्ययन करो, मनन करो, पठन-पाठन करो, इसकी विषयवस्तु को जन-जन तक पहुँचाओ; तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

आत्मख्याति के मंगलाचरण के बाद अब आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की मूल गाथाएँ आरम्भ होती हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण की गाथा है। उसकी उत्थानिका लिखते हुए आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि '**अब सूत्र का अवतार होता है।**' आचार्य अमृतचन्द्र के हृदय में समयसार की कितनी महिमा है – यह बात उनके इस कथन में झलकती है।

लोक में 'अवतार' शब्द बहुत महिमावंत है। यह शब्द लोककल्याण के लिए भगवान के अवतरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ समयसार की मूल गाथाओं के लिए उक्त शब्द का प्रयोग करके आचार्य अमृतचन्द्र उन गाथाओं के लोककल्याणकारी स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते हैं।

तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द की इन गाथाओं में लोक के परमकल्याण की बात ही आनेवाली है।

समयसार के मंगलाचरण की मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-पर हित।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित।।१।।

मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हुए सभी सिद्धों को नमस्कार कर श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा।

अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादिभावांतरपरपरिवृत्तिविश्रांति-वशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवत: सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मन: प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्त-वाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारि-केवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभि: स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समय-प्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।।१।।

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों द्वारा कथित समयसार नामक ग्रंथाधिराज बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''यह पंचमगति (सिद्धदशा) स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुई होने से ध्रुव है, अनादि-कालीन परिभ्रमण का अभाव हो जाने से अचल है और उपमा देने योग्य जगत के सम्पूर्ण पदार्थों से विलक्षण होने एवं अद्भुत महिमा की धारक होने से अनुपम है।

धर्म, अर्थ और काम – इस त्रिवर्ग से भिन्न होने के कारण अपवर्ग है नाम जिसका, ऐसी पंचमगति को प्राप्त सर्वसिद्धों को; जो मेरे आत्मा की साध्यदशा के स्थान पर हैं अर्थात् जैसा मुझे बनना है, जो मेरा आदर्श है, उसके स्थान पर हैं; उन सर्वसिद्धों को भावस्तुति और द्रव्य-स्तुति के माध्यम से अपने और पर के आत्मा में स्थापित करके; सर्वपदार्थों को साक्षात् जाननेवाले केवलियों द्वारा प्रणीत, अनादिनिधन श्रुत द्वारा प्रकाशित, स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियों द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त; सर्वपदार्थों या शुद्धात्मा का प्रकाशक एवं अरहन्त भगवान के प्रवचनों का अवयव है जो – ऐसे इस समयसार नामक ग्रन्थ का अपने और पराये अनादिकालीन मोह के नाश के लिए भाववचन और द्रव्यवचन के माध्यम से परिभाषण आरम्भ किया जाता है।''

चारों ही गतियाँ पर-पदार्थों के अवलम्बन से उत्पन्न होती हैं, इसकारण अध्रुव हैं, विनाशीक हैं; पर पंचमगति सिद्धदशा स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है; अत: ध्रुव है, अविनाशी है, सदा एक-सी रहनेवाली है।

यद्यपि परिवर्तन तो सिद्धदशा में भी होता है, पर वह परिवर्तन सदा एक-सा ही होता है, सुखरूप ही होता है; इसकारण इसे ध्रुव कहा है। सदा एकरूप ही रहनेवाले ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होने के कारण सिद्धदशा सदा एक-से आनन्दरूप ही रहती है, शान्तिरूप ही रहती है। पर अनेक रूप धारण करनेवाले परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण चारों गतियों रूप संसारदशा सांसारिक दु:ख-सुखरूप होती रहती है, बदलती रहती है। सांसारिक सुख भी दु:खरूप ही है तथा दु:खों का रूप भी बदलता रहता है। इसकारण संसारदशा अध्रुव है, चारों गतियाँ अध्रुव हैं।

ध्रुवस्वभाव अलग है और ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय अलग है। ध्रुवस्वभाव तो सदा एकरूप ही रहता है; परन्तु ध्रुवस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय

सदा एकरूप नहीं रहती, किन्तु एक-सी रहती है। स्वभाव की ध्रुवता 'एकरूप' रहना है और पर्याय की ध्रुवता एक-सी रहना है। यहाँ पर्याय की ध्रुवता की बात है।

त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को अनुभूतिपूर्वक जानना, निज जानना और उसमें ही अपनापन स्थापित होना, उसका ही ध्यान करना, उसमें ही लीन हो जाना ही ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन है, आश्रय है। इसप्रकार के अवलम्बन से ही ध्रुवपर्याय प्रगट होती है, सिद्धदशा प्रगट होती है।

अनादिकाल से इस आत्मा ने निज भगवान आत्मा को तो कभी जाना ही नहीं; मात्र पर-पदार्थों, उनके भावों और उनके निमित्त से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विकारी पर्यायों को ही जाना-माना है, उनमें ही अपनापन स्थापित किया है और उनका ही ध्यान किया है तथा यह आत्मा उनमें ही रचा-पचा रहा है।

बस, यही पर का अवलम्बन है, पर का आश्रय है और इससे ही अनन्त दु:ख है। पंचमगति में पर का अवलम्बन छूट गया है, एकमात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का अवलम्बन रह गया है; यही कारण है कि सिद्धदशा सुखमयदशा है, शान्तिमयदशा है, ध्रुवदशा है।

अनादिकाल से यह भगवान आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। परभावों के निमित्त से होनेवाले इस परिभ्रमण के रुक जाने से पंचमगति अचलता को प्राप्त हो गई है।

चारों ही गतियाँ दु:खमय हैं और यह पंचमगति सुखमय है। जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिससे इसकी उपमा दी जा सके; क्योंकि जगत में जितने भी पदार्थ उपमा देने योग्य हैं, यह पंचमगति उन सबसे विलक्षण है, अद्भुत महिमावाली है; इसीकारण इसे अनुपम कहा गया है।

ध्रुव विशेषण से विनाशीकपने का, अचल विशेषण से परिभ्रमण का एवं अनुपम विशेषण से चारों गतियों में पाई जानेवाली कथंचित् समानता का निषेध - व्यवच्छेद इस पंचमगति में हो गया।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अचल के स्थान पर पाठान्तर के रूप में अमल पद भी दिया है और अचल पद के साथ-साथ अमल पद की भी व्याख्या दी है, जो इसप्रकार है -

''भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मरूपी मल से रहित एवं शुद्धभाव सहित होने से पंचमगति अमल है।''

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में से धर्म, अर्थ और काम - इनको त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों से भिन्न होने से, विलक्षण होने से मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। इस अविनाशी, अविचल, अमल, अनुपम और अपवर्ग गति को प्राप्त सभी सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार कर आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस समयप्राभृत शास्त्र को रचने की प्रतिज्ञा करते हैं।

यहाँ उन्हीं सिद्ध भगवान को द्रव्य व भावस्तुति के माध्यम से स्वयं के व पाठकों के आत्मा में स्थापित करके इस समयसार ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

सभी मुनिराज प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में आत्मा का अनुभव करते हैं, शुद्धोपयोग में जाते हैं। उनका यह शुद्धोपयोग ही भावस्तुति है और इस गाथा में जो शब्दों से नमस्कार किया गया है, वह द्रव्यस्तुति है।

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते –

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।२।।

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्।।२।।

'सिद्ध-समान सदा पद मेरो' की सूक्ति के अनुसार सभी आत्मा सिद्ध-समान तो हैं ही और प्रत्येक आत्मार्थी का अन्तिम साध्य भी सिद्धदशा ही है। यही कारण है कि इस परम मंगलमय प्रसंग पर वे अपने और पाठकों के आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके इस महान कार्य का आरम्भ करते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ भी कहनेवाला नहीं हूँ। इस समयसार में मैं जो कुछ भी कहूँगा, वह सब वस्तुस्वरूप के अनुरूप तो होगा ही; सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि के अनुसार भी होगा, गणधरदेव रचित द्वादशांग के अनुसार भी होगा तथा शुद्धात्मा और सम्पूर्ण पदार्थों के सही स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ही होगा।

यह काम मैं स्व-पर के कल्याण के लिए ही कर रहा हूँ। वह स्व-पर का कल्याण भी कोई लौकिक प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला नहीं है अर्थात् अनादिकालीन मोह के नाश के लिए ही यह उपक्रम है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने मंगलाचरण के तीसरे छन्द में इस ग्रन्थ की टीका करने से अपने चित्त की परमविशुद्धि की कामना ही की है। वही बात वे यहाँ टीका में आचार्य कुन्दकुन्द की ओर से कह रहे हैं।

भाई ! देखो तो आचार्यदेव कह रहे हैं कि यह शास्त्र अरहंत भगवान के प्रवचनों का अवयव है, भगवान की दिव्यध्वनि का अंश है। यह कोई साधारण पुस्तक नहीं है, यह तो केवली भगवान की वाणी का अवयव है, अंश है। अतः इसे केवली भगवान की वाणी के समान आदर देकर ही पढ़ना चाहिए। जब ऐसा करोगे, तभी इसके स्वाध्याय से पूरा लाभ प्राप्त होगा।

इसप्रकार इस पहली गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल, अमल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों की वंदना कर केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित समयसार नामक ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रथम गाथा में समयप्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की गई है, समयसार लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समय क्या है ?

इसलिए अब आचार्यदेव सर्वप्रथम समय का स्वरूप ही स्पष्ट करते हैं –

(हरिगीत)

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्वसमय।
जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय।।२।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में स्थित हैं; उन्हें स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित हैं; उन्हें परसमय जानो।

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः।

समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति।

यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपा–

स्वभाव में स्थित जीव स्वसमय है और परभाव में स्थित जीव परसमय है। स्वसमय और परसमय दोनों अवस्थाओं में व्यापक प्रत्यगात्मा समय है।

समय शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय्' धातु से बना है। 'अय्' का अर्थ गमन भी होता है और ज्ञान भी होता है। 'सम्' का अर्थ 'एकसाथ' होता है। इसप्रकार जिस वस्तु में एक ही काल में जानना और परिणमन करना – ये दोनों क्रियायें पाई जावें, वह ही समय है। चूँकि जीव प्रतिसमय जानता भी है और परिणमन भी करता है; अतः जीव नामक पदार्थ ही समय है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''वह समय नामक जीव पदार्थ परिणमनशील होने से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणवाली सत्ता से युक्त है; चैतन्यस्वभावी होने से नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शन–ज्ञान ज्योतिस्वरूप है; अनन्तधर्मों के अधिष्ठातारूप एकधर्मी होने से जिसका द्रव्यत्व प्रगट है; क्रम और अक्रम से प्रवृत्त होनेवाले विचित्र स्वभाव को धारण करनेवाला होने से जो गुण–पर्यायवाला है। स्व–पर के प्रकाशन में समर्थ होने से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली एकरूपता प्राप्त की है जिसने; अन्यद्रव्यों के जो विशेष गुण हैं, ऐसे अवगाहनहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व के अभाव से एवं असाधारण चैतन्यरूप के सद्भाव से आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इन पाँचों द्रव्यों से जो अत्यन्त भिन्न है; वह जीव नामक पदार्थ अनन्त अन्यद्रव्यों से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप से संबंधित होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने के कारण टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। ऐसा जीव नामक पदार्थ ही समय है।

जब यह समय (जीव) सब पदार्थों का प्रकाशन करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदविज्ञानज्योति के उदय होने से सभी परद्रव्यों से अपनापन तोड़कर, अपने दर्शन–ज्ञानस्वभाव में है नियतवृत्ति जिसकी, ऐसे आत्मतत्त्व में एकाकार होकर प्रवृत्ति करता है; तब दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ स्वसमय कहलाता है।

जब यह समय (जीव) अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गाँठ के समान परिपुष्ट मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की अधीनता से दर्शन–ज्ञानस्वभाव में नियतवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से अपनापन

दात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेश-स्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्य-मुद्भावति।।२।।

तोड़कर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है, तब पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने से युगपत् ही पर में एकाकार होकर जानता और परिणमता हुआ परसमय कहलाता है।

इसप्रकार इस समय (जीव) की स्वसमय और परसमय - यह द्विविधता (दोपना) प्रगट होती है।''

यहाँ समय का स्वरूप सात विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। वह समय नामक जीव पदार्थ -

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत्ता सहित है।
(२) ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यस्वभावी है।
(३) अनन्तधर्मात्मक एक अखण्ड द्रव्य है।
(४) अक्रमवर्ती गुणों एवं क्रमवर्ती पर्यायों से युक्त है।
(५) स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य से युक्त होने से अनेकाकार होने पर भी एकरूप है।
(६) अपने असाधारण चैतन्यस्वभाव के सद्भाव एवं परद्रव्यों के विशेष गुणों के अभाव के कारण परद्रव्यों से भिन्न है।
(७) परद्रव्यों से एक क्षेत्रावगाहरूप से अत्यन्त मिला हुआ होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होने के कारण टंकोत्कीर्ण चित्स्वभावी है।

यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ परद्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों से अत्यन्त भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वभावी, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से सहित, गुण-पर्यायवान, स्व-परप्रकाशक, अनन्तधर्मात्मक, टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य है।

यहाँ प्रमाण के विषयभूत जीवद्रव्य को लिया गया है; द्रव्यार्थिकनय के विषय या दृष्टि के विषयरूप जीवतत्त्व को नहीं। उसकी चर्चा तो छठवीं-सातवीं एवं चौदहवीं-पन्द्रहवीं गाथा में आयेगी।

यहाँ जो जीवद्रव्य के विशेषण दिये गये हैं, उनसे जैनदर्शन में मान्य जीव का स्वरूप स्पष्ट होता है और अन्य कथित मान्यताओं का निराकरण भी होता है।

स्वसमय और परसमय - ये दो भेद समय के हैं, समयसार के नहीं। तात्पर्य यह है कि गुण-पर्यायवान जीवद्रव्य ही स्वसमय और परसमय में विभक्त होता है, विभाजित होता है; समयसाररूप शुद्धात्मा तो अविभक्त है, उसके तो कोई भेद होते ही नहीं हैं। स्वसमय और परसमय के भेद पर्याय की ओर से किये गये भेद ही हैं; अत: ये भेद पर्याय सहित आत्मा के ही हो सकते हैं।

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि वास्तविक धर्मपरिणत आत्मा ही धर्मात्मा है, स्वसमय है और धर्मपरिणति से विहीन मोह-राग-द्वेषरूप परिणत आत्मा ही अधर्मात्मा है, परसमय है।

स्वसमय उपादेय है, परसमय हेय है, समय ज्ञेय है और समयसार ध्येय है। समयसाररूप ध्येय के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से यह समय स्वसमय बनता है और समयसार के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान

अथैतद्बाध्यते –

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।३।।

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति।।३।।

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनाऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बंतोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते, प्रकारांतरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।

के अभाव में मोह-राग-द्वेषरूप परिणत होकर परसमय बनता है। अतः समयसाररूप शुद्धात्मा को समझकर उसमें अपनापन स्थापित करना, उसका ही ध्यान करना परम कर्तव्य है।

दूसरी गाथा में समय की द्विविधता बताई गई थी; पर यह द्विविधता शोभनीय नहीं है, शोभास्पद तो एकत्व ही है। इस बात को तीसरी गाथा में स्पष्ट करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में।।३।।

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सर्वत्र ही सुन्दर है। इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद पैदा करनेवाली है।

प्रत्येक पदार्थ अपने में ही शोभा पाता है। पर के साथ बंध की कथा, मिलावट की बात विसंवाद पैदा करनेवाली है; अतः यदि विसंवाद से बचना है तो एकत्व को ही अपनाना श्रेयस्कर है।

आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

''यहाँ समय शब्द से सामान्यतः सभी पदार्थ कहे जाते हैं; क्योंकि जो एकीभाव से स्वयं के गुण-पर्यायों को प्राप्त हो, उसे समय कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव; लोक के ये सभी पदार्थ समय शब्द से अभिहित किये जाते हैं और एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से सुन्दरता को पाते हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब अकेले ही शोभास्पद होते हैं; क्योंकि अन्यप्रकार से उसमें सर्वसंकरादि दोष आ जायेंगे।

वे सभी पदार्थ अपने-अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं; तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। पररूप परिणमन न करने से उनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती; इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भाँति सदा स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य व अविरुद्ध कार्य की हेतुता से विश्व को सदा टिकाये रखते हैं, विश्व का उपकार करते हैं।

एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्ति:। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम्। अत: समयस्यैकत्व-मेवावतिष्ठते।।३।।

इसप्रकार सर्वपदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व प्रतिष्ठित हो जाने पर, एकत्व सिद्ध हो जाने पर जीव नामक समय को बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है। तात्पर्य यह है कि जब सभी पदार्थ परस्पर भिन्न ही हैं तो फिर यह बंधन की बात जीव के साथ ही क्यों ?

जब बंध की बात ही नहीं टिकती तो फिर बंध के आधार पर कहा गया पुद्गल प्रदेशों में स्थित होना भी कैसे टिकेगा ? तथा उसके आधार पर होनेवाला परसमयपना भी नहीं टिक सकता। जब परसमयपना नहीं रहेगा तो फिर उसके आधार पर किया गया स्वसमय-परसमय का विभाग भी कैसे टिकेगा ? जब यह विभाग ही नहीं रहा तो फिर समय (जीव) के एकत्व होना ही सिद्ध हुआ और यही श्रेयस्कर भी है।''

देखो, दूसरी गाथा में 'समय' शब्द का अर्थ जीवद्रव्य लिया था और यहाँ छहों द्रव्य लिया जा रहा है। वहाँ जो एक ही समय में गमन भी करे और ज्ञान भी करे, उसे समय कहते हैं - इस व्याख्या के अनुसार 'समय' शब्द का अर्थ जीव किया था और यहाँ जो अपने गुणों-पर्यायों को प्राप्त हो, उसे समय कहते हैं - इस व्याख्या के अनुसार 'समय' शब्द का अर्थ छहों द्रव्य लिया है।

दूसरी गाथा में समय का द्विविधपना बताया था और यहाँ उसका निषेध किया जा रहा है, उसमें बाधा उपस्थित की जा रही है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जब प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न ही हैं, अपने-अपने में ही रहते हैं, कोई किसी को छूता भी नहीं है तो फिर आत्मा का पुद्गल के प्रदेशों में स्थित होना कैसे संभव है?

इस बंध की कथा में ही विसंवाद है अथवा यह बंध की कथा ही विसंवाद पैदा करनेवाली है। जब दो द्रव्य परस्पर मिलते ही नहीं तो बँधने की बात में दम ही क्या है ?

जब आत्मा बँधा ही नहीं है तो उसके परसमयपना ही नहीं ठहरता है। जब परसमयपना ही नहीं है तो फिर स्वसमय कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वसमय तो परसमय की अपेक्षा कहा जाता है।

अत: समय तो समय है; वह न स्वसमय है, न परसमय है। इस बंध की कथा ने ही ऐसे दो भेद किये हैं; अत: यह बंधकथा ही विसंवाद पैदा करनेवाली है, दुविधा पैदा करनेवाली है।

यदि विसंवाद मिटाना है तो बंध की बात ही मत करो, एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा ही श्रेष्ठ है। बंध की कथा विसंवाद पैदा करनेवाली और एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा विसंवाद मिटानेवाली है।

अब इस चौथी गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि काम, भोग एवं बंध की कथा तो सभी को सुलभ है; पर उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की बात सभी को सहज सुलभ नहीं है, अपितु अत्यन्त दुर्लभ है।

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य।।४।।

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकाल–भवभावपरावर्त्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्ध–

(हरिगीत)

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना।।४।।

काम, भोग और बंध की कथा तो सम्पूर्ण लोक ने खूब सुनी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है और उनका अनुभव भी किया है; अतः वह तो सर्वसुलभ ही है; परन्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न भगवान आत्मा की कथा न कभी सुनी है, न उसका कभी परिचय प्राप्त किया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है; अतः वह सुलभ नहीं है।

यही कारण है कि आचार्यदेव उस असुलभ कथा को इस समयसार ग्रन्थाधिराज के माध्यम से सुलभ कराना चाहते हैं।

यद्यपि लोक में काम और भोग शब्द लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तथापि आचार्य जयसेन उक्त अर्थ को स्वीकार करते हुए भी अथवा कहकर 'काम' शब्द का अर्थ स्पर्शन और रसना इन्द्रिय का विषय करते हैं और 'भोग' शब्द का अर्थ घ्राण, चक्षु एवं कर्ण इन्द्रिय का विषय करते हैं।

इसप्रकार काम–भोगकथा का अर्थ पंचेन्द्रिय विषयों की कथा हो जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में इसका भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''यद्यपि यह कामभोग सम्बन्धी (कामभोगानुबद्धा) कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यंत विसंवाद करानेवाली है; तथापि समस्त जीवलोक ने इसे अनन्तबार सुना है, अनन्तबार इसका परिचय प्राप्त किया है और अनन्तबार इसका अनुभव भी किया है।

संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त पंचपरावर्तन से भ्रमण को प्राप्त; अपने एकछत्र राज्य से समस्त विश्व को वशीभूत करनेवाला महामोहरूपी भूत जिसे बैल की भाँति जोतता है, भार वहन कराता है; अत्यन्त वेगवान तृष्णारूपी रोग के दाह में संतप्त एवं आकुलित होकर जिसप्रकार मृग मृगजल के वशीभूत होकर जंगल में भटकता है; उसीप्रकार पंचेन्द्रियों के विषयों से घिरा हुआ है या पंचेन्द्रियों के विषयों को घेर रखा है जिसने; ऐसा यह जीवलोक इस विषय में परस्पर आचार्यत्व भी करता है, एक–दूसरे को समझाता है, सिखाता है, प्रेरणा देता है। यही कारण है कि काम–भोग–बंधकथा सबको सुलभ है।

त्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयांत:प्रकाशमानमपि कषाय-चक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोक-विविक्तं केवलमेकत्वम्। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम्।।४।।

किन्तु निर्मल भेदज्ञानज्योति से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला आत्मा का एकत्व अथवा एकत्व-विभक्त आत्मा यद्यपि अंतरंग में प्रगटरूप से प्रकाशमान है; तथापि कषाय-चक्र के साथ एकरूप किये जाने से अत्यन्त तिरोभूत हो रहा है।

जगत के जीव एक तो अपने को जानते नहीं हैं और जो आत्मा को जानते हैं, उनकी सेवा नहीं करते हैं, उनकी संगति में नहीं रहते हैं। इसकारण इस एकत्व-विभक्त आत्मा की बात जगत के जीवों ने न तो कभी सुनी है और न कभी इसका परिचय प्राप्त किया है और न कभी यह आत्मा जगत के जीवों के अनुभव में ही आया है; यही कारण है कि भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।''

अनादिकाल से यह आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख मानता हुआ उन्हीं के संग्रह और भोगने में मग्न है। पुण्योदय से या कालक्रमानुसार मनुष्य पर्याय पाकर भी अनादि अभ्यास के कारण यह पंचेन्द्रियों के विषयों को ही जोड़ने और भोगने में लगा रहता है। धर्म के नाम पर भी जिन भावों से पुण्य-पाप बँधता है, उन भावों का ही विचार करता है, चर्चा-वार्ता करता है, गुणस्थानादि की चर्चा करके या कुछ बाह्याचार पालकर अपने को धर्मात्मा मान लेता है।

धर्म के नाम पर भी कर्मबंध की ही चर्चा करता है, पर और रागादि से भिन्न निज भगवान आत्मा का विचार ही नहीं करता है। कर्म से बँधने की बात तो बहुत दूर, कर्म ने तो आत्मा को आज तक छुआ ही नहीं - यह बात आजतक इसके कान में ही नहीं पड़ी है; पड़ी भी हो तो इसने उस पर ध्यान ही नहीं दिया है, विचार ही नहीं किया है।

एक तो एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के बारे में स्वयं कुछ जानता नहीं है; दूसरे जो ज्ञानी धर्मात्मा-जन भगवान आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं; उनकी सेवा नहीं करता, उनका समागम नहीं करता, उनसे कुछ सीखने-समझने की कोशिश नहीं करता; यदि आगे होकर भी वे कुछ सुनायें, समझायें तो यह उनकी बात पर ध्यान ही नहीं देता; इसलिए अनन्तकाल से संसार में भटक रहा है।

यहाँ आचार्यदेव ज्ञानियों के सत्समागम की प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि भाई ! तू ज्ञानियों की सेवा कर, उनकी बात पर ध्यान दे। तुझे पता नहीं है कि भगवान आत्मा को नहीं पहिचानने से तेरी कैसी दुर्दशा हो रही है ?

अज्ञानी की दुर्दशा का चित्र खींचते हुए टीका में कहा गया है कि यह लोक संसाररूपी चक्की के पाटों के बीच अनाज के दानों के समान पिस रहा है, मोहरूपी भूत इसे पशुओं की भाँति जोत रहा है, तृष्णारूपी रोग से यह जल रहा है, विषय-भोग की मृगतृष्णा में फँसकर मृग की भाँति भटक रहा है। आश्चर्य तो यह है कि पंचेन्द्रिय विषयों में उलझा हुआ, फँसा हुआ यह अज्ञानी लोक परस्पर आचार्यत्व भी करता है।

अत एवैतदुपदर्श्यते –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।५।।

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ।।५।।

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुष-युक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो

लोग विषय-कषाय की चतुराई एक-दूसरे को बताते हैं, सिखाते हैं। पैसा कैसे कमाना, उसे कैसे भोगना – आदि बातें जगत को बताते हैं, उन्हीं कार्यों को करने की प्रेरणा भी देते हैं।

अब इस पाँचवीं गाथा में आचार्यदेव एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं और पाठकों से अनुरोध करते हैं कि तुम इसके माध्यम से निज भगवान आत्मा का स्वरूप जानकर विशुद्ध आत्मकल्याण की भावना से स्वीकार करना। इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन।
पर नहीं करना छल ग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ।।५।।

मैं उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से आत्मा की बात समझाऊँगा और तुम अपने बुद्धिरूप वैभव से सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इसे समझने का प्रयास करना। यदि मैं अपने प्रयास में सफल होऊँ और भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर सकूँ तो तुम उसे अपने अनुभव से प्रमाणित करना, श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना। यदि मैं चूक जाऊँ तो किसी भी प्रकार का छल ग्रहण नहीं करना।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की टीका लिखते समय अधिकतम विस्तार 'निजवैभव' शब्द की व्याख्या में ही दिया है। उनके द्वारा लिखित इस गाथा की टीका का मूल भाव इसप्रकार है –

''मेरे निजवैभव का जन्म लोक की समस्त वस्तुओं के प्रकाशक 'स्यात्' पद की मुद्रावाले शब्दब्रह्म (परमागम) की उपासना से हुआ है; समस्त विपक्षी अन्यवादियों द्वारा गृहीत एकान्तपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से हुआ है। निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्मग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त समस्त आचार्य परम्परा से प्रसाद के रूप में प्राप्त शुद्धात्मतत्त्व के उपदेशरूप अनुगृह से एवं निरन्तर झरते हुए, स्वाद में आते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा से युक्त स्वसंवेदन से मेरे वैभव का जन्म हुआ है।

इसप्रकार शब्दब्रह्म की उपासना से, निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, गणधरादि आचार्य परम्परा के उपदेश से एवं आत्मानुभव से जन्मे अपने सम्पूर्ण ज्ञानवैभव से मैं उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने के लिए कटिबद्ध हूँ, कृतसंकल्प हूँ; इस व्यवसाय से मैं बद्ध हूँ, सन्नद्ध हूँ।

विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि।

किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम्।।५।।

यदि मैं भगवान आत्मा को दिखा दूँ, अपने व्यवसाय में सफल हो जाऊँ तो तुम स्वयं के अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि कहीं स्खलित हो जाऊँ तो तुम्हें छल ग्रहण करने में जागृत नहीं रहना चाहिए।''

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो मात्र इतना ही कहा था कि मैं निजवैभव से एकत्व-विभक्त आत्मा की बात समझाऊँगा; पर आचार्य अमृतचन्द्र यह भी स्पष्ट करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का वैभव क्या था, कैसा था और कैसे उत्पन्न हुआ था ?

जगत तो रुपया-पैसा और धूल-मिट्टी को ही वैभव मानता है। अत: वे स्पष्ट करते हैं कि उनका वैभव ज्ञानवैभव था। वह ज्ञानवैभव मुक्तिमार्ग के प्रतिपादन में पूर्णत: समर्थ था और उसका जन्म आगम के सेवन से हुआ था, युक्ति के अवलम्बन से हुआ था, परम्पराचार्य गुरुओं के उपदेश से हुआ था और आत्मा के अनुभव से हुआ था। तात्पर्य यह है कि उन्होंने जो बात कही है, वह काल्पनिक नहीं है; उसका आधार जिनागम है, भगवान महावीर की दिव्यध्वनि है। जिनागम का गहरा अभ्यास करके ही उन्होंने यह बात जानी है, समझी है। अत: उनका यह समयसार ग्रन्थाधिराज भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का सार, द्वादशांग जिनवाणी का सार है।

यह भगवान आत्मा का प्रतिपादन जिनागम के अनुसार तो है ही, पर इसे मात्र पढ़कर नहीं लिखा गया है, पहले तर्क की कसौटी पर कसकर परखा गया है, युक्तियों के अवलम्बन से उसकी सच्चाई को गहराई से जाना गया है; इतना ही नहीं, भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक चली आई अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्रमाणित किया गया है और उस भगवान आत्मा का साक्षात् अनुभव भी किया गया है; तब जाकर उसका प्रतिपादन किया गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का ज्ञानवैभव जिनागम का अभ्यास कर, सद्गुरुओं के मुख से उसका मर्म सुनकर, तर्क की कसौटी पर कसकर और अनुभव करके उत्पन्न हुआ है। इसी ज्ञानवैभव को आधार बनाकर वे यह समयसार ग्रन्थ लिख रहे हैं।

इसप्रकार इस गाथा में शुद्धात्मा के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करके अब आचार्यदेव मूल विषयवस्तु के प्रतिपादन में संलग्न होते हैं।

पाँचवीं गाथा में एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा की गई थी। अत: अब इस छठवीं गाथा में उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा का स्वरूप बताते हैं; और यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध किसप्रकार कहा जाता है। **'वह शुद्धात्मा कौन है ?'** - इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही इस गाथा का उदय हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् –

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।६।।

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव।।६।।

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभाव–निरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति।

एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।

(हरिगीत)

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है।।६।।

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है; अन्य कोई नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की जो टीका लिखी है, वह अत्यन्त गम्भीर है और गहराई से मंथन करने की अपेक्षा रखती है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के अनुसार उसका अर्थ और भावार्थ इसप्रकार है –

''जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से) अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है; ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बंध–पर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर–नीर की भाँति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाये तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (कषायसमूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्तमान पुण्य–पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता), इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं, तथापि उसके दाह्याकृत अशुद्धता नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ता–कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है – स्वयं जाननेवाला है; इसलिए स्वयं कर्ता है और अपने को जाना, इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घट–पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को – अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायक को समझना चाहिए।)

न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ।।६।।

''भावार्थ – अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूलद्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है, वही है और पर्याय (अवस्था) दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है।

इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; वह कहीं जड़त्व नहीं हुआ।

यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त–अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्यायें हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं है; इसलिए वह प्रमत्त–अप्रमत्त नहीं है।

'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है; तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है।

'यह जो मैं जाननेवाला हूँ, सो मैं ही हूँ; अन्य कोई नहीं' – ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं, वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है – ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता – दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है।

अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है।

इसप्रकार दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है।

अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है। ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए। स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है, वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ (ज्ञायकभाव) प्रमत्त–अप्रमत्त नहीं है – ऐसा कहा है। वह गुणस्थानों की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है, किन्तु ये सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में हैं; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है।[१]''

१. समयसार, गाथा–६, पण्डित जयचन्द छाबड़ाकृत आत्मख्याति टीका का अर्थ और भावार्थ, पृष्ठ–१६–१७

इस गाथा में दृष्टि के विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिस आत्मा का ध्यान करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और जिस आत्मा के जानने का नाम परमशुद्धनिश्चयनय है तथा जो आत्मा परमपारिणामिकभावरूप है; उस भगवान आत्मा का स्वरूप ही यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।

उसी भगवान आत्मा को इस गाथा में ज्ञायकभाव नाम से संबोधित किया गया है।

परमपारिणामिकभावरूप होने पर भी यहाँ उसे पारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव ही कहा है; क्योंकि पारिणामिकभाव तो सभी द्रव्यों में समानरूप से पाया जाता है, पर ज्ञायकभाव आत्मा का असाधारण भाव है।

यह ज्ञायकभाव वही है, जिसे पिछली गाथाओं में एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा कहा गया है। अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि वह एकत्व-विभक्त ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वह तो प्रमत्त और अप्रमत्त से परे गुणस्थानातीत है।

यह उस ज्ञायकभावरूप द्रव्यस्वभाव की बात है, जो अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतरूप है। यह स्वयंसिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, अत: अनादि सत्तास्वरूप है; इसका कभी नाश नहीं होगा, अत: अनन्त है; क्षण-क्षण में विनाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिए नित्य उद्योतरूप है; और ज्ञानियों के नित्य अनुभव में आता है, गुप्त नहीं है, प्रगट है; अत: प्रकाशमानज्योति है।

ऐसा यह भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। यह किसी अन्य की बात नहीं है, अपने ही आत्मा की बात है, अपने ही आत्मस्वभाव की बात है। प्रमत्त और अप्रमत्त दशाओं से पार यह त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव मैं ही हूँ; इसमें ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है; अत: यही दृष्टि का विषय है, यही ध्यान का ध्येय है, इसमें ही लीन होने का नाम ध्यान है; इसमें ही लगातार अन्तर्मुहूर्त तक लीन रहने से केवलज्ञान और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। मुक्तिमार्ग का मूल आधार यही ज्ञायकभाव है; अत: यही एकमात्र परम-उपादेय है।

यह अपरिणामी ज्ञायकभाव अन्य द्रव्यों और उनके भावों से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

पर-पदार्थों और उनके भावों से भिन्न होने के कारण यद्यपि यह ज्ञायकभाव सदा शुद्ध ही है; तथापि जबतक यह ज्ञायकभाव अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विषय नहीं बनता, अनुभूति में नहीं आता; तबतक उसके शुद्ध होने का लाभ पर्याय में प्राप्त नहीं होता, आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका नहीं जगती, मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेद नहीं होता। अत: यह कहा गया है कि वह परभावों से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

अगली गाथा में आचार्यदेव ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों के भेद को भी व्यवहारोत्पादक होने से अशुद्धि बताकर निषेध करनेवाले हैं; क्योंकि अनुभव के काल में गुणभेद भी नजर नहीं आता। अनुभव के काल में ज्ञायकभाव जैसा नजर आता है, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत वही ज्ञायक भाव शुद्ध कहलाता है - यह स्पष्ट करना भी उक्त कथन का मूल प्रयोजन है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पर के साथ का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी जब व्यवहार होने से अशुद्धि का जनक है; तब तो विकल्पोत्पादक गुणभेद भी व्यवहार होने से अशुद्धि का ही जनक होगा। ऐसी स्थिति में आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है - ऐसा कहना भी असत्यार्थ होगा ?

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत् –

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः।।७।।

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते। यतो ह्यनन्त–धर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेद–मेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एवैकः शुद्धः।।७।।

इसी प्रश्न के उत्तर में सातवीं गाथा का उद्भव हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार
स ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से।।७।।

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इस ज्ञायकभाव के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता होती है – यह बात तो दूर ही रहो, इसके तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र भी नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं – ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का; यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तथापि नाम से भेद करके, व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है; किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से, जो एक है – ऐसे कुछ मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एकस्वभावी तत्त्व का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; एक शुद्ध ज्ञायक ही है।''

'आत्मा में ज्ञान–दर्शन–चारित्र गुण नहीं हैं' – यह बात नहीं है; क्योंकि आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड ही है और ज्ञानादि गुणों के अखण्डपिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते हैं।

छठवीं गाथा में ज्ञायकभाव को उपासित होता हुआ शुद्ध कहा था, अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहा था और अनुभूति निर्विकल्पदशा में ही होती है। गुणों के विस्तार में जाने से, भेदों में जाने से विकल्पों की उत्पत्ति होती है; इसकारण अनुभूति के विषयभूत ज्ञायकभाव में गुणभेद का निषेध किया गया है।

गुणभेद अनुपचरित–सद्भूतव्यवहारनय का विषय है और ज्ञायकभाव व्यवहारातीत है; इसकारण

त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव में गुणभेद का निषेध किया गया है। छठवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों के निषेध द्वारा उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का निषेध किया गया था। इसप्रकार अब उपचरित और अनुपचरित दोनों ही सद्भूतव्यवहारनयों का निषेध हो गया है।

उपचरित और अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयों का निषेध तो तीसरी गाथा की टीका में ही कर आये हैं और 'परद्रव्यों से भिन्न उपासित होता हुआ' - कहकर छठवीं गाथा की टीका में भी कर दिया है। छठवीं व सातवीं गाथा में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय एवं अनुपचरितसद्भूत-व्यवहारनय का भी निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार चारों ही प्रकार के व्यवहारनयों का निषेध हो गया है।

इसप्रकार पर से भिन्न, प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भिन्न एवं गुणभेद से भी भिन्न ज्ञायकभाव अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव की शुद्धता का वास्तविक स्वरूप यही है और यही शुद्धस्वभाव दृष्टि का विषय है, ध्यान का ध्येय है और परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत परमपदार्थ है तथा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परमपारिणामिकभाव है; इसे ही यहाँ शुद्ध ज्ञायकभाव शब्द से अभिहित किया गया है।

जिसप्रकार दाहक, पाचक और प्रकाशक - इन गुणों के कारण अग्नि को भी दाहक, पाचक और प्रकाशक कहा जाता है; पर मूलत: अग्नि तीन प्रकार की नहीं, वह तो एक प्रकार की ही है, एक ही है। उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणों के कारण आत्मा को भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा जाये; पर इसकारण आत्मा तीन प्रकार का तो नहीं हो जाता; आत्मा तो एक प्रकार का ही रहता है, एक ही रहता है।

लोक में कर्मोदय से होनेवाले रागादिभावों को आत्मा की अशुद्धि माना जाता है; व्यवहारनय की प्ररूपणा से जिनवाणी में भी इसप्रकार का प्ररूपण प्राप्त होता है; पर यहाँ तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद को भी अशुद्धि कहा जा रहा है; तब फिर रागादिरूप अशुद्धि की क्या बात करें ?

तात्पर्य यह है कि जब दृष्टि के विषय में विकल्पोत्पादक होने से गुणभेद को भी शामिल नहीं किया जाता है तो रागादिरूप प्रमत्त पर्यायों को शामिल करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

अनुभव में तो जो एक अभेद अखण्ड नित्य ज्ञायकभाव दिखाई देता है; वही दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसी में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है, एकमात्र वही ध्यान का ध्येय है; अधिक क्या कहें - मुक्ति के मार्ग का मूल आधार वही ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा है।

'वह भगवान आत्मा अन्य कोई नहीं, स्वयं मैं ही हूँ' - ऐसी दृढ़-आस्था, स्वानुभवपूर्वक दृढ़प्रतीति, तीव्ररुचि ही वास्तविक धर्म है, सच्चा मुक्ति का मार्ग है। इस ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापित करना ही आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का एकमात्र कर्तव्य है।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, व्यवहारातीत, परमशुद्ध, निज निरंजन नाथ ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करना ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है और इसी शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वरूप इन छठवीं-सातवीं गाथाओं में बताया गया है। अत: ये गाथायें समयसार की आधारभूत गाथायें हैं।

यदि चारों ही प्रकार के व्यवहारनय हेय हैं, निषेध करने योग्य हैं; तो फिर एक निश्चय का

ही कथन करना चाहिए था, व्यवहार का कथन ही क्यों किया ?

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत् –

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ।।८।।

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव।

तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्–

इस प्रश्न के उत्तर में आठवीं गाथा का जन्म हुआ है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ।।८।।

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) भाषा के बिना अनार्य (म्लेच्छ) जन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ (निश्चय) का कथन अशक्य है।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है –

''स्वस्ति शब्द से अपरिचित किसी म्लेच्छ (अनपढ़) को यदि कोई ब्राह्मण (पढ़ा-लिखा व्यक्ति) 'स्वस्ति' ऐसा कहकर आशीर्वाद दे, तो वह म्लेच्छ उसकी ओर मेंढे की भाँति आँखें फाड़-फाड़कर, टकटकी लगाकर देखता ही रहता है; क्योंकि वह 'स्वस्ति' शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होता है।

पर जब दोनों की भाषा को जाननेवाला कोई अन्य व्यक्ति या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा में उसे समझाता है कि स्वस्ति शब्द का अर्थ यह है कि तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो; तब उसका भाव समझ में आ जाने से उसका चित्त आनन्दित हो जाता है, उसकी आँखों में आनन्द के अश्रु आ जाते हैं।

इसीप्रकार आत्मा शब्द से अपरिचित लौकिकजनों को जब कोई ज्ञानी धर्मात्मा आचार्यदेव 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित करते हैं तो वे भी आँखें फाड़-फाड़कर – टकटकी लगाकर देखते ही रहते हैं; क्योंकि वे आत्मा शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होते हैं।

परन्तु जब सारथी की भाँति व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले

अन्य आचार्यदेव या वही आचार्य स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहते हुए आत्मा शब्द का अर्थ इस-बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्या-भिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदांतः सुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव।

एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादक-त्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ।।८।।

प्रकार बतलाते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है; तब वे लौकिकजन भी आत्मा शब्द के अर्थ को भलीभाँति समझ लेते हैं और तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अतीव आनन्द से उनके हृदय में बोधतरंगें उछलने लगती हैं।

इसप्रकार जगत म्लेच्छ के तथा व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है और इसीलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य भी है; तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ तो नहीं बन जाना चाहिए' - इस वचन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।''

इस गाथा की टीका का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात ध्यान में आती है कि प्रकारान्तर से इसमें सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों का संकेत भी है।

गुरु के मुख से 'आत्मा' शब्द सुननेवाले शिष्य को सैनीपंचेन्द्रिय होने से क्षयोपशमलब्धि तो है ही; परन्तु कुछ भी समझ में न आने पर भी क्रोधित नहीं होना, अरुचि प्रदर्शित नहीं करना और टकटकी लगाकर देखते ही रहना विशुद्धिलब्धि को सूचित करता है; क्योंकि कषाय की मंदता के बिना ऐसी प्रवृत्ति संभव नहीं है।

आचार्यदेव द्वारा व्यवहारमार्ग से आत्मा का स्वरूप समझाना कि 'जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' - यह देशनालब्धि है। प्रसन्नचित्त से इस देशना को सुनना, समझने में चित्त लगाना प्रायोग्यलब्धि को सूचित करता है और गुरुवचन का मर्म ख्याल में आते ही बोधतरंगों का उछलना करणलब्धि का सूचक है।

तात्पर्य यह है कि भले ही कोई जीव आत्मा के बारे में कुछ भी न जानता हो; पर उसमें पात्रता हो, अपने आत्मा को समझने योग्य बुद्धि का विकास हो, कषायें मंद हों, आत्मा की तीव्र रुचि हो, आत्मज्ञानी गुरु के प्रति बहुमान का भाव हो, आस्था हो, यथायोग्य विनय हो, उनसे आत्मा का स्वरूप समझने की धगस हो, गहरी जिज्ञासा हो, पूरा-पूरा प्रयास हो तो योग्य गुरु के द्वारा करुणापूर्वक व्यवहारमार्ग से समझाये जाने पर आत्मा की बात उसकी समझ में अवश्य आती है और यदि पुरुषार्थ की उग्रता हो तो आत्मानुभव भी होता ही है।

इसप्रकार इस गाथा में पाँचों लब्धियों को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि का भी परिज्ञान करा दिया गया है। पात्र शिष्य और निश्चय-व्यवहारज्ञ आत्मज्ञानी गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। व्यवहारनय की उपयोगिता बताकर जिनवाणी में उसके प्रयोग का औचित्य भी स्पष्ट कर दिया है और अन्त में व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है - यह भी बता दिया है। प्रकारान्तर से आत्मानुभव की प्रेरणा भी दी गई है।

अतः हम सभी का परम कर्तव्य है कि निज भगवान आत्मा की बात रुचिपूर्वक सुनें, गहराई से

समझें; उस पर गंभीरता से विचार करें और भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए उग्र पुरुषार्थ करें; क्योंकि मानव जीवन की सफलता आत्मानुभव करने में ही है।

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत् –

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।९।।
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।।१०।। जुम्मं।।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः।।९।।
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात्।।१०।।युग्मम्।।

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः।

तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा? न तावदनात्मा समस्तस्याप्य–नात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति। अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु

आठवीं गाथा में यह कहा गया है कि परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय भी स्थापित करने योग्य है; परन्तु **प्रश्न तो यह है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक किसप्रकार है ?**

इस प्रश्न के उत्तर में ही ९वीं एवं १०वीं गाथायें लिखी गई हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के।।९।।
जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली।।१०।।

जो जीव श्रुतज्ञान के द्वारा केवल एक शुद्धात्मा को जानते हैं, उसे लोक के ज्ञाता ऋषिगण निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, उन्हें जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं; क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही तो है।

उक्त गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो श्रुतज्ञान के बल से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं – यह परमार्थ कथन है और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं – यह व्यवहार कथन है।

अब यहाँ विचार करते हैं कि उपर्युक्त सर्वज्ञान आत्मा है कि अनात्मा ?

अनात्मा कहना तो ठीक नहीं है; क्योंकि जड़ अनात्मा तो आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, किन्तु उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य नहीं है। अतः अन्य उपाय का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है – यही सिद्ध होता है; इसलिए यह सहज ही सिद्ध हो गया कि सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है।

ऐसा सिद्ध होने पर पारमार्थिक तथ्य सहज ही फलित हो गया कि जो आत्मा को जानता है, वही श्रुतकेवली है।

परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्।

अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति।।९-१०।।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् –

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः।।११।।

इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाला जो व्यवहारनय है, उससे भी मात्र परमार्थ ही कहा जाता है, अन्य कुछ नहीं।

'जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' – इस परमार्थ का प्रतिपादन अशक्य होने से 'जो सर्वश्रुत को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' – ऐसा व्यवहारकथन परमार्थ का ही प्रतिपादक होने से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।''

ध्यान रहे – ये दोनों ही नय एकसाथ एक ही समय में एक ही व्यक्ति पर घटित होते हैं, अन्य-अन्य व्यक्तियों पर नहीं, अन्य-अन्य समय पर भी नहीं। जो व्यक्ति जिस समय आत्मा को जानने के कारण निश्चयश्रुतकेवली है; वही व्यक्ति उसीसमय द्वादशांगरूप श्रुत का विशेषज्ञ होने के कारण व्यवहारश्रुतकेवली भी है। इसीप्रकार जो व्यक्ति जिससमय द्वादशांग का पाठी होने से व्यवहारश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसीसमय आत्मज्ञानी होने से निश्चयश्रुतकेवली भी है। उनमें न व्यक्तिभेद है और न समयभेद ही।

श्रुतकेवली कहलाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे आत्मज्ञानी होने के साथ-साथ द्वादशांगश्रुत के पाठी भी हों। यही कारण है कि पंचमकाल में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद अनेक स्वसंवेदी भावलिंगी संत हो गये हैं, पर श्रुतकेवली कोई नहीं हुआ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **जब व्यवहारनय ने परमार्थ प्रतिपादकत्व के कारण अपने को भली-भाँति स्थापित कर लिया है, तो फिर उसका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए ?**

इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही ११वीं गाथा का जन्म हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे।।११।।

'व्यवहारनय अभूतार्थ है, शुद्धनय भूतार्थ है' – ऐसा कहा गया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है।

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति।

तथा हि– यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वंतो बहवोनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपात–मात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति।

तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्म–कर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति।

भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकारा–विर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति।

तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीय–त्वात् शुद्धनयस्य। अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।।११।।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं –

''सब ही व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत (अविद्यमान–असत्य) अर्थ को प्रगट करते हैं। एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत (विद्यमान–सत्य) अर्थ को प्रगट करता है।

अब इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। यद्यपि प्रबल कीचड़ के मिलने से आच्छादित है निर्मलस्वभाव जिसका, ऐसे समल जल का अनुभव करनेवाले एवं जल और कीचड़ के विवेक से रहित अधिकांश लोग तो उस जल को मलिन ही अनुभव करते हैं।

वे यह नहीं समझ पाते कि स्वभाव से तो जल निर्मल ही है, मलिनता तो मात्र संयोग में है। इसकारण वे जल को ही मलिन मान लेते हैं; तथापि कुछ लोग अपने हाथ से डाले हुए कतकफल के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल–कीचड़ के विवेक से, अपने पुरुषार्थ से प्रगट किये हुए निर्मलस्वभाव से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं।

तात्पर्य यह है कि अधिकांश लोग तो पंकमिश्रित जल को स्वभाव से मैला मानकर वैसा ही पी लेते हैं और अनेक रोगों से आक्रान्त हो दुःखी होते हैं; किन्तु कुछ समझदार लोग अपने विवेक से इस बात को समझ लेते हैं कि जल मैला नहीं है, इस मैले जल में जल जुदा है और मैल जुदा है तथा कतकफल के जरिये जल और मैल को जुदा–जुदा किया जा सकता है।

अतः वे स्वयं के हाथ से कतकफल डालकर मैले जल को इतना निर्मल बना लेते हैं कि उसमें अपना पुरुषाकार भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है और उस जल को पीकर नीरोग रहते हैं, आरोग्यता का आनन्द लेते हैं।

इसीप्रकार प्रबल कर्मोदय के संयोग से सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है जिसका, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले एवं आत्मा और कर्म के विवेक से रहित, व्यवहारविमोहित चित्तवाले अधिकांश लोग तो आत्मा को अनेकभावरूप अशुद्ध ही अनुभव करते हैं; तथापि भूतार्थदर्शी लोग अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के प्रयोग से उत्पन्न आत्मा और कर्म के विवेक से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्ध ही अनुभव करते हैं, एक ज्ञायकभावरूप ही अनुभव करते हैं; अनेकभावरूप नहीं करते।

यहाँ शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है; इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं; अन्य नहीं।

इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।''

दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का प्रतिपादक शुद्धनय (परमशुद्धनिश्चयनय) ही एक भूतार्थ है, सत्यार्थ है; शेष सभी नय व्यवहार होने से अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।[१] शुद्धनय अथवा शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; अत: एकमात्र वही उपादेय है।

उक्त संदर्भ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के विचार दृष्टव्य हैं; जो इसप्रकार हैं –

''यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो; उसे अभूतार्थ कहते हैं। शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है; उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। ऐसा तो है नहीं कि भेदरूप कोई वस्तु ही न हो। यदि ऐसा मानेंगे तो जिसप्रकार वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को मायास्वरूप कहते हैं, अवस्तु कहते हैं और अभेद–नित्य–शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, वैसा हमें भी मानना होगा। ऐसा मानने पर सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टित्व का प्रसंग आयेगा। इसलिए ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है और प्रयोजन के अनुसार नयों को यथायोग्य मुख्य व गौण करके कथन करती है।

गहराई से समझने की बात यह है कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल तो संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका ही उपदेश प्रधानता से दिया है और कहा है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसके आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि होता है। इसको जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है, तबतक आत्मा के ज्ञान–श्रद्धानरूप निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। – ऐसा जानना।[२]''

अब यह प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि जब शुद्धनय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, व्यवहार के आश्रय से नहीं; इसलिए प्रत्यगात्मदर्शियों के लिए व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है तो फिर इस व्यवहारनय का उपदेश ही क्यों दिया जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में बारहवीं गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय भी किन्हीं–किन्हीं को कभी–कभी प्रयोजनवान होता है; इसलिए यह सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है और इसलिए जिनवाणी में इसका उपदेश दिया गया है।

---

१. नयों के गंभीर ज्ञान के लिए परमभावप्रकाशकनयचक्र का अध्ययन करना चाहिए।

२. समयसार : गाथा ११ का भावार्थ।

यह व्यवहारनय किनको और कब प्रयोजनवान है ? – यह बताना ही बारहवीं गाथा का मूल प्रतिपाद्य है।

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान्। यतः –

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।१२।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ।।१२।।

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेक–पाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्यो–तितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्।

ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शित–प्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ।।१२।।

(हरिगीत)

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं।।१२।।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान–चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जाननेयोग्य है और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, श्रद्धा–ज्ञान –चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक–अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्टभाव का अनुभव करते हैं; उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट–मध्यम भावों का अनुभव नहीं होता। इसलिए उन्हें तो शुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एवं अचलित–अखण्ड एकस्वभावरूप भाव का प्रकाशक शुद्धनय ही सबसे ऊपर की एक प्रति–वर्णिका समान होने से जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है।

परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट–मध्यमभाव का अनुभव करते हैं; उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्टभाव का अनुभव नहीं होता है; इसलिए उन्हें अशुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एवं

भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भावों का प्रकाशक व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाओं के समान होने से जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है; क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है।

उक्तं च –

''जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।''

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव।।४।।

कहा भी है –

(हरिगीत)

यदि चाहते हो जैनदर्शन प्रवर्ताना जगत में।
व्यवहार-निश्चयनयों में से किसी को छोड़ो नहीं।।
व्यवहारनय बिन तीर्थ का अर नियतनय बिन तत्त्व का।
ही लोप होगा इसलिए तुम किसी को छोड़ो नहीं।।

यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों में से एक को भी मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तीर्थ का एवं निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा।''

इसप्रकार इस बारहवीं गाथा में यह कहा गया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; तथापि वह भी कभी-कभी किसी-किसी को प्रयोजनवान है।

निश्चय-व्यवहारनयों की उपयोगिता पर समुचित प्रकाश डालने के उपरान्त अब स्याद्वादांकित जिनवचनों में रमण करनेवाले सत्पुरुष ही समयसार को प्राप्त करते हैं – इसप्रकार के भावों से भरा हुआ मंगल कलश स्थापित करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।।
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं।।४।।

जो पुरुष निश्चय और व्यवहार – इन दो नयों के प्रतिपादन में दिखाई देनेवाले विरोध को ध्वंस करनेवाले, स्याद्वाद से चिह्नित जिनवचनों में रमण करते हैं; स्वयं पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का

वमन करनेवाले वे पुरुष कुनय से खण्डित नहीं होनेवाले, परमज्योतिस्वरूप अत्यन्त प्राचीन अनादिकालीन समयसाररूप भगवान आत्मा को तत्काल ही देखते हैं अर्थात् उसका अनुभव करते हैं।

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ।।५।।

यह कलश पीठिका के उपसंहाररूप कलश है। इस कलश में यह कहा गया है कि जो पुरुष जिनवचनों में रमण करते हैं, वे तत्काल ही आत्मा का अनुभव करते हैं।

यहाँ जिनवचनों में रमण करने का अर्थ मात्र जिनवाणी का पठन-पाठन करना ही नहीं है; अपितु जिनवाणी में प्रतिपादित शुद्धनय के विषयभूत त्रिकालीध्रुव, नित्य, अखण्ड, अभेद, एक निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसे ही निज जानना और उसमें जमना-रमना है; क्योंकि आत्मानुभव करने की यही प्रक्रिया है।

आत्मकल्याण की भावना से जिनवाणी का अत्यन्त रुचिपूर्वक स्वाध्याय करना, पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना; उसके अर्थ का विचार करना, मंथन करना; परस्पर चर्चा करना, प्रश्नोत्तर करना आदि व्यवहार से जिनवचनों में रमण करना है और जिनवाणी में प्रतिपादित शुद्धनय की विषयभूत आत्मवस्तु का अनुभव करना निश्चय से जिनवचनों में रमण करना है।

व्यवहारजिनवचनों में रमण करना देशनालब्धि का प्रतीक है और निश्चयजिनवचनों में रमण करना करणलब्धि का प्रतीक है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि स्याद्वाद ही एक ऐसा अमोघ उपाय है कि जिसके द्वारा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाला वस्तुस्वरूप सहजभाव से स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ तक समयसार की पीठिका है, जो पूर्वरंग के अंतर्गत ही आती है।

इस पीठिका में संक्षेप में वह सब आ गया है; जो आगे सम्पूर्ण समयसार में विस्तार से कहनेवाले हैं। आचार्य जयसेन के अनुसार संक्षिप्त रुचिवालों के लिए तो समयसार यहीं समाप्त हो जाता है। आगे जो कुछ भी कहा जा रहा है; वह सब विस्तार रुचिवालों के लिए ही है।

अब आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप तीन कलश हैं; जिनमें से प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में।।
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में।।५।।

यद्यपि खेद है कि जिन्होंने पहली पदवी में पैर रखा है, उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, हाथ का सहारा है; तथापि जो परद्रव्यों और उनके भावों से रहित, चैतन्यचमत्कारमात्र परम-अर्थ को अन्तर में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसमें लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ।।६।।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने में लाठी का सहारा लेना पड़ता है; पर उसकी भावना तो यही रहती है कि कब इस लाठी का आश्रय छूटे। वह यह नहीं चाहता कि मुझे सदा ही यह सहारा लेना पड़े।

उसीप्रकार व्यवहार का सहारा लेते हुए भी कोई आत्मार्थी यह नहीं चाहता कि उसे सदा ही यह सहारा लेना पड़े। वह तो यही चाहता है कि कब इसका आश्रय छूटे और कब मैं अपने में समा जाऊँ।

बस यही भाव उक्त छन्द में व्यक्त किया गया है।

अब आगामी कलश में निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से।।
नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए।।६।।

शुद्धनय से ज्ञान के घनपिण्ड, स्वयं में परिपूर्ण, अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त, एकत्व में नियत, शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा को परद्रव्यों और उनके भावों से पृथक् देखना निश्चय सम्यग्दर्शन है। बस यही आत्मा मैं हूँ अथवा ऐसा ही आत्मा मैं हूँ और इसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है। - ऐसा ज्ञानी जानते हैं। इसलिए ज्ञानीजन भावना भाते हैं कि इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो।

तात्पर्य यह है कि हमें तो एक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन ही इष्ट है; नवतत्त्व की विकल्पात्मक श्रद्धावाले व्यवहार सम्यग्दर्शन से कोई प्रयोजन नहीं।

आत्मानुभव के लिए परमागम में दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का जो स्वरूप बताया गया है, उसे आगम के अभ्यास से एवं गुरुमुख से सुनकर अच्छी तरह समझना चाहिए। राजमार्ग यही है।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि शुद्धनय के आश्रय से परद्रव्यों से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है, वह आत्मज्योति नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को नहीं छोड़ती है।

(अनुष्टुभ्)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ।।७।।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१३।।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ।।७।।

अतः शुद्धनय के आश्रय से पर से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है; वह नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को कभी नहीं छोड़ती ।

नौ तत्त्वों में एक आत्मा ही प्रकाशमान है; क्योंकि नौ तत्त्वरूप होकर भी उसने अपने शुद्धनय के विषयभूत सामान्य, नित्य, अभेद एवं एक स्वभाव को नहीं छोड़ा है।

छठवें कलश में कहा गया था कि हमें नौ तत्त्व की सन्ततिवाला व्यवहारसम्यग्दर्शन नहीं चाहिए, हमें तो शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चयसम्यग्दर्शन ही अभीष्ट है।

अतः यहाँ यह कहा जा रहा है कि नौ तत्त्वों में भी एक आत्मज्योति ही प्रकाशमान है और वह नौ तत्त्वों में जाकर भी एकत्व को नहीं छोड़ती है।

तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन अलग-अलग नहीं होते। सम्यग्दर्शन तो एक ही है और वह शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होता है।

उक्त निश्चयसम्यग्दर्शन के धारक को नवतत्त्वों की भी सच्ची श्रद्धा होती है अर्थात् वे जैसे हैं, उनकी वैसी ही श्रद्धा होती है। निश्चयसम्यग्दृष्टि की नवतत्त्वों सम्बन्धी उक्त श्रद्धा को ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के आत्मश्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन और नवतत्त्व के श्रद्धान को व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

अगली ही गाथा में यह कहने जा रहे हैं कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

सर्वप्रथम इस तेरहवीं गाथा में यह बताते हैं कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं। मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ।।१३।।

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं ।

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्।।१३।।

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थ–प्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्म–ख्यातिलक्षणाया: संपद्यमानत्वात्।

तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रव:, संवार्यसंवारकोभयं संवर:, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंध:, मोच्यमोचकोभयं मोक्ष:, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्ते:। तदुभयं च जीवाजीवाविति।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो बताया ही गया है, प्रकारान्तर से समयसार में आगे आनेवाली विषयवस्तु का संकेत भी कर दिया है, आगे के अधिकारों के नामोल्लेख भी कर दिये हैं।

कर्ता–कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को छोड़कर अन्य सभी अधिकारों के नाम भी आ ही गये हैं, अधिकारों का क्रम भी आ गया है। इस गाथा में तत्त्वों के नाम जिस क्रम से आये हैं, वही क्रम अधिकारों का है। इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में तत्त्वों के नामों का जो क्रम है, वह छन्दानुरोध से नहीं, अपितु बुद्धिपूर्वक रखा गया है।

यह तेरहवीं गाथा एक ऐसी गाथा है कि जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका के बीच में भी एक कलश दिया है। सामान्यरूप से आचार्य अमृतचन्द्र यह पद्धति अपनाते हैं कि पहले गद्य में टीका लिखते हैं और यदि आवश्यकता समझें तो अन्त में कलश लिखते हैं; पर इस गाथा की टीका में मध्य में भी कलश दिया है और अन्त में भी।

यहाँ हम भी आत्मख्याति को इसीप्रकार विभाजित करके प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''भूतार्थनय से जाने हुए ये जीवादि नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं; क्योंकि तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से प्रतिपादित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष नामक नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय के द्वारा एकत्व प्राप्त करके शुद्धनयात्मक आत्मख्याति प्रगट होती है अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त होती है।

इनमें विकारी होने योग्य विकार्य भाव और विकार करनेवाला विकारक कर्म – दोनों ही पुण्य हैं और दोनों ही पाप हैं, आस्रवरूप होने योग्य आस्राव्य भाव और आस्रव करनेवाला आस्रावक कर्म – दोनों ही आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य संवार्य भाव और संवर करनेवाला संवारक कर्म – दोनों ही संवर हैं, निर्जरारूप होने योग्य निर्जर्य भाव और निर्जरा करनेवाला निर्जरक कर्म – दोनों ही निर्जरा हैं, बंधनरूप होने योग्य बंध्य भाव और बंधन करनेवाला बंधक कर्म – दोनों ही बंध हैं तथा मोक्षरूप होने योग्य मोच्य भाव और मोक्ष करनेवाला मोचक कर्म – दोनों ही मोक्ष हैं; क्योंकि दोनों में से किसी एक का अपने–आप अकेले पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप होना संभव नहीं है। वे दोनों जीव और अजीव हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युगल में से पहला जीव है और दूसरा अजीव है।

बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।

तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति।

नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।

एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव। इति समस्तमेव निरवद्यम्।।१३।।

बाह्यदृष्टि से देखा जाये तो जीव-पुद्गल की अनादिबंधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; अतः इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।

इसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो एक ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है। इनमें से पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप भाव केवल जीव के विकार हैं, जीव के विशेष भाव हैं, जीवरूप भाव हैं और जीव के विकार के हेतुभूत जो पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप तत्त्व हैं; वे सभी केवल अजीव हैं।

ऐसे ये नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर स्वयं और पर जिनके कारण हैं - ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और सर्वकाल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।

इसप्रकार एकत्वरूप से प्रकाशित यह भगवान आत्मा शुद्धनय के रूप में अनुभव किया जाता है और यह अनुभूति आत्मख्याति ही है तथा यह आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है।

अतः भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं - यह कथन पूर्णतः निर्दोष है।''

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की संस्कृत भाषा में जो टीका लिखी है, उसका नाम उन्होंने 'आत्मख्याति' रखा है और सर्वप्रथम इस गाथा की टीका में 'आत्मख्याति' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ स्वयं उन्होंने आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन किया है।

आत्मख्याति का अर्थ होता है - आत्मा की प्रसिद्धि। हमारा आत्मा दूसरों को जाने या दूसरे आत्मा हमें जानें - इसका नाम आत्मख्याति या आत्मप्रसिद्धि नहीं है; अपितु अपना आत्मा स्वयं को ही जाने, अनुभव करे; अपने में ही अपनापन स्थापित करे, अपने में ही रम जाये, जम जाये,

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्।।८।।

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्था-स्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः।

समा जाये - यही सच्ची आत्मख्याति है। आत्मख्याति अर्थात् मोक्षमार्ग - अपनी समझ, अपनी पहिचान, अपने में ही सर्वस्व समर्पण।

नवतत्त्वों में भी सर्वत्र एक जीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और शुद्धनय से उसे जानना ही भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन कहा गया है।

अब इसी अर्थ को पुष्ट करनेवाला कलश लिखते हैं और उसमें प्रेरणा देते हैं कि हे भव्यजनो ! तुम तो नवतत्त्वों में प्रकाशमान एक आत्मज्योति को ही देखो।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

शुद्धकनक ज्यों छिपा हुआ है बानभेद में।
नवतत्त्वों में छिपी हुई त्यों आत्मज्योति है।।
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह।
अरे भव्यजन! पद-पद पर तुम उसको जानो।।८।।

जिसप्रकार वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं; उसीप्रकार नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय के द्वारा बाहर निकालकर प्रगट की गई है और यह आत्मज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में चित्-चमत्कारमात्र एकरूप में उद्योतमान है। इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम इसे सदा ही अन्यद्रव्यों एवं उनके आश्रय से होनेवाले नैमित्तिकभावों से भिन्न एकरूप देखो।

उक्त कथन में संयोग, संयोगीभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेद तथा लक्ष्य-लक्षण भेद सभी को व्यवहारनय से सत्यार्थ बताकर भी यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धनय से, भूतार्थनय से ये सभी असत्यार्थ हैं; इन सबसे भिन्न शुद्ध जीववस्तु मात्र ही सत्यार्थ है और उसके आश्रय से ही अनुभव होता है, सम्यक्त्व होता है।

आठवें कलश के उपरान्त समागत आत्मख्याति का भाव इसप्रकार है -

''अब जिसप्रकार नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है; उसीप्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपायभूत जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं; वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा ही भूतार्थ है। तात्पर्य यह है कि उनमें भी एक आत्मा को बतानेवाला नय ही भूतार्थ है।

प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियत-त्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च। तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूय-मानतायामभूतार्थम्।

निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्य-न्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्। वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्व-भावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जो इन्द्रिय, मन आदि उपात्त पर-पदार्थों एवं प्रकाश, उपदेश आदि अनुपात्त पर-पदार्थों द्वारा प्रवर्ते, वह परोक्षप्रमाण है और जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से प्रवृत्ति करे, वह प्रत्यक्षप्रमाण है। पाँच प्रकार के ज्ञानों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान एकदेशप्रत्यक्षप्रमाण हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्षप्रमाण है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष – ये दोनों ही प्रमाण; प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; किन्तु जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकार के हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में जो नय मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिक नय है और जो नय उसी द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दोनों नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से, भेद से, क्रम से अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय दोनों से अनालिंगित शुद्धवस्तुमात्र जीव के चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेप चार प्रकार के हैं – नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप। गुण की अपेक्षा बिना वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेप है; 'यह वह है' – इसप्रकार अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना स्थापनानिक्षेप है; अतीत और भावी पर्यायों का वर्तमान में आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान में कहना भावनिक्षेप है।

ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणभेद से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) अनुभव किये जाने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न-भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर ये चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

इसप्रकार इन प्रमाण, नय और निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है।''

पहले कहा था कि नवतत्त्वों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है और यहाँ कहा जा रहा है कि इन प्रमाण, नय, निक्षेपों में भी भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।

इसप्रकार एकमात्र यही कहा जा रहा है कि नवतत्त्वों में भी एकमात्र शुद्धजीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और प्रमाण, नय, निक्षेपों में भी एकमात्र वही शुद्धजीवतत्त्व प्रकाशमान है। यह प्रकाशमान जीवतत्त्व ही दृष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है, ध्यान का ध्येय है, परमज्ञान का ज्ञेय है, मुक्तिमार्ग का मूल आधार है, इसके आश्रय से ही मुक्ति का मार्ग प्रगट होता है। जब वह शुद्धजीवास्तिकाय ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धान का श्रद्धेय और ध्यान का ध्येय बनता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभूति होती है; तब प्रमाण-नय-निक्षेप की तो बात ही क्या; परन्तु किसी भी प्रकार का द्वैत ही भासित नहीं होता है, एक आत्मा ही प्रकाशमान होता है।

यही भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई।।
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो।
शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई।।९।।

सर्वप्रकार के भेदों से पार सामान्य, अभेद-अखण्ड, नित्य, एक चिन्मात्र भगवान आत्मा को विषय बनानेवाले परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है ? - यह हम नहीं जानते।

जब द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता, तब प्रमाणादि के विकल्पों की तो बात ही क्या करें ?

इसप्रकार इस तेरहवीं गाथा, उसकी टीका एवं उसमें समागत कलशों में एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से उभर कर सामने आई है कि यद्यपि प्रमाण-नय-निक्षेपों के विषयभूत नवतत्त्वार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी जानने योग्य हैं, उन्हें जानना उपयोगी भी है, आवश्यक भी है; तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से ही होती है।

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालंप्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

आगामी गाथा की उत्थानिकारूप में समागत १०वें कलश में भी शुद्धनय के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

उस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है।।
जो एक है परिपूर्ण है – ऐसे निजात्मस्वभाव को।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय।।१०।।

परभावों से भिन्न, आदि-अन्त से रहित, परिपूर्ण, संकल्प-विकल्पों के जाल से रहित एक आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है।

यहाँ परभाव में परद्रव्य, परद्रव्यों के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से प्रगट होनेवाले अपने विभावभाव – इन सभी को लिया गया है; क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन सभी से भिन्न होता है।

द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनत्व स्थापित करना संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना विकल्प है। शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन संकल्प-विकल्पों से रहित है, अनादि-अनन्त है, परिपूर्ण तत्त्व है। इसमें किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं है।

इस कलश में जिस आत्मस्वभाव की चर्चा है और जिसे प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है, वही आत्मस्वभाव दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

तेरहवीं गाथा में जिसे भूतार्थनय कहा गया था, उसे ही यहाँ शुद्धनय नाम से कहा जा रहा है।

वहाँ भूतार्थनय से नवपदार्थों के जानने को सम्यग्दर्शन कहा गया था। यहाँ शुद्धनय से आत्मा के जानने को सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है।

इस कलश में शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के जो विशेषण दिये गये हैं, आगामी गाथा में भी लगभग वे ही विशेषण दिये हैं। अत: उनकी चर्चा तो विस्तार से वहाँ होगी ही, यहाँ उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं
ि ण य द ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।१४।।

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि।।१४।।

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्।

तथा हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम्– भूतार्थम्।

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को।
संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें।।१४।।

जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित एवं अन्य के संयोग से रहित देखता है, जानता है; हे शिष्य ! तू उसे शुद्धनय जान।

तात्पर्य यह है कि शुद्धनय से भगवान आत्मा कर्मों से अबद्ध है, परपदार्थों ने इसे छुआ तक नहीं है। वह नर–नारकादि पर्यायों में रहते हुए भी अन्य–अन्य नहीं होता, अनन्य ही रहता है तथा अपने स्वभाव में सदा नियत ही है, समस्त विशेषों में व्याप्त होने पर भी अविशेष ही रहता है तथा रागादि में संयुक्त नहीं होता।

यह गाथा शुद्धनय के विषय को स्पष्ट करनेवाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथा है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, वह भी अत्यन्त गम्भीर है और उसका भाव इसप्रकार है –

''अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार एक आत्मा ही प्रकाशमान है। शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही है, अलग–अलग नहीं।

प्रश्न – ऐसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर – बद्धस्पृष्टादिभावों के अभूतार्थ होने से यह अनुभूति हो सकती है।

अब इसी बात को पाँच दृष्टान्तों के द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

(१) जिसप्रकार जल में डूबे हुए कमलिनी पत्र का, जल से स्पर्शितपर्याय की ओर से अनुभव करने पर, देखने पर, जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने

पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

तथात्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांतत: पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च मृत्तिकाया: करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।

इसीप्रकार अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का पुद्गलकर्मों से बँधने, स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

(२) जैसे कुण्डा, घड़ा, खप्पर आदि पर्यायों से मिट्टी का अनुभव करने पर अन्यत्व (वे अन्य-अन्य हैं, जुदे-जुदे हैं - यह) भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि सर्वत: अस्खलित (सर्वपर्याय भेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

इसीप्रकार नर-नारकादि पर्यायों से आत्मा का अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि सर्वत: अस्खलित (सर्वपर्याय भेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है; असत्यार्थ है।

(३) जिसप्रकार समुद्र का वृद्धि-हानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि समुद्र के नित्य स्थिरस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

इसीप्रकार आत्मा का वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि नित्य स्थिर आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

(४) जिसप्रकार सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जिसमें सर्वविशेष विलय हो गये हैं - ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं - ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर

अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्ये–कांतः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्व–पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांतः स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपेत्यानुभूयमानताया–मभूतार्थम्।।१४।।

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।११।।

(५) जिसप्रकार अग्नि जिसका निमित्त है – ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप – तप्ततारूप अवस्था से जल का अनुभव करने पर जल की उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर उष्णता के साथ जल की संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

उसीप्रकार कर्म जिसका निमित्त है – ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से आत्मा का अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप है, ज्ञानरूप है – ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।''

छठवीं–सातवीं गाथा में दृष्टि के विषयभूत जिस शुद्धात्मा का प्रतिपादन किया गया था, उसे ही यहाँ अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणों से समझाया गया है।

अब आगामी कलश में इसी शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं। मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में।।
जो है प्रकाशित चतुर्दिक् उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो।।११।।

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करते, मात्र ऊपर–ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारों ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व–अवस्थाओं में प्रकाशमान है; आत्मा के उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियो ! तुम मोहरहित होकर अनुभव करो।

उक्त छन्द में शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओं में प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे

एकत्व का मोह तोड़ो, उन्हें अपना मानना छोड़ो।

(शार्दूलविक्रीडित)

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंत: किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देव: स्वयं शाश्वत: ।।१२।।

(वसन्ततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन: समंतात् ।।१३।।

अब आगे बारहवें कलश में कहते हैं कि यह शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा स्वयं ही देवाधिदेव है। मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत्।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध।।
तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत।।१२।।

यदि कोई बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव अपने आत्मा को भूत, वर्तमान और भविष्य काल संबंधी कर्मों के बंध से भिन्न करके देखे, बद्धस्पृष्टादि भावों के प्रति एकत्व के मोह को अपने पुरुषार्थ से बलपूर्वक दूर करके अंतरंग में देखे तो अनुभवगम्य महिमा का धारक यह निज भगवान आत्मा कर्मकलंकरूपी कीचड़ से अलिप्त, निश्चल, नित्य, शाश्वत स्वयं देवाधिदेव के रूप में ही दिखाई देता है; क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत निज भगवान आत्मा तो सदा ही देहदेवल में बद्धस्पृष्टादि भावों से रहित विराजमान है।

इस आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है। अत: एक इस आत्मा में ही निश्चल हो जाना चाहिए। यह बात आगामी कलश में व्यक्त करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर।।
आतम में आतम को निश्चल थापित करके।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ।।१३।।

इसप्रकार जो शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है।

यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके ज्ञान के घनपिण्ड और नित्य इस आत्मा को सदा ही देखना-जानना चाहिए।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं[१] पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।१५।।

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम्।।१५।।

~~येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः।~~

यहाँ ज्ञान और आत्मा को एक मानकर ही बात की गई है। इसकारण आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। ज्ञान आत्मा का गुण है और आत्मा गुणी द्रव्य है। गुण-गुणी को अभेद मानकर आत्मानुभूति को ज्ञानानुभूति कहा है। ज्ञानगुण आत्मद्रव्य का लक्षण है। आत्मा की पहिचान ज्ञानगुण से ही होती है। इसलिए लक्ष्य-लक्षण के अभेद से भी ज्ञान को आत्मा कहा जाता है।

शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा की अनुभूति ही आत्मानुभूति कहलाती है, इसकारण ही यहाँ आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका कहा गया है।

आत्मानुभूति की पावन प्रेरणा देनेवाले इस कलश के बाद अब आगामी गाथा में कहते हैं कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत उक्त आत्मा की अनुभूति करता है, उसे जानता है; वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को।
द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे।।१५।।

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है; वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है। वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

१४वीं गाथा में शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के जो पाँच विशेषण दिये गये हैं; उनमें से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष - ये तीन विशेषण तो इस गाथा में वैसे के वैसे ही दुहराये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे इन विशेषणों के माध्यम से इस गाथा में भी उसी आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, जिसकी चर्चा १४वीं गाथा में की गई थी; गाथा में स्थान न होने से नियत और असंयुक्त विशेषणों का उल्लेख नहीं हो पाया है। अतः उपलक्षण से इन्हें भी शामिल कर लेना उचित ही है।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त - ऐसे पाँचभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है; क्योंकि श्रुतज्ञान

१. पाठान्तर अणुवसंतमज्झं।

स्वयं आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है।

किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते।

तथा हि – यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि।

तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।।१५।।

किन्तु जब सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव से ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है; तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है; तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं; उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।

अब इसी बात को विस्तार से दृष्टान्त देकर समझाते हैं –

जिसप्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों के संबंध से उत्पन्न सामान्य लवण का तिरोभाव और विशेषलवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी व्यंजनलोलुप मनुष्यों को आता है; किन्तु अन्य के संबंधरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता। यदि परमार्थ से देखें तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला लवण है।

इसीप्रकार अनेकप्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान, अज्ञानी–ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है; किन्तु अन्य ज्ञेयाकारों के संयोग की रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता। यदि परमार्थ से देखें तो जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है।

जिसप्रकार अन्यद्रव्य के संयोग से रहित केवल सैंधव (नमक) का अनुभव किये जाने पर सैंधव की डली सभी ओर से एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से ही स्वाद में आती है; उसी प्रकार परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल एक आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर चारों ओर से एक विज्ञानघनता के कारण यह आत्मा भी ज्ञानरूप से ही स्वाद में आता है।''

गाथा में जिस शुद्धनय के विषय के जानने को सर्व जिनशासन का जानना कहा गया है, शुद्धनय

का विषयभूत वह भगवान आत्मा हमारे ज्ञान में नित्य प्रकाशित रहे – ऐसी भावना आगामी कलश में व्यक्त की गई है।

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि–
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्।।१४।।

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है।।
अन्तर–बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो।।१४।।

जिसप्रकार नमक की डली खारेपन से लबालब भरी हुई है; उसीप्रकार आत्मा ज्ञानरस से लबालब भरा हुआ है। वह ज्ञेयों के आकाररूप में खण्डित नहीं होता; इसलिए अखण्डित है, अनाकुल है, अविनाशीरूप से अन्तर में दैदीप्यमान है, सहजरूप से सदा विलसित हो रहा है और चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है; ऐसा उत्कृष्ट तेजोमय आत्मा हमें प्राप्त हो।

उक्त कलश में ज्ञानानन्द से परिपूर्ण, अनाकुलस्वभावी, अखण्ड, अविनाशी आत्मा हमारी अनुभूति में सदा प्रकाशित रहे – यह भावना भाई गई है।

आत्मख्याति के अनुसार जो १५वीं व १६वीं गाथायें हैं, उनके बीच जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा पाई जाती है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा इसप्रकार है –

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।

(हरिगीत)

निज ज्ञान में है आतमा दर्शन चरित में आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान में भी आतमा।।

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा ही है। मेरे दर्शन में, चारित्र में और प्रत्याख्यान में भी आत्मा ही है। इसीप्रकार संवर और योग में भी आत्मा ही है।

यह गाथा आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में ही बंधाधिकार में २९६ गाथा के रूप में भी उपलब्ध होती है।

उक्त दोनों गाथायें यद्यपि एक–सी ही हैं; तथापि जीवाधिकार में इसका अर्थ सामान्यरूप से

करके आगे बढ़ गये हैं; पर बंधाधिकार में इसका अर्थ सहेतुक विस्तार से किया गया है; जो मूलत: पठनीय है।

आत्मख्याति के बंधाधिकार में भी इसी से मिलती-जुलती थोड़े-बहुत अन्तर के साथ एक गाथा प्राप्त होती है, जिसका क्रमांक २७७ है।

वह गाथा इसप्रकार है -

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।

(हरिगीत)

निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा।।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही संवर तथा योग है।

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति की गाथाओं के अर्थ को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तात्पर्यवृत्ति की गाथाओं में तो यह बताया गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, योग, संवर और प्रत्याख्यान में आत्मा ही है; किन्तु आत्मख्याति में इन सभी को आत्मा ही कहा गया है।

समान-सी दिखनेवाली ये गाथायें आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति के बंधाधिकार में एक ही क्रम में एक ही स्थान पर आई हैं।

यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि तात्पर्यवृत्ति में यह पुनरावृत्ति प्रकरण की आवश्यकतानुसार ही हुई है, पर हुई है। ऐसी गाथायें तो ध्यान में हैं कि जो आचार्य कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रन्थों में हूबहू पाई जाती हैं; पर एक ही ग्रन्थ में अनेक बार पाई जानेवाली गाथा अभी तक यह एक ही ध्यान में आई है।

पिछली गाथा में कहा गया है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्टादि भावों से संयुक्त भगवान आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है; क्योंकि वह शुद्ध-आत्मा ही सम्पूर्ण जिनशासन का मूल प्रतिपाद्य है, प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु है। उसी शुद्धात्मा की महिमा बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि वह आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, प्रत्याख्यान है, संवर है, योग है; सबकुछ वह एक शुद्धात्मा ही है। उस शुद्धात्मा की आराधना से, साधना से ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति होती है, प्रत्याख्यान होता है, संवर होता है और योग भी होता है।

अब आगामी (१६वीं) गाथा की उत्थानिकारूप कलश कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।१५।।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः ।।१६।।

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ।।
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ।।१५।।

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करें ।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि आत्मार्थी पुरुषो ! आत्मा का कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुषो !! तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के रसकन्द इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो, आराधना करो; चाहे साध्यभाव से करो, चाहे साधकभाव से करो, पर एक निज भगवान आत्मा की ही उपासना करो। उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकन्द एक भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

(हरिगीत)

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ।।१६।।

साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो ।

गाथा में समागत 'साधु' शब्द का अर्थ पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा एवं सहजानन्दजी वर्णी ने साधुपुरुष किया है, जो पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है; क्योंकि इस ग्रन्थराज में मूलतः भद्र मिथ्यादृष्टि गृहस्थों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ही मार्ग बताया गया है। 'साधु' शब्द देखकर यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रन्थराज मुनिराजों के लिए ही बनाया गया है और इसे पढ़ने का अधिकार भी मुनिराजों को ही है, सद्गृहस्थों को नहीं; क्योंकि समयसार में सर्वत्र ही अज्ञानियों को समझाने

का प्रयास किया गया है। मुनिराज तो ज्ञानी धर्मात्मा होते हैं, सम्यग्दृष्टि तो होते ही हैं; उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देने, मार्ग बताने की क्या आवश्यकता है ?

यदि इसे पढ़ने का अधिकार गृहस्थों को नहीं है तो फिर पाण्डे राजमलजी, पण्डित बनारसीदासजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, श्रीमद् रायचन्दजी, ब्र. शीतलप्रसादजी जैसे विद्वानों ने इसका अध्ययन कैसे किया ? बिना अध्ययन किये इसकी टीकायें लिखना, इसके उद्धरण अपने ग्रन्थों में देना कैसे सम्भव था ? कहते हैं कि क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी को तो आत्मख्याति कण्ठस्थ थी और सहजानन्दजी वर्णी ने तो इसकी सप्तदशांगी टीका लिखी है। ये भी तो मुनिराज नहीं थे, क्षुल्लक तो श्रावकों में ही आते हैं; क्योंकि ग्यारह प्रतिमायें श्रावकों की ही होती हैं।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा कहनेवाले गृहस्थ विद्वान स्वयं भी इसका अध्ययन करते देखे जाते हैं। जो विद्वान श्रावकों के लिए समयसार के अध्ययन का निषेध करते हैं, उन्होंने स्वयं इसका अध्ययन किया है या नहीं ?

यदि श्रावक होकर भी आपने अध्ययन किया है तो दूसरों को मना क्यों करते हैं और यदि नहीं किया तो फिर बिना देखे ही मना करने को कैसे उचित माना जा सकता है ?

इस ग्रन्थ में भी अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जिससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थराज अज्ञानियों को समझाने के लिए ही लिखा गया है। आठवीं गाथा में तो एकदम अज्ञानी शिष्य लिया है। इसीप्रकार २६-२७वीं गाथा में एवं ३८वीं गाथा में भी अत्यन्त अप्रतिबुद्ध की चर्चा की है, नयविभाग से अपरिचित शिष्य लिया है।

२३ से २५ तक की गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं - **'अब अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) को समझाने के लिए व्यवसाय करते हैं।'**

'साधु शब्द का अर्थ सज्जनपुरुष होता है।' इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। नीतिसम्बन्धी निम्नांकित छन्द तो प्रसिद्ध ही है -

''विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

दुर्जनों की विद्या विवाद के लिए होती है, धन मद के लिए होता है और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है; जबकि साधुपुरुषों की विद्या ज्ञान के लिए होती है, धन दान के लिए होता है और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होती है।''

उक्त छन्द के 'साधु' शब्द का प्रयोग मुनिराज के अर्थ में नहीं, अपितु सज्जनपुरुष के अर्थ में ही हुआ है; क्योंकि मुनिराजों के पास धन कहाँ होता है ? 'साधु का धन दान देने के लिए होता है' - इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि यहाँ साधु शब्द का प्रयोग धनवान सज्जन गृहस्थ के लिए किया गया है।

इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि यह ग्रन्थ अज्ञानियों के लिए ही है, मुनिराजों के लिए है ही नहीं; मुनिराजों के लिए भी इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी है। हम तो मात्र यह कहना चाहते हैं कि यह ग्रन्थराज अपनी-अपनी योग्यतानुसार ज्ञानी-अज्ञानी, श्रावक-साधु सभी के

लिए अत्यन्त उपयोगी है; सभी इसका गहराई से मंथन करें, किसी के लिए भी इसके पढ़ने का निषेध न हो।

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थे–नात्मैक एव वस्त्वंतराभावात्। यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावा– नतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम्। तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावा–नतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरम्। तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।।१६।। स किल –

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः।।१६।।

१६वीं गाथा की व्याख्या आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

''यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है। इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से समझाते हैं कि साधुपुरुष को दर्शन–ज्ञान–चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं, सदा उपासना करने योग्य हैं; किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं; अन्य वस्तु नहीं हैं।

जिसप्रकार देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, दर्शन और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से देवदत्त ही हैं; अन्य वस्तु नहीं। उसीप्रकार आत्मा में भी घटित कर लेना चाहिए कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं।

इसलिए यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है, सेवन करने योग्य है।''

सिद्धदशा में होनेवाली आत्माराधना साध्यभाव की उपासना है और चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होनेवाली आत्माराधना साधकभाव की उपासना है।

जैसा कि उत्थानिका के कलश में कहा था कि **'एष ज्ञानघनो आत्मा नित्यं समुपास्यताम्'** – इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा की ही नित्य उपासना करो; ठीक उसीप्रकार टीका के अन्त में भी यही निष्कर्ष निकाला है कि **'तत् आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते** – वह एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है' – यह स्वतः ही सिद्ध हो गया।

अब आचार्य अमृतचन्द्र चार कलशों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि प्रमाण और नयों से आत्मा की उक्त सन्दर्भ में क्या स्थिति है और हमें क्या करना चाहिए ?

उक्त चारों कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मेचक कहा है आतमा दृग–ज्ञान अर आचरण से।
यह एक निज परमातमा बस है अमेचक स्वयं से।।
परमाण से मेचक–अमेचक एक ही क्षण में अहा।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा।।१६।।

यदि प्रमाण दृष्टि से देखें तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप मेचक भी है और एक अवस्थारूप अमेचक भी है; क्योंकि इस आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तीनपना-अनेकपना प्राप्त है और यह स्वयं से एक है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ।।१७।।
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतर-ध्वंसि-स्वभावत्वाद-मेचकः ।।१८।।
आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ।।१९।।

आतमा है एक यद्यपि किन्तु नय व्यवहार से।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से।।
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में।
अर इसे जाने बिन जगतजन ना लगें सन्मार्ग में ।।१७।।
आतमा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से।।
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से।
है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से।।१८।।
मेचक-अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या।
बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या।।
हो साध्यसिद्धि एक बस सद्ज्ञानदर्शनचरण से।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचें संसरण से।।१९।।

यद्यपि यह आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो त्रिस्वभावरूपता के कारण अनेक है, अनेकाकार है, मेचक है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावोंरूप परिणमन करता है।

यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा अनेकरूप कहा गया है, तथापि परमार्थ से विचार करें तो शुद्धनिश्चयनय से देखें तो प्रगट ज्ञायकज्योतिमात्र से आत्मा एक ही है, एकस्वरूप ही है; क्योंकि सर्व अन्यद्रव्यों के स्वभाव तथा उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभाव भावों को दूर करने का उसका स्वभाव है। इसलिए वह परमार्थ से शुद्ध है, एकाकार है, अमेचक है।

यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है, मलिन है; अथवा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है, शुद्ध है, निर्मल है – ऐसी चिन्ता से बस हो, इसप्रकार के अधिक विकल्पों से कोई लाभ नहीं है; क्योंकि साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन भावों से ही होती है, अन्यप्रकार से नहीं। – यह नियम है।

उक्त कलशों में एकाकार-अनेकाकार, अमेचक-मेचक, निर्मल-मलिन, अभेद-भेद के सन्दर्भ में निश्चय, व्यवहार और प्रमाण का पक्ष प्रस्तुत करने के उपरान्त यह बताया गया है कि यह सब जान लेने के बाद इन्हीं विकल्पों में उलझे रहने से कोई लाभ नहीं है; क्योंकि साध्य की सिद्धि -

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।१७।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।१८।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन।।१७।।

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन।।१८।।

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवा-

अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति इन विकल्पों से प्राप्त होनेवाली नहीं है। साध्य की सिद्धि तो निश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है अथवा इसी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही होनेवाली है।

देखो, गंभीरता से विचारने की बात यह है कि यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा है, अनेकाकार होने से मेचक कहा जा रहा है। जहाँ शुद्धनय के विषय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा हो, वहाँ रागादिक मलिनता की तो बात ही क्या करें ?

अब आगामी १७-१८वीं गाथाओं में उसी बात को उदाहरण से समझाकर स्पष्ट करते हैं, जिसकी चर्चा १६वीं गाथा में की गई है। मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

'यह नृपति है' - यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें।।१७।।
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए।।१८।।

जिसप्रकार कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, उसकी लगन से सेवा करता है; ठीक उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए, उसके बाद उसी का अनुचरण करना चाहिए; अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमें तन्मय हो जाना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जिसप्रकार धनार्थीपुरुष पहले तो राजा को प्रयत्नपूर्वक जानता है, फिर उसका श्रद्धान करता है और फिर उसी का अनुचरण करता है, सेवा करता है, उसकी आज्ञा में रहता है, उसे हर

नुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्।

तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः।

यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।।१७-१८।।

तरह से प्रसन्न रखता है; उसीप्रकार मोक्षार्थीपुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए; और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए, अनुभव के द्वारा उसी में लीन हो जाना चाहिए; क्योंकि साध्य की सिद्धि की उपपत्ति इसीप्रकार सम्भव है, अन्यप्रकार से नहीं।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्वप्रकार से भेदविज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है – इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा श्रद्धान उदित होता है; तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादिबंध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ – अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता; समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को साध नहीं सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।''

ध्यान रहे, यहाँ 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग निर्मल पर्याय के अर्थ में न होकर त्रिकालीध्रुव के अर्थ में है।

अब आचार्यदेव कलशरूप काव्य लिखते हैं। ये सत्तरह-अठारहवीं गाथाएँ भी ऐसी गाथाएँ हैं कि जिनकी टीका के बीच में ही आचार्य अमृतचन्द्र ने कलशरूप काव्य लिखा है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सतत-मनुभवामो-ऽनंत-चैतन्य-चिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०।।

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्, तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येऽपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात् ? एवमेतत्।

(हरिगीत)

त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ।।
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का।
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ।।२०।।

यद्यपि जिसने किसी भी प्रकार से तीनपने को अंगीकार किया है, तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई है, निर्मलता से उदय को प्राप्त है और अनन्तचैतन्य है चिह्न जिसका; ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि उसके अनुभव के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती - ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मानुभव की पावन प्रेरणा से परिपूर्ण यह कलश लिखने के बाद जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है -

''प्रश्न - आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है; अतः वह ज्ञान की उपासना निरन्तर करता ही है। फिर भी उसे ज्ञान की उपासना करने की प्रेरणा क्यों दी जाती है ?

उत्तर - ऐसी बात नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है; तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नहीं करता; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति या तो स्वयंबुद्धत्व से होती है या फिर बोधितबुद्धत्व से होती है। तात्पर्य यह है कि या तो काललब्धि आने पर स्वयं ही जान ले या फिर कोई उपदेश देनेवाला मिल जाये, तब जाने।

प्रश्न - तो क्या आत्मा तबतक अज्ञानी ही रहता है, जबतक कि वह या तो स्वयं नहीं जान लेता या फिर किसी के द्वारा समझाने पर नहीं जान लेता ?

उत्तर - हाँ, बात तो ऐसी ही है; क्योंकि उसे अनादि से सदा अप्रतिबुद्धत्व ही रहा है, अज्ञानदशा ही रही है।''

अत: यह सुनिश्चित है कि ज्ञान के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने पर भी जबतक यह आत्मा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा को जानकर, उसमें अपनत्व स्थापित नहीं करता; तबतक अज्ञानी ही रहता है।

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् –

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।१९।।

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्।।१९।।

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोऽयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावा: पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदे– नानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गल–

यदि ऐसा है तो यह आत्मा कबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा; ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उसके उत्तरस्वरूप आगामी गाथा का उदय हुआ है।

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी।।१९।।

जबतक यह आत्मा ज्ञानावरणी आदि द्रव्यकर्मों, मोह–राग–द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में अहंबुद्धि रखता है, ममत्वबुद्धि रखता है; यह मानता रहता है कि 'ये सभी मैं हूँ और मुझमें ये सभी कर्म–नोकर्म हैं' – तबतक अप्रतिबुद्ध रहता है, अज्ञानी रहता है।

तात्पर्य यह है कि कर्म–नोकर्म में अहंबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि ही अज्ञान है।

अहंबुद्धि को एकत्वबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि को स्वामित्वबुद्धि भी कहते हैं।

परपदार्थों और उनके निमित्त से होनेवाले विकारीभावों में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि ही अज्ञान है, अप्रतिबुद्धता है।

'ये ही मैं हूँ' – इसप्रकार की मान्यता का नाम अहंबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है और 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' – इसप्रकार की मान्यता का नाम ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है। इसीप्रकार 'मैं इनका कर्ता हूँ, ये मेरे कर्ता हैं' – इसप्रकार की मान्यता का नाम कर्तृत्वबुद्धि है और मैं इनका भोक्ता हूँ, ये मेरे भोक्ता हैं – इसप्रकार की बुद्धि का नाम भोक्तृत्वबुद्धि है।

इनमें कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध तो कर्ता–कर्म अधिकार में किया जायेगा; यहाँ तो एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि के सन्दर्भ में ही विचार अपेक्षित है।

इसी बात को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गलस्कन्धों में 'यह घट है' – इसप्रकार की अनुभूति होती है और

घट में 'यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गलस्कन्ध है' – इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है।

उसीप्रकार जो मोह आदि अन्तरंग परिणामरूप कर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म – परिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोंतरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः।

यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति।।१९।।

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला–
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै–
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव।।२१।।

सभी पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं; उनमें 'यह मैं हूँ' – इसप्रकार तथा आत्मा में यह मोह आदि अन्तरंग परिणामरूप कर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म आत्मतिरस्कारी पुद्गल परिणाम हैं – इसप्रकार वस्तु के अभेद से जबतक अनुभूति है, तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है।

जिसप्रकार रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व–पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है। इसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं।

इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से, जैसे भी हो; जिसका मूल भेदविज्ञान है, ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब ही आत्मा प्रतिबुद्ध होगा, ज्ञानी होगा।''

इसप्रकार बात अत्यन्त स्पष्ट है और आगे भी इसी विषय पर मन्थन चलनेवाला है। अतः यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशकाव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से।
भेदज्ञान मूलक अविचल अनुभूति हुई हो।।
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी।
अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी।।२१।।

जो पुरुष अपने आप ही अथवा पर के उपदेश से किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान है मूल जिसका, ऐसी अपने आत्मा की अविचल अनुभूति प्राप्त करते हैं; वे पुरुष ही दर्पण की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्तभावों के स्वभावों से निरन्तर विकाररहित होते हैं; ज्ञान में जो

ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं, उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

उक्त कलश में मूलत: तो टीका की बात को ही कहा है, फिर भी इसमें दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि अनुभूति को भेदज्ञानमूलक कहा है और दूसरी यह कि आत्मा के ज्ञानदर्पण में अनन्तपदार्थ झलकें, पर उससे ज्ञानी आत्मविकार को प्राप्त नहीं होते।

जिसप्रकार अग्नि के प्रतिबिम्बित होने से दर्पण गर्म नहीं होता, उसीप्रकार रागादि के ज्ञेय बनने से आत्मा रागादिरूप परिणमित नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि परपदार्थों के जानने से न तो लाभ है और न हानि ही है। उनके नहीं जानने से तो हमारा कुछ बिगड़नेवाला है ही नहीं; परन्तु अपने ज्ञान में उनके ज्ञेय बनने से भी कुछ बिगड़नेवाला नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार दर्पण में अनन्त पदार्थ झलकते हैं, पर उससे दर्पण विकृत नहीं होता; उसीप्रकार अनन्त ज्ञेयों के जानने से भी ही हमारा ज्ञानदर्पण विकृत होनेवाला नहीं है। बिगड़ता तो उन्हें अपना जानने से है, अपना मानने से है, उनमें ही जमने-रमने से है, उनका ही ध्यान करने से है। अकेले जाननेमात्र से कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है। अत: न उन्हें जानने का हठ करना चाहिए और न नहीं जानने का भी हठ करना चाहिए। सहजभाव से जैसे जो ज्ञात हो जाये, हो जाने दें; न होवे तो न होने दें; उनके प्रति सहज-भाव धारण करना ही श्रेयस्कर है।

इस कलश में इन्हीं दो बातों पर वजन दिया गया है।

इसके बाद दो गाथायें आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त होती हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति में नहीं हैं। वे दोनों गाथायें इसप्रकार हैं -

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो।।

(हरिगीत)

अपनेपने से जीव जाने मोक्ष और अजीव को।
अपनेपने से जानने से बंध होता सभी को।।

जब जीव में तन्मयता से उपयोग लगता है तो मोक्ष होता है और अजीव में तन्मयता से उपयोग लगता है तो बंध होता है। बंध और मोक्ष की संक्षेप में यही प्रक्रिया है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं।।

(हरिगीत)

नियतनय से जिय करे जिस भाव को उस भाव का।
किन्तु नय व्यवहार से कर्ता है पुद्गल कर्म का।।

निश्चयनय से आत्मा जिस भाव को करता है, उसी भाव का कर्ता होता है और व्यवहारनय से पुद्गलकर्म का कर्ता होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में तो ये गाथायें हैं ही नहीं, आचार्य जयसेन ने भी इनका सामान्य

अर्थ ही लिखा है, विशेष कुछ नहीं कहा है। उन्होंने इनके बारे में जो कुछ कहा है, उसका सार इसप्रकार है –

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत –

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि।।२१।।
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा।।२०।।

''शुद्धजीव में उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि (अपनत्वबुद्धि) से परिणत हुआ तो मोक्ष होता है और देहादिक अजीव में उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि (अपनत्वबुद्धि) से परिणत हुआ तो बंध होता है – ऐसा संक्षेप में सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। इसलिए सहजानन्दस्वभावी निजात्मा में रति करना चाहिए और परद्रव्य में रति नहीं करना चाहिए।

यह आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धभावों का और शुद्धनिश्चयनय से शुद्धभावों का कर्ता है तथा अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है। अत: संसार से भयभीत मुमुक्षुओं के द्वारा रागादि से रहित निज शुद्धात्मा की भावना करना चाहिए।''

सबकुछ मिलाकर सार यह है कि देहादि पर-पदार्थों से एकत्व, ममत्व छोड़कर, उनके कर्तृत्व से भी मुख मोड़कर निज शुद्धात्मा की आराधना करना ही श्रेयस्कर है।

दूसरी गाथा की प्रथम पंक्ति कर्ता-कर्म अधिकार में दो स्थानों पर हूबहू प्राप्त होती है। आत्मख्याति के अनुसार उनकी क्रम संख्या ९१ एवं १२६ है और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार उनकी क्रम संख्या क्रमश: ९८ एवं १३४ है। उक्त गाथा में जो विषयवस्तु है, वह भी कर्ता-कर्म भाव से सम्बन्धित है; अत: इस पर विस्तृत मीमांसा कर्ता-कर्म अधिकार में करना ही उचित प्रतीत होता है।

आगामी गाथाओं की सन्धि भी १९वीं गाथा से ही मिलती है। १९वीं गाथा में यह कहा था कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म में एकत्व-ममत्व रखेगा; तबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा; अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे पहिचानें कि यह व्यक्ति अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है ? तात्पर्य यह है कि अज्ञानी की पहिचान के चिह्न क्या हैं ?

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप आगामी २० से २२ तक की गाथायें लिखी गई हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब परद्रव्य ये।
हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ वे ही।।२०।।

आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि।।२१।।
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः।।२२।।

यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा।

नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्नि–

हम थे सभी के या हमारे थे सभी गतकाल में।
हम होंयगे उनके हमारे वे अनागत काल में।।२१।।
ऐसी असम्भव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें।।२२।।

जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्यों में – सचित्त स्त्री–पुत्रादिक में, अचित्त धन–धान्यादिक में, मिश्र ग्राम–नगरादिक में ऐसा विकल्प करता है, मानता है कि मैं ये हूँ, ये सब द्रव्य मैं हूँ; मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं; ये मेरे पहले थे, इनका मैं पहले था; तथा ये सब भविष्य में मेरे होंगे, मैं भी भविष्य में इनका होऊँगा – वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; किन्तु जो पुरुष वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानता हुआ ऐसे झूठे विकल्प नहीं करता है, वह ज्ञानी है।

तात्पर्य यह है कि पर में अपनापन अनुभव करनेवाले अज्ञानी हैं और अपने आत्मा में अपनापन अनुभव करनेवाले ज्ञानी हैं। ज्ञानी–अज्ञानी की मूलत: यही पहिचान है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को अग्नि और ईंधन का उदाहरण देकर आत्मख्याति में इसप्रकार समझाते हैं –

''जिसप्रकार कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि जो अग्नि है, वही ईंधन है और जो ईंधन है, वही अग्नि है; अग्नि का ईंधन है और ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था और ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी तो वह अज्ञानी है; क्योंकि इसप्रकार के विकल्पों से अज्ञानी पहिचाना जाता है।

इसीप्रकार परद्रव्यों में – मैं ये परद्रव्य हूँ, ये परद्रव्य मुझरूप हैं; ये परद्रव्य मेरे हैं; मैं इन परद्रव्यों का हूँ; ये पहले मेरे थे, मैं पहले इनका था; ये भविष्य में मेरे होंगे और मैं भी भविष्य में इनका होऊँगा – इसप्रकार के झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध अज्ञानी पहिचाना जाता है।

अग्नि है, वह ईंधन नहीं है और ईंधन है, वह अग्नि नहीं है; अग्नि है, वह अग्नि ही है और ईंधन है, वह ईंधन ही है। अग्नि का ईंधन नहीं है और ईंधन की अग्नि नहीं है; अग्नि की अग्नि रस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात्।।२०-२२।।

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
~~इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः~~
किल किलयति कालेक्वापि तादात्म्यवृत्तिम्।।२२।।

है और ईंधन का ईंधन है। अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी; अग्नि की अग्नि पहले थी, ईंधन का ईंधन पहले था, अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी; अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी और ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा।

इसप्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो तो वह उसके प्रतिबुद्ध होने का लक्षण है।

इसीप्रकार मैं - ये परद्रव्य नहीं हूँ और ये परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं हैं; मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य हैं, वे परद्रव्य ही हैं; मेरे ये परद्रव्य नहीं हैं और इन परद्रव्यों का मैं नहीं हूँ; मैं मेरा हूँ और परद्रव्य के परद्रव्य हैं; ये परद्रव्य पहले मेरे नहीं थे और इन परद्रव्यों का मैं पहले नहीं था; मेरा ही मैं पहले था और परद्रव्यों के परद्रव्य ही पहले थे। ये परद्रव्य भविष्य में मेरे नहीं होंगे और न मैं भविष्य में इनका होऊँगा; मैं भविष्य में अपना ही रहूँगा और ये परद्रव्य भविष्य में इनके ही रहेंगे।

इसप्रकार जो व्यक्ति स्वद्रव्य में ही आत्मविकल्प करते हैं, स्वद्रव्य को निज जानते-मानते हैं; वे ही प्रतिबुद्ध हैं, ज्ञानी हैं। ज्ञानी का यही लक्षण है और इन्हीं लक्षणों से ज्ञानी पहिचाना जाता है।''

उक्त कथन में अनेकप्रकार से एक ही बात कही गई है कि अपनी ज्ञान पर्याय में ज्ञात होनेवाले परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व करना ही अज्ञान है और परद्रव्यों से एकत्व-ममत्व तोड़कर अपने आत्मा में एकत्व-ममत्व करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन है। अतः इस एकत्व-ममत्व के आधार पर ही ज्ञानी-अज्ञानी की पहिचान होती है।

अब आचार्य अमृतचन्द्र कलश के माध्यम से प्रेरणा देते हैं कि हे जगतजनो ! पर से एकत्व का मोह अब तो छोड़ो; क्योंकि यह आत्मा, अनात्मा के साथ कभी भी एकत्व को प्राप्त नहीं होता।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते –

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः।।२३।।

सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्।।२४।।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो।
रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो।।
तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं।
अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं।।२२।।

हे जगत के जीवो ! अनादि से लेकर आजतक अनुभव किये गये मोह को कम से कम अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उदित ज्ञान का आस्वादन करो; क्योंकि आत्मा इस लोक में किसी भी स्थिति में अनात्मा के साथ तादात्म्य को धारण नहीं करता, पर के साथ एकमेक नहीं होता।

'रसिकजन' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष किया है।

इसप्रकार इस कलश में पर के साथ एकत्व के मोह को तोड़ने एवं अपने में एकत्व स्थापित करने की प्रेरणा देकर आचार्यदेव अब आगामी गाथाओं में तर्क से, युक्ति से इसी बात को समझाते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अज्ञान–मोहित–मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहे।।२३।।

सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ? ।।२४।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ।।२५।।

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः।

अथायमेव प्रतिबोध्यते – रे दुरात्मन् आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि,

जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब।
'ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं' – यह कहा जा सकता है
त ब । । २ ५ । ।

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह-राग-द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है; ऐसा जीव कहता है कि ये शरीरादि बद्ध और धन-धान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं।

उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है कि जिससे तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाये और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तू कह सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

पर यह तो सम्भव नहीं है; अतः तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है कि शरीरादि बद्ध और धन-धान्यादि अबद्ध पर-पदार्थ मेरे हैं।

गाथा की भावना को आत्मसात करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अनेक उदाहरणों से गाथा के मर्म को खोलते हुए कहते हैं –

''जिसप्रकार स्फटिक पाषाण में अनेकप्रकार के रंगों की निकटता के कारण अनेकरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निर्मलस्वभाव दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार एक ही साथ अनेकप्रकार के बंधन की उपाधि की अतिनिकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश अपने स्वभावभाव के तिरोभूत हो जाने से, जिसकी भेदज्ञानज्योति पूर्णतः अस्त हो गई है और अज्ञान से विमोहित है हृदय जिसका – ऐसा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीव स्व-पर का भेद न करके उन अस्वभावभावों को अपना मानता हुआ पुद्गलद्रव्य में अपनापन स्थापित करता है।

ऐसे अज्ञानीजीव को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मन् ! घास और अनाज को परम-अविवेकपूर्वक एकसाथ खानेवाले हाथी के समान तू स्व और पर को मिलाकर एक

देखने के इस स्वभाव को छोड़ ! छोड़ !! संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से सम्पूर्णत: रहित एवं विश्व की एकमात्र अद्वितीय ज्योति – ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान में जाना गया नित्य उपयोगलक्षण जीवद्रव्य पुद्गल कैसे हो गया, जो तू कहता है, अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है।

यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूति: किल घटेत्, तत्तु न कथंचनापि स्यात्।

तथा हि – यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयो: प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते।

तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ।।२३-२५।।

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्ते: पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।२३।।

यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो; तभी 'नमक के पानी' के अनुभव की भाँति तेरी यह अनुभूति ठीक हो सकती है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से बनता नहीं है।

अब इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं। जिसप्रकार खारापन है लक्षण जिसका, ऐसा नमक पानीरूप होता दिखाई देता है और प्रवाहीपन है लक्षण जिसका, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है; क्योंकि खारेपन और प्रवाहीपन में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है, कोई बाधा नहीं है। किन्तु नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होता हुआ दिखाई नहीं देता और नित्य अनुपयोगलक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप होता हुआ दिखाई नहीं देता; क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का एक ही साथ रहने में विरोध है। इसकारण जड़ और चेतन कभी एक नहीं हो सकते।

इसलिए तू सर्वप्रकार प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' – इसप्रकार अनुभव कर।''

इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र का हृदय आन्दोलित हो उठा है। तभी तो वे एक ओर **'हे दुरात्मन् !'** इस शब्द का उपयोग करते हैं, वहीं दूसरी ओर **'प्रसीद'** **'विबुध्यस्व'** – इन प्रेरणादायक कोमल शब्दों का उपयोग करते हैं, जिसका अर्थ होता है – प्रसन्न होवो, चित्त को शान्त करो; समझो, सावधान होवो; नादानी न करो।

इसके तत्काल बाद जो कलश उन्होंने लिखा है, उसमें भी अत्यन्त कोमल शब्दों में समझाया है।

टीका में गाथा का भाव एकदम स्पष्ट हो गया है; क्योंकि इसमें स्फटिक पाषाण, हाथी आदि पशु, नमक के पानी तथा प्रकाश और अन्धकार का उदाहरण देकर बात को एकदम सरल एवं बोधगम्य बना दिया गया है।

आत्मानुभव की पावन प्रेरणा देनेवाले उस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का।
हे आत्मन् ! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का।।
जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही।
तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को।।२३।।

अरे भाई ! किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी निजात्मतत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त को पड़ौसी बनकर आत्मा का अनुभव कर; जिससे तू अपने आत्मा के विलास को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

आचार्यदेव करुणा से अत्यन्त विगलित होकर मर्मस्पर्शी कोमल शब्दों में समझा रहे हैं कि अरे भाई ! मरणतुल्य कष्ट हो तो भी एकबार पर से भिन्न अपने आत्मा को समझने का उग्र पुरुषार्थ करो।

अबतक तो तुमने देह में एकत्वबुद्धि की है, अहंबुद्धि की है, ममत्वबुद्धि की है, स्वामित्वबुद्धि की है; पर इससे अनन्तदु:खों के अलावा तुम्हें क्या मिला ? एकबार इस बात पर गम्भीरता से विचार करो और एकबार इस देह का पड़ौसी बनकर देखो तो तुम्हारा इसमें जो एकत्व का मोह है, वह अवश्य ही टूट जायेगा, छूट जायेगा और अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगेगी; जो आगे जाकर आनन्द के सागर में परिणमित हो जायेगी।

जिसप्रकार हम पड़ौसी को अपना भी नहीं मानते और उससे असद्व्यवहार भी नहीं करते; उसीप्रकार इस देह में एकत्वबुद्धि भी नहीं रखना और इससे असद्व्यवहार भी नहीं करना।

इससे पड़ौसी धर्म तो निभाना, पर इसे अपने घर में नहीं बिठा लेना। हमें पक्का विश्वास है कि यदि तुम एकबार भी परद्रव्यों से भिन्न अपने भगवान आत्मा का विलास देखोगे, वैभव देखोगे तो अवश्य ही पर से एकत्व के मोह को छोड़ दोगे। अत: भाई ! तुम हमारी बात सुनो और एकबार आत्मतत्त्व के कौतूहली बनकर उसे देह से भिन्न अनुभव करो; तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

यदि पड़ौसी का जीवन खतरे में हो तो हम उसकी सुरक्षा करते हैं, उसे जीवनयापन में सहज सहयोग करते हैं; पर इसके लिए अपना जीवन बरबाद नहीं करते, उसके लिए भोगसामग्री नहीं जुटाते। इसीप्रकार इस देह की सुरक्षा के लिए शुद्धसात्त्विक आहार का ग्रहण अवश्य करो; पर इसके पीछे अभक्ष्यादि का भक्षण कर नरक-निगोद जाने की तैयारी मत करो।

इसे शत्रु भी मत मानो, इससे शत्रु जैसा व्यवहार भी मत करो और घरवाला भी मत मानो, घरवालों जैसा भी व्यवहार न करो। बस, पड़ौसी जैसा व्यवहार करो – यही उचित है।

इसके लिए जीवन का सर्वस्व समर्पण करना उचित नहीं है, सर्वस्व समर्पण तो निज भगवान आत्मा पर ही करना है।

उक्त बात को सुनकर अज्ञानी कहता है कि –

अथाहाप्रतिबुद्धः –

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः।।२६।।

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा –

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गल–द्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः।

(हरिगीत)

यदि देह ना हो जीव तो तीर्थंकरों का स्तवन।
सब असत् होगा इसलिए बस देह ही है आतमा।।२६।।

अज्ञानी जीव कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जिनागम में जो स्तुति की गई है; वह सभी मिथ्या है। इसलिए हम समझते हैं कि देह ही आत्मा है।

पिछली गाथाओं में देह और आत्मा की भिन्नता की बात विस्तार से समझाई गई है और यह प्रेरणा भी दी गई है कि हे भाई ! तू कैसे भी करके मर–पच कर भी इस देह से एकत्व के मोह को छोड़ दे।

उक्त संदर्भ में अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) का कहना यह है कि जैनशास्त्रों में देह के गुणों के आधार पर भी तीर्थंकर भगवन्तों एवं आचार्यों की स्तुति की गई है। ऐसी स्थिति में यदि देह को जीव नहीं मानेंगे तो वह स्तुति मिथ्या सिद्ध होगी। अतः भलाई इसी में है कि हम देह को ही जीव स्वीकार कर लें।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की आत्मख्याति टीका लिखते हुए एक छन्द के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि देह के आश्रय से तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति किसप्रकार की जाती है।

उस छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से।

जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से।।
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें।
उन सहस अठ लक्षण सहित जिन-सूरि को वन्दन करें।।२४।।

नैवं, नयविभागानभिज्ञोऽसि –

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि
ख ल ु ए क क ा े ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।२७।।
व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः।।२७।।

वे तीर्थंकर और आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं; अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिक को भी ढक देते हैं; अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते हैं, हर लेते हैं; अपनी दिव्यध्वनि से भव्यजीवों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।

तीर्थंकरों और आचार्यों की देह को आत्मा नहीं मानने पर इसप्रकार की गई स्तुति मिथ्या सिद्ध होगी। इसलिए हमारा तो पक्का यही निश्चय है कि पुद्गलद्रव्य रूप शरीर ही आत्मा है।

इसप्रकार नयविभाग से अपरिचित अप्रतिबुद्ध शिष्य ने अद्यावधि उपलब्ध स्तुति साहित्य को आधार बनाकर देह में अनादिकालीन एकत्वबुद्धि का ही पोषण किया है।

ये शारीरिक गुण जिन जिनराज तीर्थंकर भगवान के व्यवहार से बताये गये हैं; यदि निश्चय से विचार करें तो ये शारीरिक गुण जिनराज के नहीं हैं, तीर्थंकर भगवान के नहीं हैं, भगवान आत्मा के नहीं हैं।

अप्रतिबुद्ध के उक्त कथन के उत्तर में आचार्य अमृतचन्द्र की लेखनी से एक ही वाक्य प्रस्फुटित होता है कि – ''ऐसा नहीं है, तुम नयविभाग से अनभिज्ञ हो, नयविभाग को नहीं जानते हो।'' – इसकारण ही ऐसी बातें करते हो। मूल समस्या नयविभाग से अनभिज्ञता की ही है। नयविभाग को समझे बिना देह में एकत्वबुद्धि एवं ममत्वबुद्धिरूप अज्ञान का, अगृहीत मिथ्यात्व का पोषण हो जाता है। अतः नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है, नयविभाग का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वह नयविभाग क्या है ? – इसके उत्तर में ही २७वीं गाथा का अवतार हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

'देह-चेतन एक हैं' – यह वचन है व्यवहार का।
'ये एक हो सकते नहीं' – यह कथन है परमार्थ
क ा । । २ ७ । ।

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

उक्त कथन के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि देह के गुणों के आधार पर की गई तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति व्यवहारनय से सत्यार्थ है; क्योंकि व्यवहारनय से तो जीव और देह एक ही हैं। इसप्रकार वह स्तुति मिथ्या सिद्ध नहीं होगी। साथ ही यह बात भी है कि वह स्तुति

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेति। एवं हि किल नयविभागः।

ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम्।।२७।। तथा हि –

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
~~मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।~~
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान्।।२८।।

मात्र व्यवहार से ही सत्यार्थ है। यदि कोई व्यक्ति निश्चय से भी उसे सत्य समझ ले तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा; क्योंकि फिर तो वह उसके आधार पर देह और जीव को निश्चय से भी एक ही मान लेगा और ऐसा मानने को तो जैनदर्शन में मिथ्यात्व कहा गया है।

आत्मख्याति में सोने और चाँदी का उदाहरण देकर इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर की एकक्षेत्र में एकसाथ रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। इसप्रकार मात्र व्यवहार से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से तो पीले स्वभाववाला सोना और सफेद स्वभाववाली चाँदी के परस्पर अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः उनमें अनेकत्व ही है।

इसीप्रकार उपयोगस्वभावी आत्मा और अनुपयोगस्वभावी शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः अनेकत्व ही है – ऐसा यह प्रगट नयविभाग है; अतः यह सुनिश्चित ही है कि व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है, निश्चयनय से नहीं।''

आगे की तीन गाथाओं में इसी बात को सतर्क व सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। अतः यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

उक्त तीन गाथाओं में से दो गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इस आतमा से भिन्न पुद्गल रचित तन का स्तवन।
कर मानना कि हो गया है केवली का स्तवन।।२८।।

जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके साधु ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति।।२९।।

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव।

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात्।।२८-२९।।

परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन।
केवलि-गुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन।।२९।।

किन्तु वह स्तवन निश्चयनय से योग्य नहीं है; क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र २७वीं गाथा की टीका में दिये गये चाँदी के संयोगवाले सोने के उदाहरण को ही आगे बढ़ाकर इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है -

''यद्यपि परमार्थ से सोना तो पीला ही होता है; तथापि उसमें मिली हुई चाँदी की सफेदी के कारण सोने को भी सफेद सोना कह दिया जाता है; पर यह कथन व्यवहारमात्र ही है। उसीप्रकार सफेदी और लालिमा अथवा खून का सफेद होना आदि शरीर के ही गुण हैं। उनके आधार पर तीर्थंकर केवली भगवान को सफेद, लाल कहकर अथवा सफेद खून वाला कहकर स्तुति करना, मात्र व्यवहार स्तुति ही है। परमार्थ से विचार करें तो लाल-सफेद होना या सफेद खूनवाला होना तीर्थंकर केवली का स्वभाव नहीं है। इसलिए निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

जिसप्रकार चाँदी की सफेदी का सोने में अभाव होने से निश्चय से सफेद सोना कहना उचित नहीं है, सोना तो पीला ही होता है; अतः सोने को पीला कहना ही सही है। इसीप्रकार शरीर के गुणों का केवली में अभाव होने से श्वेत-लाल कहने से अथवा सफेद खूनवाला कहने से केवली का स्तवन नहीं होता; केवली के गुणों के स्तवन करने से ही केवली का स्तवन होता है।''

यद्यपि यह बात सत्य है कि शरीर आत्मा नहीं है, तथापि यह भी सत्य ही है कि अरहन्त अवस्था में भगवान आत्मा शरीर में ही विराजता है, एकप्रकार से वह शरीर का अधिष्ठाता ही है।

देहादि सम्बन्धी अतिशयों में भी आत्मा का पुण्योदय निमित्त होता है। अत: देहादि के आधार पर की गई स्तुति को सर्वथा नकारना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि भक्तजनों को अमूर्तिक आत्मा तो दिखाई देता नहीं है; उन्हें तो उस देह के ही दर्शन होते हैं, जिसमें वह भगवान आत्मा विराजमान है। अत: व्यवहार से उस देहदर्शन को ही देवदर्शन कहते हैं।

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत् –

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति।।३०।।

तथा हि –

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्।।२५।।

अरहन्त भगवान की दिव्यध्वनि से भी भव्यजीवों को धर्मलाभ होता है, देशना प्राप्त होती है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में देशनालब्धि आवश्यक मानी गई है।

अत: देवदर्शन और दिव्यध्वनिश्रवण के लाभ को ध्यान में रखकर ही देहादि को आधार बनाकर देवाधिदेव अरहन्त देव की स्तुति की जाती है; पर वह है तो पराश्रित व्यवहार ही, उसे निश्चय के समान सत्यार्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि जब शरीर में ही भगवान आत्मा विराजता है, एकप्रकार से जब वह शरीर का अधिष्ठाता ही है; तब निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन क्यों नहीं हो सकता ? इसी प्रश्न के उत्तर में ३०वीं गाथा का जन्म हुआ है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वर्णन नहीं है नगरपति का नगर–वर्णन जिसतरह।
केवली–वन्दन नहीं है देह–वन्दन उसतरह।।३०।।

जिसप्रकार नगर का वर्णन करने पर भी, वह वर्णन राजा का वर्णन नहीं हो जाता; उसीप्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं हो जाता।

उक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने विशेष कुछ नहीं लिखा है; पर नगर वर्णन और जिनेन्द्र वर्णन के सन्दर्भ में नमूने के रूप में दो आर्या छन्द अवश्य लिखे हैं और अन्त में लिख दिया है कि **जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से उसके अधिष्ठाता राजा का वर्णन नहीं हो जाता, उसीप्रकार शरीर की स्तुति करने से उसके अधिष्ठाता तीर्थंकर भगवान की स्तुति भी नहीं हो सकती है।**

उन छन्दों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को।
अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को।।
सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौन्दर्य से।
अद्भुत अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से।।२५।।

इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात्।

तथैव –

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति।।२६।।

इति शरीरे स्तूयमानेऽपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादि–गुणाभावात्स्तवनं न स्यात्।

गम्भीर सागर के समान महान मानस मंग हैं।
नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग हैं।।
सहज ही अद्भुत अनूपम अपूरव लावण्य है।
क्षोभ विरहित अर अचल जयवन्त जिनवर अंग हैं।।२६।।

ऊँचे कोट, गहरी खाई और बाग–बगीचों से सम्पन्न इस नगर ने मानो कोट के बहाने आकाश को ग्रस लिया है, खाई के बहाने पाताल को पी लिया है और बाग–बगीचों के बहाने सम्पूर्ण भूमितल को निगल लिया है।

तात्पर्य यह है कि इस नगर की सुरक्षा का साधन कोट अत्यन्त ऊँचा है और जल से लबालब भरी हुई खाई अत्यन्त गहरी है तथा सम्पूर्ण नगर मनोहारी बाग–बगीचों से परिपूर्ण है। सब कुछ मिलाकर यह नगर पूर्णतः सुरक्षित एवं मनोहारी है।

जिसमें अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, जो समुद्र की भाँति क्षोभ रहित है और जिसमें सभी अंग सदा सुस्थित और अविकारी हैं – ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उत्कृष्ट रूप सदा जयवन्त वर्तता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि नगर की सुन्दरता एवं सुव्यवस्था राजा का ही तो कार्य है; सुयोग्य राजा के बिना नगर का सुव्यवस्थित होना संभव नहीं है। अतः नगर की प्रशंसा एक प्रकार से राजा की ही प्रशंसा है। इसीप्रकार देह का सुन्दर होना, सुगठित होना, सुव्यवस्थित होना भी तो उसमें रहनेवाले आत्मा के पुण्योदय का सूचक है; अतः देह के आधार पर की गई स्तुति को सर्वथा अस्वीकार कैसे किया जा सकता है ?

अरे भाई, हमने सर्वथा अस्वीकार कहाँ किया है ? व्यवहार से तो उसे तीर्थंकर केवली की

स्तुति माना ही है। हाँ, निश्चयनय से, परमार्थ से अवश्य अस्वीकार किया है और वह सबप्रकार से ठीक ही है; क्योंकि निश्चय से तो शरीर के गुण आत्मा के गुण हो ही नहीं सकते। अत: निश्चय से शरीर के आधार पर की गई स्तुति को तीर्थंकर केवली की स्तुति कैसे माना जा सकता है ?

इस सम्पूर्ण प्रकरण में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रकरण भेदविज्ञान का है, देह से एकत्व के व्यामोह को छुड़ाने का है; स्तुति की चर्चा तो बीच में उदाहरण के रूप में आ गई है; शिष्य के प्रश्न के आधार पर आई है और नयविभाग के आधार पर उसका समाधान कर दिया गया है।

अथ निश्चयस्तुतिमाह। तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् –

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिता: साधव: ।।३१।।

य: खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांत:स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडश: आकर्षति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्य–

यद्यपि स्तुति साहित्य में देह को आधार बनाकर तीर्थंकर भगवान का अपरिमित गुणानुवाद किया गया है, तथापि यह बात भी हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है कि देह और आत्मा परमार्थत: भिन्न-भिन्न ही हैं। अत: देह के आधार पर की गई स्तुति मात्र उपचार ही है, व्यवहार ही है; उसके आधार पर देह और आत्मा को एक मानने की बात करना नयविभाग के अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

अरे भाई, जिनागम का प्रत्येक वाक्य नय की भाषा में ही निबद्ध है। अत: जिनागम का मर्म समझने के लिए नयविभाग जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि यह व्यवहारस्तुति है तो निश्चयस्तुति क्या है ? इसी प्रश्न के उत्तर में ३१-३२-३३वीं गाथाओं का जन्म हुआ है; जिनमें प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति का स्वरूप बतानेवाली ३१वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा।
वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा।।३१।।

जो इन्द्रियों को जीतकर आत्मा को अन्य द्रव्यों से अधिक (भिन्न) जानते हैं; वे वस्तुत: जितेन्द्रिय हैं – ऐसा निश्चयनय में स्थित साधुजन कहते हैं।

इस गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई आत्मख्याति टीका का भाव मूलत: इसप्रकार है –

''अनादि अमर्यादित बंध पर्याय के वश, जिनमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है अर्थात् जो आत्मा के साथ एकमेक हो रही है कि जिससे भेद दिखाई नहीं देता; ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट

अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से अपने से सर्वथा अलग करना अर्थात् सर्वथा भिन्न जानना – यह तो द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ।

भिन्न-भिन्न अपने विषयों में व्यापार से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं, ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं; ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न करना अर्थात् भिन्न जानना – यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।

ग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्ते: स्वयमेवानुभूय-मानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वत: पृथक्करणेन विजित्यो-परतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यां-तरेभ्य: परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुति: ।।३१।।

ग्राह्य-ग्राहकलक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण अपने संवेदन के साथ एक जैसे दिखाई देनेवाले भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को अपनी चैतन्यशक्ति से स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा अपने से सर्वथा अलग करना अर्थात् सर्वथा अलग जानना – यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ।

इसप्रकार द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयभूत पदार्थों को जीतकर ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर होने से; एकत्व में टंकोत्कीर्ण, विश्व के ऊपर तिरते हुए प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव के द्वारा परमार्थ से सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का जो अनुभव करते हैं; वे निश्चय से जितेन्द्रियजिन हैं।''

हाँ, तो इसप्रकार शरीर परिणाम को प्राप्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और उपचार से मन भी – ये द्रव्येन्द्रियाँ, इनके माध्यम से जाननेवाली ज्ञान की क्षयोपशमदशा रूप भावेन्द्रियाँ और इनके माध्यम से ज्ञात होनेवाले बाह्य ज्ञेय पदार्थ – इन सभी का एक नाम 'इन्द्रिय' है।

अज्ञानीजीव अनादि से इन इन्द्रियों को आत्मा जानता रहा है, इनमें ही अपनापन स्थापित किये रहा है, इन्हीं में जमा-रमा रहा है; यही इसकी इन्द्रियाधीनता है। ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा इन इन्द्रियों से अत्यन्त भिन्न है, एकत्व में टंकोत्कीर्ण है, अविनश्वर है, प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तर में प्रकाशमान है, स्वत:सिद्ध एवं परमार्थस्वरूप है – यह जानकर, अनुभवपूर्वक जानकर; उस भगवान आत्मा में ही अपनापन हो जाना, उसमें ही जम जाना, रम जाना इन्द्रियों को जीतना है।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ तो ज्ञेय हैं ही, द्रव्येन्द्रियाँ भी ज्ञेय ही हैं। यहाँ तो यह भी कहा जा रहा है कि क्षयोपशमज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ भी ज्ञेय ही हैं। ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा इन सभी से भिन्न है। यह न जानकर इन्द्रियों को ज्ञायक जानना और इन्द्रियों के विषयों को ज्ञेय जानना और ज्ञायक को जानना ही नहीं – ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का एक प्रकार तो यह है और दूसरे ज्ञायक

भगवान आत्मा और इन तीनों प्रकार की इन्द्रियों को एकमेक मानना, इनमें कोई भेद नहीं कर पाना भी ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष है।

तीनों प्रकार की इन्द्रियों को ज्ञेय जानकर ज्ञाता भगवान आत्मा को उनसे भिन्न जानना, मानना, अनुभव करना ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का परिहार है तथा इसी को तीर्थंकर भगवान की प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति कहते हैं।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण –

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।३२।।
जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति।।३२।।
जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः।।३३।।

इस गाथा में जितेन्द्रियजिन, ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का परिहार और निश्चय स्तुति – इन तीन बातों को एकसाथ सम्मिलित किया गया है। जो इन्द्रियों को जीतता है, उसे जितेन्द्रियजिन कहते हैं और इन्द्रियों को जीतना ही प्रथम प्रकार की निश्चय स्तुति है तथा वह ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष के परिहारपूर्वक होती है। इसप्रकार ये तीनों बातें एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इसे प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति क्यों कहा जा रहा है, क्या कोई दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति भी होती है ?

हाँ, होती है। निश्चयस्तुति तीन प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति का दिग्दर्शन तो ३१वीं गाथा में हो चुका है और अब ३२वीं व ३३वीं गाथा में दूसरे व तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति की बात होगी। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोह को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा।
जितमोह जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।।३२।।
सब मोह क्षय हो जाय जब जितमोह सम्यक्श्रमण का।
तब क्षीणमोही जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।।३३।।

जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, भिन्न जानता है; उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले जितमोह कहते हैं।

जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो, तब

उस साधु को निश्चयनय के जानकार क्षीणमोह कहते हैं।

यह दूसरी व तीसरी निश्चयस्तुति का कथन है। दूसरी स्तुति भाव्य-भावकसंकर दोष के परिहारपूर्वक होती है और तीसरी स्तुति भाव्य-भावक भाव के अभावपूर्वक होती है।

पहले प्रकार की निश्चयस्तुति को जघन्य निश्चयस्तुति, दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति को मध्यम निश्चयस्तुति और तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति को उत्कृष्ट निश्चयस्तुति भी कहते हैं।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्य: सर्वेभ्यो भावांतरेभ्य: परमार्थतोऽति-रिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुति:।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन - इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदित-ज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संताना-त्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावक: क्षीणो मोह: स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्त: क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुति:।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येका-दशपंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-

जिन तीन प्रकार के होते हैं - (१) जितेन्द्रियजिन, (२) जितमोहजिन और (३) क्षीणमोहजिन।

जितमोहजिन और क्षीणमोहजिन के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली इन गाथाओं के भाव को आत्मख्याति टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जो मुनि फल देने की सामर्थ्य से उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होते हुए मोहकर्म के अनुसार प्रवृत्तिवाले भाव्यरूप अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से दूर से ही अलग करके - इसप्रकार मोह का बलपूर्वक तिरस्कार करके, समस्त भाव्य-भावकसंकर दोष दूर करके एकत्व में टंकोत्कीर्ण, विश्व के ऊपर तिरते हुए, प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव के द्वारा परमार्थ से सर्व अन्यद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं; वे निश्चय से जितमोहजिन हैं - यह दूसरी निश्चयस्तुति है।

पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न आत्मा का अनुभव करने से जो आत्मा जितमोह हुआ है; जब वही आत्मा अपने स्वभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करके मोह की सन्तति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश करता है कि फिर उसका उदय ही न हो - इसप्रकार भावकरूप मोह पूर्णत: क्षीण हो;

तब भाव्य-भावक भाव का अभाव होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण परमात्मा को प्राप्त हुआ वह आत्मा क्षीणमोहजिन कहलाता है। - यह तीसरी निश्चयस्तुति है।

गाथाओं में जहाँ 'मोह' पद का प्रयोग हुआ है; उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय शब्दों को रखकर ग्यारह-ग्यारह गाथायें बनाकर; उनका भी इसीप्रकार व्याख्यान करना तथा कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन - इन पाँच इन्द्रियों को भी 'मोह' पद के स्थान पर रखकर इन्द्रियसूत्र के रूप में पाँच-पाँच गाथायें पृथक् से बनाना और उनका भी पूर्ववत् व्याख्यान करना।

घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।।३२-३३।।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः।।२७।।

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव।।२८।।

इसप्रकार इन गाथाओं के अनुसार १६-१६ गाथायें बनाकर विस्तार से व्याख्यान करना। इसीप्रकार इन १६-१६ सूत्रों के अलावा भी विचार कर लेना।''

इसप्रकार २६वीं गाथा में आरम्भ हुआ स्तुति का प्रकरण निश्चय-व्यवहार स्तुति की विस्तृत व्याख्या के उपरान्त समाप्त होता है। अतः आचार्य अमृतचन्द्र इस प्रकरण के उपसंहाररूप में दो कलश काव्य लिखते हैं; जिनमें सम्पूर्ण वस्तु का उपसंहार करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

इस आतमा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से।
यह शरीराश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार से।।
परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन।
परमार्थ से तो भिन्न ही हैं देह अर चैतन्यघन।।२७।।

इस आतमा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से।
निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने।।
यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सद्बोध हो।
भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सद्बोध हो।।२८।।

शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है, किन्तु निश्चयनय से नहीं; इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन व्यवहार से ही कहलाता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से तो चेतन के स्तवन से ही चेतन का स्तवन होता है और वह चेतन का निश्चय स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह और क्षीणमोह रूप से जैसा कहा है, वैसा ही होता है।

जब तत्त्व से परिचित मुनिराजों ने आत्मा और शरीर के एकत्व को इसप्रकार नयविभाग की युक्ति द्वारा जड़मूल से उखाड़ फैंका है; तब निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रस्फुटित किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा ?

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरास: –

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोऽपि प्रसभोज्जृम्भित–तत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्ध: ? साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकाम: स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्य: –

इसप्रकार अज्ञानी ने तीर्थंकरों के व्यवहार स्तवन के आधार पर जो प्रश्न खड़ा किया था; उसका नयविभाग से इसप्रकार उत्तर दिया है, जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है।

इसप्रकार प्रथम कलश में सम्पूर्ण प्रकरण के निष्कर्ष को अत्यन्त सीधी और सपाट भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया है कि निश्चय से आत्मा और शरीर किसी भी रूप में एक नहीं हैं; भिन्न–भिन्न ही हैं।

दूसरे कलश के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि जब सर्वज्ञदेव ने, तत्त्वमर्मज्ञ आचार्यों ने, ज्ञानी धर्मात्माजनों ने नयविभाग के द्वारा शरीर और आत्मा के एकत्व को जड़मूल से ही उखाड़ फैंका है, पूरी तरह निरस्त कर दिया है तो फिर ऐसा कौन व्यक्ति है कि जिसकी समझ में यह बात नहीं आये कि देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है।

तात्पर्य यह है कि जिसे निजरस का रस है, जो निजरस के वेग से आकृष्ट है, प्रस्फुटित है, स्फुरायमान है, उत्साहित है; उसे तो यह बात अवश्य ही समझ में आ जायेगी।

यह कहकर आचार्यदेव इस प्रकरण को यहीं समाप्त करना चाहते हैं; क्योंकि इस कलश के बाद ही आचार्य अमृतचन्द्र तत्काल लिखते हैं कि **'इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने २६वीं गाथा में जो युक्ति रखी थी, उसका निराकरण कर दिया गया है।'**

इसप्रकार हम देखते हैं कि २६वीं गाथा से आरम्भ और ३३वीं गाथा पर समाप्त इस प्रकरण में निश्चय स्तुति और व्यवहार स्तुति का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही है; साथ में आत्मा और शरीर की अभिन्नता और भिन्नता का स्वरूप भी भली–भाँति स्पष्ट हो गया है।

आत्मख्याति टीका में ३४वीं गाथा की जितनी लम्बी उत्थानिका लिखी गई है, उतनी लम्बी उत्थानिका शायद ही किसी अन्य गाथा की लिखी गई होगी। उत्थानिका का भाव इसप्रकार है –

''इसप्रकार यह अज्ञानीजीव अनादिकालीन मोह की संतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था; अब वह तत्त्वज्ञानरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति पटलरूप आवरणकर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और अपने आपको स्वयं से ही साक्षात् दृष्टा जानकर, श्रद्धानकर, उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि इस आत्मा को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान क्या है?''

इसी प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने ३४वीं गाथा लिखी है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।३४।।
जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी।।३५।।

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम्।।३४।।
~~यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।~~
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी।।३५।।

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभाव–भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम्।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह –

(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है।।३४।।
जिसतरह कोई पुरुष पर जानकर पर परित्यजे।
बस उसतरह पर जानकर परभाव ज्ञानी परित्यजे।।३५।।

जिसकारण यह आत्मा अपने आत्मा से भिन्न समस्त पर–पदार्थों का 'वे पर हैं' – ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; उसी कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। – ऐसा नियम से जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था होना ही प्रत्याख्यान है, त्याग है; अन्य कुछ नहीं।

जिसप्रकार लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' – ऐसा जानकर परवस्तु का त्याग करता है; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव हैं' – ऐसा जानकर छोड़ देते हैं।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यह ज्ञाता–दृष्टा भगवान आत्मा अन्यद्रव्यों के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने के कारण पररूप जानकर त्याग देता है; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है; अन्य कोई त्याग करनेवाला नहीं है। – इसप्रकार आत्मा में निश्चय करके प्रत्याख्यान के समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम होने पर भी परमार्थ से देखा जाय

तो परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है; क्योंकि स्वयं तो ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं हुआ है। इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना चाहिए।''

अब इसी बात को दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हैं –

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्य-ध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।।३४-३५।।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी हो रहा है; किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर पकड़कर खींचता है, उसे नंगा कर कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है; अतः मुझे दे दे' – तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ उस वस्त्र की सर्वचिह्नों से भली-भाँति परीक्षा करके 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' – ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।

इसीप्रकार आत्मा भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपना मानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है।

किन्तु जब श्रीगुरु परभाव का विवेक करके, भेदज्ञान करके; उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा एक ज्ञानमात्र ही है, अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं'; तब बारम्बार कहे गये इस आगम वाक्य को सुनता हुआ वह समस्त स्व-पर के चिह्नों से भली-भाँति परीक्षा करके, 'अवश्य ये भाव परभाव ही हैं, मैं तो एक ज्ञानमात्र ही हूँ' – यह जानकर ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावों को तत्काल ही छोड़ देता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन में एक बात पर विशेष बल दिया जा रहा है कि जिसप्रकार यह पता चलते ही कि 'यह वस्त्र मेरा नहीं है' तत्काल ही त्यागभाव आ जाता है; जानने, पहिचानने और त्यागभाव आने में समयभेद नहीं है, तीनों एक काल में ही होते हैं; उसीप्रकार परपदार्थों और उनके भावों को जब पररूप जानते हैं तो उसी समय उनसे अपनापन टूट जाता है और उनके त्याग का भाव आ जाता है।

यह बात अलग है कि तत्काल उस वस्त्र को वह व्यक्ति छोड़ न पाये; क्योंकि जबतक दूसरे वस्त्र की व्यवस्था न हो जाये, तबतक लाज की सुरक्षा के लिए कदाचित् उसे ओढ़े रहना पड़े तो भी उसमें से अपनापन टूट जाता है, त्यागभाव आ जाता है। उसीप्रकार रागादि भावों को पर जान लेने पर भी कुछ कालतक रागादिभावों का संयोग देखा जा सकता है, पर उनसे अपनापन पूरी तरह टूट जाता है। जब अपनापन छूट गया तो एक दिन वे भी अवश्य छूट जायेंगे।

हाँ, एक बात यह भी तो है कि उनसे अपनापन टूटते ही अनन्तानुबंधी सम्बन्धी राग भी नियम से छूट जाता है; क्योंकि मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी कषाय भी जाती ही है। अत: यह सुनिश्चित

(मालिनी)

अवतरति न यावद्
वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२९।।

अथ कथमनुभूते: परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह –

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ।।३६।।

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेक:।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ।।३६।।

ही है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि एक साथ ही आरम्भ होती है। इनकी पूर्णता में कालभेद हो सकता है; पर आरम्भ में, उत्पत्ति में कालभेद नहीं होता।

अब आचार्य अमृतचन्द्र कलशकाव्य के रूप में कहते हैं कि दृष्टान्त द्वारा जो यह बात समझाई गई है, उसका प्रभाव क्षीण होने के पहले ही आत्मानुभव प्रगट हो जाता है, हो जाना चाहिए। उग्र पुरुषार्थ से आत्मानुभव करने की प्रेरणा देनेवाले कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी ना पड़े।
अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती ।।
व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अतिशीघ्र ही।
अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही ।।२९।।

जबतक वृत्ति अत्यन्त वेग से प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, अवतरित न हो और परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न पड़े, फीकी न हो जाये; उसके पहले ही सम्पूर्ण अन्यभावों से रहित आत्मा की यह अनुभूति तत्काल स्वयं ही प्रगट हो गई।

यहाँ परभाव का त्याग कैसे होता है, आत्मानुभूति प्रगट कैसे होती है – इस बात को आचार्यदेव ने दृष्टान्त देकर बहुत ही अच्छी तरह समझाया है।

इसके लिए हमें निरन्तर भेदज्ञान की भावना को भाना चाहिए, नचाना चाहिए। चिन्तन की निरन्तरता में से ही रुचि की तीव्रता होगी, भावना का प्रबल वेग स्फुरायमान होगा और आत्मानुभूति की भूमिका तैयार होगी।

अब इस गाथा में मोहादि भावक भावों से भेदज्ञान कराते हैं। मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय।।३६।।

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति।

किञ्च तत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्।

इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः।।३६।।

स्वपर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि 'मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ' – ऐसा जो जानता है, वह मोह से निर्मम है।

इस गाथा के अभिप्राय को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''निश्चय से फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाया जाना (भाव्यरूप करना) अशक्य है।

दूसरी बात यह है कि स्वयं ही निरन्तर विश्व को प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप शाश्वत प्रताप संपत्ति सहित वह भगवान आत्मा ही चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा जानता है कि 'परमार्थ से मैं एक हूँ।' यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़पदार्थ श्रीखण्ड की भाँति एकमेक हो रहे हैं; तथापि श्रीखण्ड की ही भाँति स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वादभेद के कारण 'मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ'; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है।

इसप्रकार भावक-भाव से भेदज्ञान हुआ।''

यहाँ श्रीखण्ड का उदाहरण देकर समस्त द्रव्यों का परस्पर एकक्षेत्रावगाह भी समझाया और परस्पर की भिन्नता भी स्पष्ट कर दी गई है। श्रीखण्ड दही और चीनी मिलाकर बनाया जाता है। श्रीखण्ड में दही और चीनी पूरी तरह एकमेक होते हैं, पर चखने पर दही की खटास और चीनी की मिठास अलग-अलग जानने में आती है; इससे पता चलता है कि मिले हुए दिखाई देने पर भी

वस्तुत: वे मिले हुए नहीं हैं; क्योंकि यदि पूर्णत: मिल जाते, मिलकर एक हो जाते तो उनका भिन्न-भिन्न स्वाद आना संभव नहीं था।

इसीप्रकार जाननेवाली ज्ञातृता और जानने में आनेवाला मोह यद्यपि अज्ञानी को अभेद ही अनुभव में आते हैं; तथापि स्वादभेद के कारण उनकी भिन्नता जानी जा सकती है। निराकुलस्वाद वाला ज्ञान और आकुलतास्वादवाला मोह ज्ञान में पृथक्-पृथक् ही भासित होते हैं। इससे ज्ञानी आत्मा निर्णय कर लेते हैं कि 'आकुलतास्वादवाला मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो निराकुलस्वाद वाला ज्ञान ही हूँ।' - इसी को ज्ञानीजन मोह से निर्ममता कहते हैं।

(स्वागता)

सर्वत: स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह: शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।

~~एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।~~

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह -

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३७।।

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेक:।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति।।३७।।

अब इसी भावना को पुष्ट करनेवाला कलश प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ।
मैं स्वयं ही इस लोक में निजभाव का अनुभव करूँ।।
यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ।।३०।।

इस लोक में मैं स्वयं ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ, जो चारों ओर से अपने चैतन्यरस से भरपूर है। यह मोह मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुंज का निधान हूँ।

इस कलश के उपरान्त आत्मख्याति का वह अंश आता है, जिसमें कहा गया है -

''जिसप्रकार जितमोह और क्षीणमोह में मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि पद रखकर १६-१६ गाथायें बनाकर व्याख्यान करने की बात कही थी; उसीप्रकार यहाँ भी १६ गाथायें बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। इसीप्रकार और गाथायें भी बनाई जा सकती हैं।''

विगत गाथा में मोहादि भावकभावों से भेदविज्ञान कराया और अब इस गाथा में ज्ञेयभावों से भेदज्ञान कराते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय।।३७।।

स्व पर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं; मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ – ऐसा जो जानता है, वह धर्म आदि द्रव्यों से निर्मम है।

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मर-प्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्व-भावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति।

किञ्चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवाना-त्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेऽपि परिस्फुट-स्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवा-त्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः।।३७।।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''निजरस से प्रगट, अनिवार्य विस्तार और समस्त पदार्थों को ग्रसित करने के स्वभाववाली, प्रचण्ड चिन्मात्र शक्ति के द्वारा कवलित (ग्रासीभूत) किये जाने से मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों – इसप्रकार आत्मा में प्रकाशमान – ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव – ये समस्त परद्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अंतरंगतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने में पूर्णतः असमर्थ हैं।

दूसरे चैतन्य में स्वयं ही नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ; इसलिए ज्ञेय-ज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्य के साथ परस्पर मिले होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों स्थित रहता है, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। – इसप्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।''

वस्तुतः बात यह है कि आत्मा स्वभाव से ही स्व-परप्रकाशक है। अतः वह स्वभाव से ही स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। वह पर को पर के कारण नहीं जानता है, अपितु अपने स्वभाव के कारण ही जानता है। ऐसा होने पर भी जो परपदार्थ सहजभाव से ज्ञान में ज्ञात होते हैं, अज्ञानी जीव उन्हें अपना मान लेता है, उनमें अपनत्व स्थापित कर लेता है, उनमें ममत्व कर लेता है; वह उनसे निर्मम नहीं रह पाता है; किन्तु ज्ञानी धर्मात्मा यह अच्छी तरह जानते हैं कि ये

धर्मादिद्रव्यरूप परपदार्थ मेरे नहीं हैं; क्योंकि ये मेरे स्वभाव से भिन्न हैं। मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी हूँ, स्वयं के लिए अन्तरंगतत्त्व हूँ और ये मुझसे भिन्न बहिरंगतत्त्व हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि भले ही ये ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, तथापि ये मेरे नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि स्व और पर दोनों एकसमय ही ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं; तथापि दोनों का स्वाद भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण मैं धर्मादि अजीवद्रव्यों एवं मेरे से भिन्न जीवद्रव्यों के प्रति पूर्णत: निर्मम हूँ; क्योंकि मैं एकत्व को प्राप्त होने से सदा ही ज्यों का त्यों स्थिर रहता हूँ। अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता।

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटित-परमार्थै-र्दर्शन-ज्ञानवृत्तै:
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्त:।।३१।।

पर में से अपनापन टूटना, एकत्व टूटना और अपने में अपनापन आना, एकत्व आना ही ज्ञेयभाव से भेदविज्ञान होना है।

परपदार्थ के पास जाये बिना और परपदार्थ भी पास में आये बिना ही ज्ञान का स्वभाव पर को जानने का है। पर इस पर को जानने का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि पर को जानना भी तो आत्मा का स्वयं का ही स्वभाव है।

अब ३६वीं एवं ३७वीं गाथा की विषयवस्तु को समेटते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

बस इसतरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता।
तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया।।
प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञान वृत परिणत हुआ।
तब आतमा के बाग में आतम रमण करने लगा।।३१।।

इसप्रकार भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता भासित हुई, विवेक जागृत हुआ; तब यह उपयोग स्वयं ही एक अपने आत्मा को ही धारण करता हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणत होता हुआ, परमार्थ को प्रकट करता हुआ अपने आत्माराम में ही प्रवृत्ति करता है, आत्मारूपी बाग में ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं भटकता।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव यह कहना चाहते हैं कि जब भावकभावों और ज्ञेयपदार्थों से आत्मा की भिन्नता भली-भाँति भासित हो गई; तब उपयोग को अन्यत्र भटकने का अवकाश ही

नहीं रहा। इसकारण उपयोग अपने आप ही अपने में स्थिर हो गया। परपदार्थों से अपनापन टूट गया, अपने में अपनापन आ गया और उपयोग अपने में ही समा गया। इसप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो गया, भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत हो गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा को स्वरूपसंचेतन कैसा होता है ? तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त आत्मा, मोक्षमार्ग में स्थित आत्मा स्वयं के सम्बन्ध में क्या सोचता है, अपने आत्मा के बारे में क्या सोचता है; उसकी चिन्तन-प्रक्रिया कैसी होती है ?

इसी प्रश्न के उत्तर में ३८वीं गाथा का जन्म हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति-

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।।३८।।

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ।।३८।।

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतयासामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः,

(हरिगीत)

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ।।३८।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं सदा ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ और अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं, परमाणुमात्र भी मेरे नहीं हैं।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जिसप्रकार कोई पुरुष अपनी मुट्ठी में रखे सोने को भूल गया हो, पर किसी के ध्यान दिलाने पर या स्वयं स्मरण आ जाने पर उसे देखे और आनन्दित हो; उसीप्रकार (उसी न्याय से) अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण जो आत्मा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था; विरक्त गुरु के द्वारा निरन्तर समझाये जाने पर, किसीप्रकार समझकर, सावधान होकर; अपने आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके, उसमें तन्मय होकर, जो सम्यक्प्रकार एक आत्माराम हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

परिणमित हुआ; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हुआ; वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ और मेरे अनुभव से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ।

मैं एक हूँ; क्योंकि चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता।

मैं शुद्ध हूँ; क्योंकि नर-नारकादि जीव के विशेष और अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष स्वरूप व्यावहारिक नवतत्त्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ।

मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ; क्योंकि चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता।

स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवा-रूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि।

एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणु-मात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।।३८।।

मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ; क्योंकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण जिसके निमित्त हैं - ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं होता।

- इसप्रकार सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ।

इसप्रकार प्रतापवन्त वर्तते हुए मुझमें मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा के द्वारा यद्यपि बाह्य समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं; तथापि मुझे कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो भावकरूप और ज्ञेयरूप से मेरे साथ होकर मुझमें पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को, पुनः अंकुरित न हो - इसप्रकार मूल से ही उखाड़कर, नाश करके; महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।''

उक्त कथन में प्रबल आत्मविश्वास भरा हुआ है। ज्ञानी जानता है कि अनन्त बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान में झलकते हैं - तो इसमें क्या है ? यह तो मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा है, इससे मुझे कोई भय नहीं है, इससे मुझे इन्कार भी नहीं; क्योंकि यह तो मेरे स्वभाव की ही विचित्रता है; इसमें कुछ भी ऐसा नहीं, जो मेरे लिए अहितकारी हो।

मेरी स्वरूपसम्पदा में झलकनेवाले परपदार्थ मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ते। हाँ, जब मैं उनमें अपनापन करता हूँ, उन्हें अपना जानता हूँ; तभी मोह उत्पन्न होता है; परन्तु मुझे तो ज्ञानप्रकाश प्रगट हो गया है; अतः मुझमें झलकते हुए भी वे पदार्थ मुझे मुझरूप भासित नहीं होते। अतः मुझमें मोह भी उत्पन्न नहीं करते।

परपदार्थों को जानने मात्र से उनसे मोह उत्पन्न नहीं होता; मोह तो उन्हें अपना जानने से, उन्हें अपना मानने से, उनमें जमने-रमने से उत्पन्न होता है। किन्तु मैंने पर में, ज्ञेयभावों में, भावकभावों

में अपनेपन की मान्यता को निजरस के बल से जड़मूल से उखाड़ फैंका है और महान ज्ञानप्रकाश प्रगट किया है। अत: इस ज्ञानप्रकाश के रहते मुझे मोह के पुन: उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं है। इसप्रकार मैं सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवन्त हूँ।

आचार्यदेव स्वयं तो ज्ञानसागर आत्मा में डुबकी लगा ही रहे हैं। अब आगामी कलश के माध्यम से सम्पूर्ण जगत को भी आमन्त्रण दे रहे हैं, प्रेरणा दे रहे हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम भी इस ज्ञानसागर में डुबकी लगाओ और अतीन्द्रिय-आनन्द को प्राप्त कर अनन्तसुखी हो जाओ।

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(वसन्ततिलका)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ता: ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधु: ।।३२।।

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्ग: समाप्त: ।

(हरिगीत)

सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ।।
हे भव्यजन ! इस लोक के सब एक साथ नहाइये ।
अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये ।।३२।।

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर, दूरकर, हटाकर स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, पूर्णतया प्रगट हो गया है। अत: अब हे लोक के समस्त लोगो ! लोकपर्यन्त उछलते हुए उसके शान्तरस में सब एकसाथ ही मग्न हो जाओ।

पूर्वरंग प्रकरण का अन्तिम कलश होने से इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने शिष्यों को, पाठकों को ज्ञान और आनन्द से लबालब भरे हुए इस भगवान आत्मा को देखने-जानने और इसी में जमने-रमने का आदेश दिया है, उपदेश दिया है, आशीर्वाद दिया है, आमन्त्रण दिया है, प्रेरणा दी है; वह सबकुछ दिया है, जो उनके पास अपने शिष्यों को, पाठकों को देने के लिए था।

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने नाटकीय तत्त्व देखे। इसकारण उन्होंने आत्मख्याति टीका में उसे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। उनके इस नाटकीय प्रस्तुतीकरण को आचार्य जयसेन ने भी स्वीकार किया।

पण्डित राजमलजी ने तो अपनी कलश टीका में इसे और भी अधिक उजागर किया। उन्हीं से प्रेरणा पाकर कविवर बनारसीदासजी ने समयसार की विषयवस्तु के आधार पर रचित अपने ग्रन्थ का नाम ही नाटक समयसार रखा है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी उसे उभारा है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन में जो नाट्यशास्त्रों की परम्परागत पद्धति का अनुसरण किया गया है; वह तत्कालीन होने से आज के संदर्भ में पुरानी पड़ गई है; अत: आज के लोगों को सहज पकड़ में नहीं आती। समयसार और आत्मख्याति की नाटकीयता को समझने के लिए हमें प्राचीन नाटक पद्धति का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य होना चाहिए। अध्यात्म का अधिकार होने से हम यहाँ उसके विस्तार में जाना उचित नहीं समझते हैं। अत: जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन से अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहिए।

जीवाजीवाधिकार

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्।
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं।
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्।।३३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

रागादि वर्णादि से है, यह आतम भिन्न।
शुद्ध-बुद्ध चैतन्यमय, और अखण्ड अनन्य।।

इस अधिकार के आरंभ में आचार्य लिखते हैं कि **अब जीव और अजीव एक होकर रंगमंच पर प्रवेश करते हैं।**

इस अधिकार में मूल गाथायें आरंभ करने के पूर्व आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र मंगलाचरण के रूप में एक छन्द लिखते हैं; जिसमें वे उस ज्ञान की महिमा गाते हैं; जो ज्ञान जीव और अजीव के इस भेद को जान लेता है। आत्मख्याति के मंगलाचरण के छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो,
ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता।
अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता।।
जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता।
ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता।।३३।।

इस नाटक के रंगमंच पर उदित यह ज्ञान मन को आनन्दित करता हुआ सुशोभित हो रहा है। यह ज्ञान जीव और अजीव के बीच भेदविज्ञान करानेवाली उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से जीव और अजीव की भिन्नता को स्वयं भी भलीभाँति जानता है और इस नाटक को देखनेवाले सभासदों को भी दिखाता है, उन्हें इनकी भिन्नता की प्रतीति उत्पन्न कराता है।

अनादि संसार से दृढ़ बंधन में बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करके जो विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, कली के समान विकसित हुआ है और जो सदा अपने आत्मारूपी बाग में, वन में ही रमण करता है; यद्यपि उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार झलकते हैं; तथापि जो उनमें नहीं रमता, अपने स्वरूप में ही रमता है, उस ज्ञान का प्रकाश अनन्त है और वह प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है।

वह ज्ञान धीर है, उदात्त है, धीरोदात्त है, अनाकुल है और मन को आनन्दित करता हुआ सुशोभित है, विलास कर रहा है।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।।४२।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

इस समयसाररूपी नाटक का खलनायक मोह है, मिथ्यात्व है, अज्ञान है और उस मोह को, मिथ्यात्व को, अज्ञान को नाश करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, केवलज्ञान धीरोदात्त नायक है; जो नित्य उदयरूप है और अनाकुल है।

यही कारण है कि इस मंगलाचरण के छन्द में उसे ही स्मरण किया गया है।

न केवल इसी अधिकार में, अपितु प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र ने धीर-वीर ज्ञान की महिमा गाकर ही मंगलाचरण किया है। अन्तर मात्र इतना ही है कि यहाँ जीवाजीवाधिकार होने से जीव और अजीव में भेद बतानेवाले ज्ञान को स्मरण किया गया है तो अन्य अधिकारों में तत्सम्बन्धी अज्ञान का नाश करनेवाले ज्ञान को स्मरण किया जायेगा।

ज्ञान तो वही है, मात्र विशेषणों का अन्तर पड़ेगा।

इसप्रकार ज्ञान को नमस्कार कर, स्मरण कर अब जीव और अजीव किसप्रकार एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं – इस बात को गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव किसप्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर पर (पुद्गल) को ही आत्मा मान लेते हैं – यह बात पाँच गाथाओं द्वारा बता रहे हैं।

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जानें नहीं।
अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें।।३९।।
अध्यवसानगत जो तीव्रता या मन्दता वह जीव है।
पर अन्य कोई यह कहे नोकर्म ही बस जीव है।।४०।।
मन्द अथवा तीव्रतम जो कर्म का अनुभाग है।
वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है।।४१।।
द्रव कर्म का अर जीव का सम्मिलन ही बस जीव है।
अथवा कहे कोइ करम का संयोग ही बस जीव है।।४२।।
बस इसतरह दुर्बुद्धिजन परवस्तु को आतम कहें।
परमार्थवादी वे नहीं परमार्थवादी यह कहें।।४३।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति।।३९।।
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम्।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति।।४०।।
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः।।४१।।
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिच्जीवमिच्छंति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति।।४२।।
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः।।४३।।

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति।

नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्यर्यादति-रिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

आत्मा को नहीं जाननेवाले पर को ही आत्मा माननेवाले कई मूढ़ लोग तो अध्यवसान को और कर्म को जीव कहते हैं।

अन्य कोई लोग तीव्र-मन्द अनुभागगत अध्यवसानों को जीव मानते हैं; दूसरे कोई नोकर्म को जीव मानते हैं।

अन्य कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं और कोई तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त कर्म के अनुभाग को जीव इच्छते हैं, मानते हैं।

अन्य कोई जीव और कर्म - दोनों के मिले रूप को जीव मानते हैं और कोई अन्य कर्म के संयोग को ही जीव मानते हैं।

इसप्रकार के तथा अन्य भी अनेकप्रकार के दुर्बुद्धि, मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं। वे सभी परमार्थवादी, सत्यार्थवादी, सत्य बोलनेवाले नहीं हैं - ऐसा निश्चयवादियों ने, सत्यार्थवादियों ने, सत्य बोलनेवालों ने कहा है।

तात्पर्य यह है कि अध्यवसान, कर्म (भावकर्म), अध्यवसानसन्तति, शरीर, शुभाशुभभाव, सुख-दुःखादि कर्मविपाक, आत्मकर्मोभय और कर्मसंयोग को जीव कहनेवाले परमार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि इनमें से कोई भी जीव नहीं है।

समयसार की इन ३९ से ४३ तक की गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है-

''इस लोक में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से, पुरुषार्थहीनता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को ही आत्मा कहते हैं, बकते हैं। उनमें कुछ मुख्य इसप्रकार हैं -

(१) कोई तो ऐसा कहते हैं कि नैसर्गिक (स्वयं से ही उत्पन्न हुए स्वाभाविक) राग-द्वेष द्वारा मलिन अध्यवसान (मिथ्या-अभिप्राय सहित विभाव परिणाम) ही जीव है; क्योंकि जिसप्रकार कालेपन से भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता।

अनाद्यनंतपूर्वापरिभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्य-स्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानु-पलभ्यमानत्वादिति केचित्।

नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वा-दिति केचित्।

विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्या-नुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मेणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानु-पलभ्यमानत्वादिति केचित्।

अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्त-त्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

---

(२) कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है – ऐसी एक संसरण (भ्रमण) रूप जो क्रिया है, उस रूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है; क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(३) कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिसका अन्त दूर है – ऐसे) रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तति ही जीव है; क्योंकि उससे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(४) कोई कहता है कि नई एवं पुरानी अवस्था आदि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म (शरीर) ही जीव है; क्योंकि शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(५) कोई कहते हैं कि समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है; क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(६) कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वगुणों से भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है; क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(७) कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म – दोनों ही मिलकर जीव है; क्योंकि सम्पूर्णतः कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता।

(८) कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) में समर्थ कर्मसंयोग ही जीव है; क्योंकि जिसप्रकार आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार कर्मों के संयोग से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।

एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थ-वादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते ।।३९-४३ ।।

कुतः –

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।४४।।

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ।।४४।।

– इसप्रकार आठ प्रकार तो यहाँ कहे ही हैं; परन्तु पर को आत्मा माननेवाले दुर्बुद्धि मात्र इतने ही नहीं हैं; और भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि जगत में हैं, जो पर को ही आत्मा मानते हैं; किन्तु वे सब परमार्थवादी नहीं हैं, सत्यार्थवादी नहीं हैं, सत्य बोलनेवाले नहीं हैं – ऐसा परमार्थवादी कहते हैं, निश्चयनय के जानकार कहते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं।''

उक्त कथन में जिन आठ प्रकार के पदार्थों या भावों को जीव कहा गया है; उन्हें जीव मानने में एक ही तर्क दिया गया है कि उनसे भिन्न अन्य कोई जीव उन्हें दिखाई नहीं देता; और यह तर्क भी उनके स्वयं के अनुभव के आधार पर ही प्रतिष्ठित है।

आगामी गाथा में उनकी इस मान्यता पर सतर्क विचार किया जायेगा।

३९ से ४३वीं गाथा तक जिन आठ प्रकार के मिथ्यावादियों की चर्चा की गई है, वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं; उनके द्वारा माना गया आत्मा का स्वरूप सच्चा क्यों नहीं है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ४४वीं गाथा का जन्म हुआ है; क्योंकि उक्त गाथाओं में परात्मवादियों की मान्यता पर तो प्रकाश डाला गया है और यह भी कहा गया है कि वे सत्यार्थवादी नहीं हैं, पर यह नहीं बताया गया है कि वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ? अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रश्न का समाधान यह ४४वीं गाथा करती है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ये भाव सब पुद्गल दरव परिणाम से निष्पन्न हैं।
यह कहा है जिनदेव ने 'ये जीव हैं' – कैसे कहें ।।४४।।

ये पूर्वकथित अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं – ऐसा केवली भगवान ने कहा है; अतः उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है ?

उक्त गाथा में सर्वज्ञ परमात्मा की दुहाई देकर यह बात कही गई है कि जिन्हें सर्वज्ञ भगवान और उनका आगम पौद्गलिक कहता है; उन्हें जीव कैसे माना जा सकता है ?

गाथा में तो मात्र सर्वज्ञ कथित आगम की बात कही है, पर आचार्य अमृतचन्द्र आगम के साथ युक्ति और अनुभव की बात भी करते हैं। वे कहते हैं कि इन्हें जीव मानना न केवल आगम से ही बाधित है, अपितु युक्ति और अनुभव से भी यह बात सिद्ध होती है कि उक्त आठों प्रकार की मान्यतायें असत्य हैं।

वे अपनी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थ-वादिनः।

एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः। न खलु नैसर्गिकरागद्वेष-कल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणो-तिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वे नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभाव-स्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

''विश्व के समस्त पदार्थों को साक्षात् देखनेवाले वीतरागी सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा द्वारा ये समस्त अध्यवसानादिभाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं। अतः वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं। चूँकि जीवद्रव्य को, चैतन्यस्वभाव से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादि को जीव कहते हैं; वे वस्तुतः परमार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि उनका पक्ष आगम, युक्ति और स्वानुभव से बाधित है।

'वे जीव नहीं हैं' – ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन, वह तो आगम है और यह (निम्नांकित) स्वानुभवगर्भित युक्ति है –

(१) नैसर्गिक (स्वयं से ही उत्पन्न हुए – स्वाभाविक) राग–द्वेष से मलिन अध्यवसान जीव नहीं हैं; क्योंकि जिसप्रकार कालेपन से भिन्न सुवर्ण सभी को दिखाई देता है; उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(२) अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है – ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(३) तीव्र–मन्द अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तति भी जीव नहीं है; क्योंकि उस सन्तति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(४) नई–पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म जीव नहीं है; क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वे-नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावाय विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयो-गादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति।

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः ।।४४।।

---

(५) समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्मविपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(६) साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रता-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(७) श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म - दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(८) अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से बने पलंग से भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।''

इसप्रकार आठ प्रकार की गलत मान्यताओं के निराकरण की बात तो यहाँ स्वानुभवगर्भित युक्ति से कही है। इसीप्रकार की अन्य कोई मान्यतायें हों तो उनका भी निराकरण इसीप्रकार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सर्व परभावों से भिन्न चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है, अतः अज्ञानियों द्वारा कल्पित मान्यतायें ठीक नहीं हैं।

उक्त समस्त विषयवस्तु को एक वाक्य में इसप्रकार समेट सकते हैं - स्वयं उत्पन्न हुए राग-द्वेषरूप अध्यवसान जीव नहीं हैं, अनादि-अनन्त संसरणरूप क्रिया में क्रीड़ा करता हुआ कर्म जीव नहीं है, रागरस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तति जीव नहीं है, नोकर्मरूप शरीर जीव नहीं है, शुभाशुभभावरूप कर्मविपाक जीव नहीं है, तीव्रता-मन्दता और सुख-दुःखरूप कर्म का अनुभव जीव नहीं है, आत्मा और कर्म की मिलावट जीव नहीं है और अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि इन सबसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत: सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंस: पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि: ।।३४।।

अत: अन्य विकल्पों से विराम लेकर सर्वज्ञकथित और भेदज्ञानियों द्वारा अनुभूत आत्मा को जानकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

आत्मानुभव की प्रेरणा देनेवाले इस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से।
अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से।।
यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना।
तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना।।३४।।

हे भव्य ! हे भाई !! अन्य व्यर्थ के कोलाहल करने से क्या लाभ है ? अत: हे भाई ! तू इस अकार्य कोलाहल से विराम ले, इसे बन्द कर दे और जगत से निवृत्त होकर एक चैतन्यमात्र वस्तु को निश्चल होकर देख ! ऐसा छहमास तक करके तो देख ! तुझे अपने ही हृदय-सरोवर में पुद्गल से भिन्न, तेजवन्त, प्रकाशपुंज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ?

तात्पर्य यह है कि ऐसा करने से तुझे भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी।

वस्तुत: निज आत्मा की प्राप्ति उतनी कठिन है नहीं, जितनी समझ ली गई है; क्योंकि वह भगवान आत्मा तू स्वयं ही है और उसे जानना भी स्वयं को ही है। अत: यह क्रिया पूर्णत: स्वाधीन है, इसमें रंचमात्र भी पराधीनता नहीं है।

अत: यहाँ यह कहा गया है कि इस अकार्य कोलाहल से विराम लेकर छह मास तक एकाग्रचित्त होकर लगातार देहदेवल में विराजमान, परन्तु देह से भिन्न निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने और उसी का अनुभव करने का प्रयास कर ! ऐसा करने पर तुझे आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी; क्योंकि आत्मा की प्राप्ति का स्वरूप ऐसा ही है, विधि ऐसी ही है, प्रक्रिया ऐसी ही है।

अकार्यकोलाहल माने व्यर्थ का हल्ला-गुल्ला, व्यर्थ का बकवाद। जिस वचनालाप से, तर्क-वितर्क से कोई लाभ न हो, अपने मूल प्रयोजन की सिद्धि न हो; उस वचनालाप को, तर्क-वितर्क को अकार्यकोलाहल कहते हैं।

यहाँ आत्मा संबंधी चर्चा को भी अकार्यकोलाहल कहकर निषेध किया गया है; क्योंकि भगवान आत्मा की प्राप्ति तो प्रत्यक्षानुभव से ही होती है। ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ आत्मा संबंधी व्यर्थ के तर्क-वितर्क का ही निषेध किया है; अनावश्यक बौद्धिकव्यायाम का ही

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादय: पुद्गलस्वभावा इति चेत् –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फल तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवन्ति।
यस्य फलं तदुच्यते दु:खमिति विपच्यमानस्य।।४५।।

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकल–ज्ञज्ञप्ति:। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्म –स्वभावविलक्षणत्वात्किल दु:खं, तदंत:पातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावा:।

ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावा: किंतु पुद्गलस्वभावा: ।।४५।।

निषेध किया है; देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि में होनेवाले तत्त्वमंथन, चर्चा-वार्ता का निषेध नहीं समझना; क्योंकि यदि आत्मा संबंधी चर्चा-वार्ता एवं तत्त्वविचार नहीं करेगा, आगम और युक्तियों से तत्त्वनिर्णय नहीं करेगा तो फिर छह माह तक आखिर करेगा क्या ?

''अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं, इनसे भिन्न चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा ही जीव है'' – बार-बार आप ऐसा कहते हैं; परन्तु ये अध्यवसानादिभाव भी तो कथंचित् चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं। ये भाव जड़ में होते भी दिखाई नहीं देते; तो भी आप उन्हें जड़ कहते हैं, पुद्गल कहते हैं – इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ही इस ४५वीं गाथा का उद्भव हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अष्टविध सब कर्म पुद्गलमय कहे जिनदेव ने।
सब कर्म का परिणाम दु:खमय यह कहा जिनदेव ने।।४५।।

जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमय हैं और उनके पकने पर उदय में आनेवाले कर्मों का फल दु:ख कहा गया है।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाले जो आठों प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म हैं; वे सभी पुद्गलमय हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है।

विपाक की मर्यादा को प्राप्त कर्म के फलरूप जीव की जो भी विकारी अवस्था होती है, वह अनाकुलता लक्षणवाले सुखस्वभाव से विपरीत होने से दु:ख ही है। आकुलता लक्षणवाले होने से सभी अध्यवसानादिभाव उसी दु:ख में समाहित हो जाते हैं। इसप्रकार सभी अध्यवसानों को एक दु:ख नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।

यद्यपि इन अध्यवसानों का चैतन्य के साथ अन्वय होने का भ्रम उत्पन्न होता है; तथापि ये हैं तो पुद्गलस्वभावी ही।''

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् –

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा।।४६।।

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः।।४६।।

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद– परमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अज्ञानीजन जिन अध्यवसानादिभावों को जीव मानते हैं; वे वस्तुतः जड़ हैं, निश्चय से पौद्गलिक हैं; उन्हें किसी भी स्थिति में जीव नहीं माना जा सकता।

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अध्यवसानादिभाव पौद्गलिक हैं, पुद्गल स्वभावी हैं तो फिर जिनागम में ही इन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? आगम में अनेक स्थानों पर इन्हें जीव कहा है। इसप्रकार एक ही आगम में इन्हें कहीं जीवरूप और कहीं पुद्गलरूप क्यों कहा है?

इस समस्या के समाधान के लिए ही ४६वीं गाथा रची गई है, जिसमें इस समस्या का समाधान सयुक्ति प्रस्तुत किया गया है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ये भाव सब हैं जीव के जो यह कहा जिनदेव ने।
व्यवहारनय का पक्ष यह प्रस्तुत किया जिनदेव ने।।४६।।

'ये सब अध्यवसानादिभाव जीव हैं' – इसप्रकार जो जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय दिखाया है।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ये सब अध्यवसानादिभाव जीव हैं – भगवान सर्वज्ञदेव ने यह कहकर अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि म्लेच्छों के लिए म्लेच्छभाषा के समान व्यवहारनय भी व्यवहारीजनों के लिए परमार्थ का प्रतिपादक है, परमार्थ को बतानेवाला है।

अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय का दिखाया जाना भी न्यायसंग ही है।

व्यवहारनय के नहीं बताये जाने पर और परमार्थ से जीव को शरीर से भिन्न बताये जाने पर, जिसप्रकार भस्म को मसल देने पर भी हिंसा नहीं होती; उसीप्रकार त्रस–स्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने पर भी, कुचल देने पर भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इसीकारण बंध का भी अभाव सिद्ध होगा।

तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।।४६।।

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत् –

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्य आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ।।४८।।

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ।।४७।।
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ।।४८।।

दूसरी बात यह है कि परमार्थ से जीव को राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताये जाने पर 'रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्म से बँधता है; अतः उसे छुड़ाना' – इसप्रकार के मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाने से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा।

इसप्रकार यदि व्यवहारनय नहीं बताया जाये तो बंध और मोक्ष – दोनों का अभाव ठहरता है।''

इसप्रकार इस गाथा में अध्यवसानादि भावों को व्यवहार से जीव कहने की उपयोगिता सिद्ध कर दी गई है।

आचार्यदेव ने ४६वीं गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने की उपयोगिता बताकर शिष्यों को सन्तुष्ट तो कर दिया, पर अब शिष्य यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा व्यवहार है, किसप्रकार का व्यवहार है कि जिसका यहाँ दिखाया जाना इतना आवश्यक था ?

शिष्य किसी सरल-सुबोध उदाहरण के माध्यम से यह बात जानना चाहते हैं।

ऐसा विचार कर इस बात को आचार्यदेव ४७-४८वीं गाथाओं द्वारा सोदाहरण समझाते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सेना सहित नरपती निकले नृप चला ज्यों जन कहें ।
यह कथन है व्यवहार का पर नृपति उनमें एक है ।।४७।।
बस उसतरह ही सूत्र में व्यवहार से इन सभी को ।
जीव कहते किन्तु इनमें जीव तो बस एक है ।।४८।।

सेना सहित राजा के निकलने पर जो यह कहा जाता है कि 'यह राजा निकला', वह व्यवहार से ही कहा जाता है; क्योंकि उस सेना में वस्तुतः राजा तो एक ही होता है।

उसीप्रकार अध्यवसानादि अन्य भावों को 'ये जीव हैं' – इसप्रकार जो सूत्र (आगम) में कहा गया है तो व्यवहार से ही कहा गया है। यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उसमें जीव तो एक ही है।

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ।।४७-४८।।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीहि-अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।४९।।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसप्रकार 'यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है' - यह कहना व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है; क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है। अतः परमार्थ से राजा तो एक ही है, सेना राजा नहीं है।

इसीप्रकार 'यह जीव समग्र रागग्राम में व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है' - यह कहना व्यवहारीजनों का अध्यवसानादि भावों में जीव कहने का व्यवहार है; क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है। अतः परमार्थ से जीव तो एक ही है, अध्यवसानादिभाव जीव नहीं है।''

४६वीं गाथा में व्यवहारनय की उपयोगिता बताई गई है और ४७वीं व ४८वीं गाथाओं में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने के सन्दर्भ में व्यवहारनय की प्रवृत्ति किसप्रकार होती है - यह बात सेनासहित राजा के गमन का उदाहरण देकर समझायी गई है।

अध्यवसानादि भावों को जिनागम में जीव कहा है और यहाँ उन्हें पुद्गल कहा जा रहा है - इसका क्या कारण है ? - इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने कहा था कि अध्यवसानादि भावों को पुद्गल कहना परमार्थ कथन है और उन्हें जीव कहना या जीव का कहना व्यवहार कथन है।

इसप्रकार उक्त सम्पूर्ण प्रकरण से एक बात सिद्ध हो गई कि जिन्हें व्यवहार से जीव कहा गया है, वे अध्यवसानादि आठ प्रकार के भाव परमार्थजीव नहीं हैं।

अब सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि अध्यवसानादिभाव परमार्थजीव नहीं हैं; तो फिर परमार्थजीव क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अगली गाथा में दिया जायेगा।

'यद्यपि अध्यवसानादि भावों को जिनागम में भी विभिन्न अपेक्षाओं से जीव कहा गया है; तथापि वे पारमार्थिक जीव नहीं हैं' - यह बात जीवाजीवाधिकार के आरम्भ से ही कहते आ रहे हैं। अतः अब शिष्य पूछता है कि यदि अध्यवसानादिभाव जीव नहीं हैं; तो फिर एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है, उसका स्वरूप क्या है ?

इसी प्रश्न का उत्तर ४९वीं गाथा में दिया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है।।४९।।

हे भव्य ! तुम जीव को अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान,

अलिंगग्रहण और चेतना गुणवाला जानो।

य: खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वय-मरसगुणत्वात्, परमार्थत: पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावत: क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-

यह गाथा भगवान आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप बतानेवाली होने से समयसार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथाओं में से एक है। यह गाथा न केवल समयसार में ही है; अपितु आचार्य कुन्दकुन्द कृत पाँचों ही परमागमों में पाई जाती है। प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं एवं अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं गाथा है और समयसार में यह ४९वीं गाथा है ही।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है और पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह गाथा उद्धृत की गई है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक लोकप्रिय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण गाथा है।

इस गाथा में अरस, अरूप आदि आठ विशेषणों के माध्यम से दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार पर आत्मख्याति, प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका एवं पंचास्तिकाय पर समयव्याख्या नामक टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने अपनी तीनों टीकाओं में इस गाथा का अलग-अलग प्रकार से अर्थ किया है, जो अपने-आप में अद्भुत है; मूलत: पठनीय है, गहराई से अध्ययन करने योग्य है, मननीय है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र ने भगवान आत्मा के इन विशेषणों के एक-एक के अनेक-अनेक अर्थ किये हैं। अरस, अरूप, अगन्ध, अशब्द और अव्यक्त विशेषण के छह-छह अर्थ किये हैं तथा अनिर्दिष्टसंस्थान के चार अर्थ किये हैं।

आत्मख्याति में इस गाथा का जो भाव स्पष्ट किया गया है, वह इसप्रकार है -

''(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में रसगुण नहीं है; अत: जीव अरस है।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी रसगुण नहीं है; अत: जीव अरस है।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से रस नहीं चखता; अत: अरस है।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी रस नहीं चखता; अत: अरस है।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का

स्वभाव होने से, वह केवल एक रसवेदना परिणाम को पाकर रस नहीं चखता; अतः अरस है। त्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेद-परिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः।

तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूप-गुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोप-शमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-त्वात्केवलरूपवेदनापरिणामपन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेद-परिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः।

तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंध-गुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायो-

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता; अतः अरस है।

– इसतरह छह प्रकार के रस के निषेध से आत्मा अरस है।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में रूपगुण नहीं है; अतः जीव अरूप है।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी रूपगुण नहीं है; अतः जीव अरूप है।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से रूप नहीं देखता; अतः अरूप है।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी रूप नहीं देखता; अतः अरूप है।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल रूपवेदना परिणाम को पाकर रूप नहीं देखता; अतः अरूप है।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रूप रूप परिणमित नहीं होता; अतः अरूप है।

– इसतरह छह प्रकार के रूप के निषेध से आत्मा अरूप है।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में गन्धगुण नहीं है; अतः जीव अगन्ध है।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी गन्धगुण नहीं है; अतः जीव अगन्ध है।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से गन्ध नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के

माध्यम से भी गन्ध नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है।

पशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-त्वात्केवलगंधवेदनापरिणामपन्नत्वेनागंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्ध-परिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः।

तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयम-स्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्,स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-त्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्श-परिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः।

तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्,

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक गंधवेदना परिणाम को पाकर गंध नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गन्ध के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं गन्धरूप परिणमित नहीं होता; अतः अगन्ध है।

– इसतरह छह प्रकार से गन्ध के निषेध से आत्मा अगन्ध है।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में स्पर्शगुण नहीं है; अतः जीव अस्पर्श है।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है; अतः जीव अस्पर्श है।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है; इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक स्पर्शवेदना परिणाम को पाकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शरूप परिणमित नहीं होता; अतः अस्पर्श है।

– इसतरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से आत्मा अस्पर्श है।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में शब्दपर्याय नहीं है; अतः जीव अशब्द है।

(२) पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है; अतः जीव अशब्द है।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम

से शब्द नहीं सुनता; अतः अशब्द है।

स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैक-संवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायक-तादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः।

द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थाननैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियत-संस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्ट-संस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्यो-पजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः।

षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्य-निमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तमिश्रितप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्श-

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी शब्द नहीं सुनता; अतः अशब्द है।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक शब्द संवेदना परिणाम को पाकर शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी जो सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप परिणमित नहीं होता; अतः अशब्द है।

– इसतरह छह प्रकार से शब्दपर्याय के निषेध से आत्मा अशब्द है।

(१) पुद्गलद्रव्य से रचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

(२) अपने नियतस्वभाव से अनियतसंस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

(३) संस्थान नामक नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है, जीव में नहीं; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

(४) भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ स्वाभाविक संवेदन शक्ति से सम्बन्धित होने पर भी जीव समस्त लोक के मिलाप से रहित है; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

– इसतरह चार प्रकार से संस्थान के निषेध से अथवा संस्थान के कथन के निषेध से भगवान आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान है।

(१) षड्द्रव्यात्मक लोक ज्ञेय है, अतः व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है; अतः अव्यक्त है।

(२) कषायचक्ररूप भावकभाव व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है; अतः अव्यक्त है।

(३) चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न होने से जीव अव्यक्त है।

(४) क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं होने से जीव अव्यक्त है।

(५) व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल

व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता; अत: जीव अव्यक्त है।

त्वात्, स्वयमेव हि बहिरंत:स्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्त:।

रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्य-नुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहण:। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकल-मपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्य-साधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांत:प्रकाशमानत्वात् चेतना-गुणश्च।

स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्ण: प्रत्यग्ज्योतिर्जीव:।।४९।।

(६) स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आने पर भी व्यक्तता के प्रति उदासीन रूप से प्रकाशमान है; अत: जीव अव्यक्त है।

– इसतरह छह प्रकार से व्यक्तता के निषेध से भगवान आत्मा अव्यक्त है।

– इसप्रकार जीव में रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी वह स्वसंवेदन ज्ञान के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; अत: जीव अलिंगग्रहण है।

जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानियों को सौंप दिया है; जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके अत्यन्त तृप्ति से मन्थर हो गया है, उपशान्त हो गया है, अत्यन्त स्वरूप सौख्य से तृप्त होने के कारण बाहर निकलने को अनुद्यमी हो गया है; अत: कभी भी किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और जीव से भिन्न अन्यद्रव्यों में नहीं पाये जाने के कारण स्वभावभूत है – ऐसा चेतनागुण समस्त विवादों को नाश करनेवाला है। सदा अपने अनुभव में आनेवाले ऐसे इस चेतनागुण के द्वारा जीव सदा प्रकाशमान है; अत: जीव चेतनागुणवाला है।

इसप्रकार इन नौ विशेषणों से युक्त, चैतन्यरूप, निर्मल प्रकाशवाला, एक भगवान आत्मा परमार्थस्वरूप जीव है, जो इस लोक में भिन्नज्योतिस्वरूप टंकोत्कीर्ण विराजमान है।''

रस, रूप, गन्ध और स्पर्श – ये चार पुद्गल के गुण हैं और शब्द पुद्गल की पर्याय है। ये पाँचों पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। यहाँ इन पाँचों के निषेधरूप पाँच विशेषण आरम्भ में ही लिये गये हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि परमार्थजीव इन्द्रियों का विषय नहीं है; अत: इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता।

अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, अव्यक्त, अनिर्दिष्टसंस्थान और अलिंगग्रहण – ये आठ विशेषण तो निषेधपरक हैं; परन्तु चेतनागुणवाला – यह नौवाँ विशेषण विधिपरक है। चेतनागुण आत्मा का मूलस्वभाव है। अत: आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में इसकी महिमा बतानेवाले अनेक विशेषण लगाये हैं; जो आत्मख्याति के अर्थ में दिये ही जा चुके हैं। अत: उनके बारे में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

टीका के अन्त में कहा गया है कि इन अरसादि नौ विशेषणों से युक्त, चैतन्यस्वरूप, निर्मल प्रकाशवाला, एक भगवान आत्मा ही परमार्थस्वरूप जीव है; जो इस लोक में पर से भिन्न ज्योतिस्वरूप

टंकोत्कीर्ण विराजमान है।

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ।।३५।।

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।३६।।

अब ४९वीं गाथा में कहे गये भगवान आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर।
चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर।।
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धातमा।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यातमा।।३५।।

हे भव्यात्मन् ! चैतन्यशक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को छोड़कर और अपने चैतन्यशक्तिमात्र भाव को प्रगटरूप से अवगाहन करके लोक के समस्त सुन्दरतम पदार्थों के ऊपर तैरनेवाले अर्थात् पर से पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपने आत्मा में ही देखो, अपने-आप में ही साक्षात्कार करो, साक्षात् अनुभव करो।

४९वीं गाथा में आत्मा के अरसादि विशेषणों में अन्तिम विशेषण के रूप में चेतनागुण विशेषण आया है और उसे समस्त विवादों को नाश करनेवाला बताया गया है। वह चेतनागुण भगवान आत्मा का असाधारण स्वभाव होने से आत्मा की पहिचान का चिह्न है, लक्षण है। इसीकारण वह समस्त विवादों का नाश करनेवाला भी है। उसके साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाले अनन्तगुण भी अभेदरूप से उसमें समाहित हैं। उसे यहाँ चित्शक्तिमात्र नाम से कहा गया है, उसे ज्ञानमात्र नाम से भी कहा जाता है।

अब आगामी गाथाओं की उत्थानिका स्वरूप कलश लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वे हैं जीव।
उन्हें छोड़कर और सब, पुद्गलमयी अजीव।।३६।।

जिसका सर्वस्व, जिसका सार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है; वह जीव मात्र इतना ही है; क्योंकि इस चैतन्यशक्ति से शून्य जो भी अन्यभाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल ही हैं।

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि
य फ ा स ा ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ।।५५।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम् ।।५०।।
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ।।५१।।

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ।।५२।।

जीव तो चैतन्यशक्तिमात्र ही है, चित् शक्ति ही जीव का सर्वस्व है, सबकुछ है। चित् शक्ति के अतिरिक्त जो भी भाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं – यह भाव है ३६वें कलश का और यही भाव आगामी गाथाओं में भी व्यक्त किया गया है, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुध जीव के रस गन्ध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना ।
यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना ।।५०।।
ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के ।
प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के ।।५१।।

ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं।
अर नहीं हैं अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी।।५२।।

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित्।।५३।।
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा।।५४।।
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः।।५५।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम–

योग के स्थान नहिं अर बंध के स्थान ना।
उदय के स्थान नहिं अर मार्गणास्थान ना।।५३।।
थितिबंध के स्थान नहिं संक्लेश के स्थान ना।
संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना।।५४।।
जीव के स्थान नहिं गुणथान के स्थान ना।
क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।।५५।।

जीव के वर्ण नहीं है, गन्ध भी नहीं है, रस और स्पर्श भी नहीं है; रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान और संहनन भी नहीं है।

जीव के राग नहीं है, द्वेष नहीं है और मोह भी विद्यमान नहीं है; प्रत्यय नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी नहीं है।

जीव के वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है और कोई स्पर्धक भी नहीं है; अध्यात्मस्थान और अनुभागस्थान भी नहीं है।

जीव के कोई योगस्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है और कोई मार्गणास्थान भी नहीं है।

जीव के स्थितिबंधस्थान नहीं है, संक्लेशस्थान भी नहीं है, विशुद्धिस्थान भी नहीं है और संयमलब्धिस्थान भी नहीं है।

जीव के जीवस्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है; क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

उक्त गाथाओं की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में उक्त २९ प्रकारों के भावों के भेद-प्रभेद गिनाते हुए भगवान आत्मा में उनके होने का निषेध करते हैं। जहाँ आवश्यकता समझते हैं; वहाँ उनका स्वरूप भी संक्षेप में स्पष्ट करते जाते हैं। सभी भावों के निषेध में वे एक ही तर्क देते हैं, एक ही युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

इन गाथाओं पर लिखी गई आत्मख्याति टीका का संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

''(१) काला, हरा, पीला, लाल और सफेद – ये पाँच प्रकार के वर्ण जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य–परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते–र्भिन्नत्वात्। यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य–परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

(२) सुगन्ध और दुर्गन्ध – ये दो प्रकार की गन्ध जीव नहीं है; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(३) कड़ुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा – ये पाँच प्रकार के रस जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(४) चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, हलका, भारी, कोमल और कठोर – ये आठ प्रकार के स्पर्श जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(५) स्पर्शादि चारों भावरूप सामान्य परिणाम मात्र रूप भी जीव नहीं है; क्योंकि यह रूप पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(६) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण – ये पाँच प्रकार के शरीर भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(७) समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक – ये छह प्रकार के संस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(८) वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और असंप्राप्तासृपाटिका – ये छह प्रकार के संहनन भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(९) प्रीतिरूप राग भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(१०) अप्रीतिरूप द्वेष भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वाऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

(११) यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (मिथ्यात्वरूप) मोह भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(१२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं – ऐसे प्रत्यय (आस्रव) भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(१३) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय – ये आठों कर्म जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(१४) छह पर्याप्तियों और तीन शरीरों के योग्य पुद्गलस्कन्धरूप नोकर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(१५) कर्म के रस की शक्तियों अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदों का समूहरूप वर्ग भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(१६) वर्गों के समूहरूप वर्गणा भी जीव नहीं है; क्योंकि वर्गणा भी पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

(१७) मन्द-तीव्र रसवाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप अर्थात् वर्गणा के समूह रूप स्पर्धक भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(१८) स्व-पर के एकत्व के अध्यास होने पर, विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप है लक्षण

जिनका, ऐसे अध्यात्मस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यापि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

(१९) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम हैं लक्षण जिनके, वे अनुभागस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२०) काय, वचन और मनोवर्गणा के कम्पनरूप योगस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२१) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम लक्षणवाले बंधस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२२) अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्थारूप उदयस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२३) गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार - ये चौदह मार्गणास्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२४) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का सुनिश्चित काल तक साथ रहना है लक्षण जिनका - ऐसे स्थितिबंधस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२५) कषायों के विपाक का उद्रेक है लक्षण जिनका - ऐसे संक्लेशस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२६) कषायों के विपाक के अनुद्रेक लक्षणवाले विशुद्धिस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२७) चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति लक्षणवाले संयमलब्धिस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।।५०-५५।।

(२८) पर्याप्त और अपर्याप्त - ऐसे बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय लक्षणवाले जीवस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२९) मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय - उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली भेदवाले गुणस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

इसप्रकार ये २९ प्रकार के सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से जीव नहीं हैं।''

आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त टीका में 'वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं' - यह वाक्य २९ बार दुहराया गया है। यह हेतु वाक्य है, जो उक्त भावों में जीवत्व का निषेध करने के लिए लिखा गया है।

वैसे सम्पूर्ण टीका अत्यन्त स्पष्ट है, सुलभ है; अतः इसके प्रतिपादन में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है; फिर भी कुछ बिन्दु ऐसे हैं, जिनका स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

(क) यद्यपि रूप और वर्ण - ये दोनों शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं; पर यहाँ पाँच प्रकार के रंगों को वर्ण कहा गया है और वर्ण, रस, गंध और स्पर्श - इन चारों के मिले हुए रूप को रूप कहा गया है।

२९ बोलों में पहला बोल वर्ण का है और पाँचवाँ बोल रूप का है। इन दोनों को ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

(ख) 'अध्यात्म' शब्द आत्मज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अधि' अर्थात् जानना और 'आत्म' अर्थात् आत्मा को। इसप्रकार आत्मा को जानना अध्यात्म है, अतः आत्मज्ञान ही अध्यात्म है; पर यहाँ स्व और पर में एकत्व के अध्यास को अध्यात्मस्थान कहा गया है और इसे विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न बताया गया है। यह बात आप १८वें बोल के प्रकरण में देख सकते हैं।

इन गाथाओं की टीका समाप्त करते हुए उपसंहार के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।३७।।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत् –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।
एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ।।५६।।

(दोहा)

वर्णादिक रागादि सब, हैं आतम से भिन्न।
अन्तर्दृष्टि देखिये, दिखे एक चैतन्य ।।३७।।

वर्णादिक व राग-द्वेष-मोहादिक सभी २९ प्रकार के भाव इस भगवान आत्मा से भिन्न ही हैं। इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा में ये सभी भाव दिखाई नहीं देते; किन्तु इन सबसे भिन्न एवं सर्वोपरि भगवान आत्मा ही एकमात्र दिखाई देता है।

यद्यपि यहाँ वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी २९ प्रकार के भावों को पौद्गलिक कहा गया है; तथापि उन्हें स्पष्टरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे, जो स्पष्टरूप से पुद्गल हैं और जिनमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श पाये जाते हैं तथा दूसरे वे औपाधिकभाव, जो पुद्गलकर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न होते हैं।

इस ३७वें कलश में उन २९ प्रकार के पौद्गलिक भावों को वर्णादि और रागादि कहकर इसीप्रकार के दो भागों में विभाजित किया गया है।

''वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो २९ प्रकार के भाव कहे हैं, वे जीव नहीं हैं'' – ऐसा आप बार-बार कह रहे हैं; परन्तु सिद्धान्तग्रन्थों में तो इन्हें भी जीव के बताया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में औदयिकादि भावों को जीव का स्वतत्त्व कहा है।

शिष्य की इस उलझन को मिटाने के लिए आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि उन्हें व्यवहार से जीव के कहा है, पर वे निश्चय से जीव के नहीं हैं; क्योंकि उनमें जीव का असाधारण लक्षण उपयोग नहीं पाया जाता। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वर्णादि को व्यवहार से ही कहा जाता जीव के।
परमार्थ से ये भाव भी होते नहीं हैं जीव के।।५६।।
एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात्।।५७।।

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवाससः इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति।

निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति।

ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।

कुतो जीवस्स वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत् – यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति, तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परा–

दूध–पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना।
उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं।।५७।।

ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं; किन्तु निश्चयनय से उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

यद्यपि इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का दूध और पानी की तरह एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है; तथापि वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव उनसे उपयोग गुण से अधिक है – ऐसा जानना चाहिए।

उक्त गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

''सफेद रुई से बने हुए एवं कुसुम्बी (लाल) रंग से रँगे हुए वस्त्र के लाल रंगरूप औपाधिक भावों की भाँति पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है – ऐसे जीव के औपाधिक भावों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता हुआ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भावों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता हुआ दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता अर्थात् दूसरे के भाव को दूसरे का कहने का निषेध करता है।

इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो २९ प्रकार के भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं – ऐसा कथन योग्य है।

यदि कोई कहे कि वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं तो उससे कहते हैं कि जिसप्रकार जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध होने पर भी स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से भिन्न प्रतीत होता है; इसलिए अग्नि का उष्णता के

साथ जिसप्रकार का तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, जल के साथ दूध का उसप्रकार का सम्बन्ध न होने से निश्चय से जल दूध का नहीं है।

वगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमान-त्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति।।५६-५७।।

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् -

~~पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।~~
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।

इसीप्रकार वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध होने पर भी स्वलक्षणभूत उपयोग गुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होता है; इसलिए अग्नि का उष्णता के साथ जिसप्रकार का तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, वर्णादिक के साथ आत्मा का उसप्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए वर्णादिरूप पुद्गल के परिणाम निश्चय से आत्मा के नहीं हैं।''

आत्मख्याति के उक्त कथन में व्यवहारनय के विषय को पर्यायाश्रित और निश्चयनय के विषय को द्रव्याश्रित बताया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि पर्यायाश्रित होने से व्यवहारनय एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का कहता है तथा निश्चयनय एक द्रव्य के भाव को दूसरे का नहीं कहता, अपितु एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का कहने का निषेध करता है; वह तो केवल स्वाभाविक भावों का आलम्बन लेकर ही प्रवर्तित होता है।

उक्त नियम के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के सभी भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं।

अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि वर्णादिभाव निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ?

इसके समाधान के लिए दूध और पानी तथा अग्नि और उष्णता का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है; उसीप्रकार का आत्मा का वर्णादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है और इसीकारण उन्हें व्यवहार से जीव का कहा जाता है; किन्तु जीव और वर्णादि का अग्नि और उष्णता के समान तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है; अत: उन्हें निश्चयनय से जीव का नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव का तादात्म्यसम्बन्ध तो अपने ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग गुण से है। इसलिए जीव अपने उपयोग गुण के कारण वर्णादिभावों से भिन्न ही भासित होता है और यही परमार्थ है।

इसप्रकार इन दो गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि ये २९ प्रकार के भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं।

जब यह कहा जाता है कि ये भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं; तब यह

प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि फिर तो व्यवहारनय निश्चयनय का विरोधी ही हुआ, उसे अविरोधक कैसे कहा जा सकता है ?

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित्।।५८।।
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः।।५९।।
गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति।।६०।।

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेऽपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत; तथा जीवे

इसी प्रश्न का उत्तर आगामी तीन गाथाओं में दिया गया है, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जग–जन कहें।
पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें।।५८।।
उस ही तरह रंग देखकर जड़कर्म अर नोकर्म का।
जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का।।५९।।
इस ही तरह रस गन्ध तन संस्थान आदिक जीव के।
व्यवहार से हैं – कहें वे जो जानते परमार्थ को।।६०।।

जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो कोई मार्ग तो लुटता नहीं है, अपितु मार्ग में चलता हुआ पथिक ही लुटता है।

इसीप्रकार जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देखकर जिनेन्द्र भगवान व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि यह वर्ण जीव का है।

जिसप्रकार वर्ण के बारे में कहा गया है; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि के बारे में भी समझना चाहिए कि ये सब भाव भी व्यवहार से ही जीव के हैं – ऐसा निश्चयनय के देखनेवाले या निश्चयनय के जानकार कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए किसी संघ को लुटता देखकर, मार्ग में संघ की स्थिति होने से, उसका उपचार करके व्यवहारीजन यद्यपि ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है; तथापि

निश्चय से देखा जाये तो आकाश के अमुक भागस्वरूप मार्ग कभी भी नहीं लुटता; क्योंकि उसका लुटना सम्भव ही नहीं है।

बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्ग वर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंध-स्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां-प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात्।।५८-६०।।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत् -

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।६१।।
जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।
अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।६४।।

इसीप्रकार जीव में बंधपर्यायरूप से अवस्थित कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म और नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके यद्यपि अरहन्तदेव भी व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि जीव का यह वर्ण है; तथापि उपयोग गुण द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक होने से, भिन्न होने से अमूर्तस्वभावी जीव का निश्चय से कोई भी वर्ण नहीं है, रंग नहीं है।

जिसप्रकार वर्ण के बारे में, रंग के बारे में समझा है; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्म-स्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान के बारे में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि इन सभी को अरहन्त भगवान व्यवहार से जीव के कहते हैं; तथापि उपयोग गुण द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक होने से, भिन्न होने से इन भावों में कोई भी निश्चय से जीव का नहीं है; क्योंकि इनका जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।''

''वर्णादि भावों का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध न होने से वे निश्चय से जीव नहीं हैं'' - अबतक पूरा वजन देकर इस बात को कहते आ रहे हैं; अतः शिष्य का प्रश्न यह है कि वर्णादिभावों

का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध क्यों नहीं है ? शिष्य की इस आशंका का समाधान आगामी चार गाथाओं में अनेक युक्तियों से किया जा रहा है।

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादय:।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादय: केचित्।।६१।।
जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित्।।६२।।
अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादय:।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्ना:।।६३।।
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गल: प्राप्त:।।६४।।

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तै: सह तादात्म्यलक्षण: सम्बन्ध: स्यात्।

तत: सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभि: सह तादात्म्यलक्षण: सम्बन्ध: स्यात्।

(हरिगीत)

जो जीव हैं संसार में वर्णादि उनके ही कहे।
जो मुक्त हैं संसार से वर्णादि उनके हैं नहीं।।६१।।
वर्णादिमय ही जीव हैं तुम यदी मानो इसतरह।
तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह ?।।६२।।
मानो उन्हें वर्णादिमय जो जीव हैं संसार में।
तब जीव संसारी सभी वर्णादिमय हो जायेंगे।।६३।।
यदि लक्षणों की एकता से जीव हों पुद्गल सभी।
बस इसतरह तो सिद्ध होंगे सिद्ध भी पुद्गलमयी।।६४।।

वर्णादिभाव संसारी जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। यदि तुम ऐसा मानोगे कि ये वर्णादिभाव जीव ही हैं तो तुम्हारे मत में जीव और अजीव में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा।

यदि तुम ऐसा मानो कि संसारी जीव के ही वर्णादिक होते हैं; इसकारण संसारी जीव तो रूपी हो ही गये, किन्तु रूपित्व लक्षण तो पुद्गलद्रव्य का है। अत: हे मूढ़मति ! पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया। अकेले संसारावस्था में ही नहीं, अपितु निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी भी अवस्था में उस भाव–स्वरूपता को न छोड़े; उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्यसंबंध होता है। पुद्गल अपनी

सभी अवस्थाओं में वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता; इसलिए पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्यसंबंध है।

संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभव-तश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्या-भवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् – यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविता-विर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीव-मनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोषः – यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यम-वाप्नोति।

रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति।

एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि।

तथा च सति, मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायि-त्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि।

यद्यपि जीव संसार-अवस्था में कथंचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादि-स्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता है; तथापि मोक्ष-अवस्था में तो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नहीं होता है – ऐसे जीव का वर्णादि भावों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यसंबंध नहीं होता है।

यदि कोई ऐसा दुरभिनिवेश रखे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है तो उसमें निम्नांकित दोष आता है कि जिसप्रकार क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त पर्यायों से पुद्गल का वर्णादिक के साथ तादात्म्य माना जाता है; यदि इसीप्रकार क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव को पर्यायों से जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य मानेंगे तो उनके मत में जीव भी पुद्गल हो जाने से जीव का अभाव हो जायेगा।

संसारी जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य मानने पर भी इसीप्रकार का दोष आयेगा।

जिसका यह अभिप्राय है कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्य संबंध है; उसके मत में संसार-अवस्था के समय जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में पुद्गल के समान जीव भी रूपित्वलक्षण से लक्षित होगा।

ऐसा होने पर मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गल ही जीव सिद्ध होगा; उससे भिन्न कोई जीव सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सदा ही अपने लक्षण से लक्षित अनादि-अनंत होता है।

तथा च सति, तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।।६१-६४।।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति -

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।६५।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।६६।।

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ।।६५।।
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ।।६६।।

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन

ऐसा होने पर संसार-अवस्था में वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य माननेवालों के मत में भी पुद्गल से भिन्न कोई जीव न रहने से अवश्य ही जीव का अभाव सिद्ध होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यही स्पष्ट होता है कि जीव का वर्णादि २९ प्रकार के भावों के साथ न मोक्ष-अवस्था में तादात्म्यसंबंध है और न संसार-अवस्था में। अतः ये सभी पुद्गलरूप भाव निश्चय से जीव से भिन्न ही हैं।

'ये २९ प्रकार के भाव जीव नहीं हैं' - यह सिद्ध करने के उपरान्त अब आचार्यदेव इस विषय के उपसंहार की ओर बढ़ते हुए कहते हैं -

(हरिगीत)

एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं जो नाम नामक कर्म की।
पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब ।।६५।।
इनकी अपेक्षा कहे जाते जीव के स्थान जो।
कैसे कहें - 'वे जीव हैं' - जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी ।।६६।।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त - ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। इन पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों के कारणरूप होकर रचित जीवस्थानों को जीव कैसे कहा जा सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से जो भाव जिससे किया जाता है, वह वही होता है। इस नियम के अनुसार जिसप्रकार सोने का पत्र (वर्क) सोने से निर्मित होने से क्रियमाणं कनकमेव, न त्वन्यत्, तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतु:पंचेन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभि: पुद्गलमयीभि: नामकर्मप्रकृतिभि: क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीव:। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च।

एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्म प्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तद-व्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि।

ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्त:।।६५-६६।।

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम्।।३८।।

सोना ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा किये जाने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।

नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम में प्रसिद्ध ही है और अनुमान से भी जानी जा सकती है; क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीरादि मूर्तिकभाव कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं; इसलिए कर्म प्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं - ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

जिसप्रकार यहाँ जीवस्थानों को पौद्गलिक सिद्ध किया है; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गल से अभिन्न हैं। अत: मात्र जीवस्थानों को ही पुद्गल कहे जाने पर भी इन सभी को पुद्गलमय कहा गया समझ लेना चाहिए।

अत: यह निश्चय सिद्धान्त है, अटल सिद्धान्त है कि वर्णादिक जीव नहीं हैं।''

ध्यान रहे, २९ भावों में से यहाँ वे ही भाव लिये हैं, जो नामकर्म के उदय से होते हैं; क्योंकि मोहकर्म के उदय से होनेवाले भावों को ६८वीं गाथा में लेंगे।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो बात टीका में स्पष्ट की है, उसी को उन्होंने इसी टीका में समागत दो कलशों में व्यक्त किया है, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य।
स्वर्णम्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य।।३८।।

जिस वस्तु से जो भाव बनता है, वह भाव वह वस्तु ही है; किसी भी प्रकार अन्य वस्तु

नहीं है; क्योंकि स्वर्ण निर्मित म्यान को लोग स्वर्ण के रूप में ही देखते हैं, तलवार के रूप में नहीं।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।।३९।।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम् –

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः।।६७।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः।

वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गलजन्य।
एक शुद्ध विज्ञानघन, आतम इनसे भिन्न।।३९।।

अतः हे ज्ञानीजनो ! इन वर्णादिक से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावों को एक पुद्गल की ही रचना जानो, पुद्गल ही जानो; ये भाव पुद्गल ही हों, आत्मा न हों; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है; इसलिए इन भावों से भिन्न है।

मूल बात तो यह है कि नामकर्म के उदय से होनेवाले वर्णादिभाव निश्चय से जीव नहीं हैं; उन्हें जो जीव कहा जाता है, वह मात्र असद्भूतव्यवहारनय का कथन ही है।

इसी बात को इस ६७वीं गाथा में कहा जा रहा है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब।
जड़ देह की है जीव संज्ञा सूत्र में व्यवहार से।।६७।।

शास्त्रों में देह के पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सूक्ष्म, बादर आदि जितने भी नाम जीवरूप में दिये गये हैं; वे सभी व्यवहारनय से ही दिये गये हैं।

यद्यपि यह भगवान आत्मा ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकन्द है, ज्ञानानन्दस्वभावी है; तथापि शास्त्रों में भी इस आत्मा को पर्याप्तकजीव, अपर्याप्तकजीव, सूक्ष्मजीव, बादरजीव, एकेन्द्रियजीव, द्वीन्द्रियजीव, संज्ञीजीव, असंज्ञीजीव आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

शास्त्रों का यह कथन परमार्थकथन नहीं है, मात्र असद्भूतव्यवहारनय का कथन ही है। इस कथन को परमार्थकथन के समान सत्यार्थ मानकर इन्हें सत्यार्थ जीव नहीं मान लिया जाये – इस गाथा में इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित कर विशेष सावधान किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति और कलश दोनों में ही घी के घड़े का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की है; जो इसप्रकार है –

''बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त – इन

शारीरिक संज्ञाओं को सूत्र में जो जीव संज्ञा के रूप में कहा गया है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण घी के घड़े की भाँति व्यवहार है और वह अप्रयोजनार्थ है।

यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृत-कुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्या-संसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।।६७।।

(अनुष्टुभ्)

~~घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।~~
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ।।४०।।

जिसप्रकार किसी पुरुष को जन्म से ही मात्र घी का घड़ा ही प्रसिद्ध हो, उससे भिन्न अन्य घड़े को वह जानता ही न हो; ऐसे पुरुष को समझाने के लिए 'जो यह घी का घड़ा है, सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं' – इसप्रकार घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है; क्योंकि उस पुरुष को घी का घड़ा ही प्रसिद्ध है।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि-संसार से एक अशुद्धजीव ही प्रसिद्ध है, वह शुद्ध जीव को जानता ही नहीं है; उसे समझाने के लिए 'जो यह वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं' – इसप्रकार जीव में वर्णादिमयपने का व्यवहार किया गया है; क्योंकि अज्ञानी लोक को वर्णादिमान जीव ही प्रसिद्ध है।''

टीका में समागत कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय।
कहने से वर्णादिमय, जीव न तन्मय होय।।४०।।

जिसप्रकार 'घी का घड़ा' कहे जाने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता; उसीप्रकार 'वर्णादिमान जीव' कहे जाने पर भी जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता।

पुराने जमाने में घी भी मिट्टी के घड़ों में ही रखा जाता था। इसके लिए घड़े को विशेषरूप से तैयार किया जाता था। मिट्टी का होने से वह स्वयं बहुत घी सोख लेता था। अतः कीमती भी हो जाता था। उसमें पहले कुछ दिन पानी भरा जाता था। उसके बाद छाछ भरी जाती थी, जिससे वह छाछ की चिकनाई सोख ले। उसके बाद घी रखने के काम में लिया जाता था। ऐसे घड़े पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते थे और उन्हें घर में घी का घड़ा के नाम से ही अभिहित किया जाता था। अतः बहुत से लोग उसे जन्म से ही घी के घड़े के रूप में ही जानते थे, घी के घड़े के नाम से ही जानते थे।

यहाँ इसीप्रकार का घड़ा और उसे जन्म से ही घी के घड़े के रूप में जाननेवाले व्यक्ति को उदाहरण के रूप में लिया गया है।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति यह मान ले कि जिसे घी का घड़ा कहा जाता है, वह घी से ही बना होगा,

घीमय होगा; तो उसे समझाते हैं कि जो यह घी का घड़ा है, वह घी से नहीं बना है, घीमय नहीं है; अपितु मिट्टी से ही बना है, मिट्टीमय ही है।

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि।।६८।।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यम–चेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन, पुद्गल एव, न तु जीवः।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादिकाल से एक अशुद्धजीव ही प्रसिद्ध है, वर्णादिमय जीव ही प्रसिद्ध है; रागादिमय जीव ही प्रसिद्ध है; वह शुद्धजीव को जानता ही नहीं है, वर्णादिरहित जीव को जानता ही नहीं है; रागादिरहित जीव को जानता ही नहीं है; अत: उसे समझाते हुए कहते हैं कि जो यह वर्णादिमान जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है, अपितु ज्ञानमय ही है; जो यह रागादिमान जीव है, वह रागादिमय नहीं, ज्ञानमय ही है।

'जो यह वर्णादिमान जीव है' – ऐसा कहकर व्यवहार की स्थापना की है, व्यवहार का ज्ञान कराया है; और 'वह वर्णादिमय नहीं, ज्ञानमय है' – ऐसा कहकर व्यवहार का निषेध किया, निश्चय की स्थापना की है।

इस गाथा में यह बताया कि वर्णादिभाव जीव नहीं हैं और आगामी गाथा में यह स्पष्ट करेंगे कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं अथवा इस गाथा में यह बताया कि जीवस्थान जीव नहीं हैं और आगामी गाथा में यह बतायेंगे कि गुणस्थान भी जीव नहीं हैं।

अब इस ६८वीं गाथा में स्पष्ट करते हैं कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोहन–करम के उदय से गुणथान जो जिनवर कहे।
वे जीव कैसे हो सकें जो नित अचेतन ही कहे।।६८।।

मोहकर्म के उदय से होनेवाले गुणस्थान सदा ही अचेतन हैं – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; अत: वे जीव कैसे हो सकते हैं ?

जीवस्थान को वर्णादि के प्रतिनिधि और गुणस्थान को रागादि के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण करते हैं। इसप्रकार वे वर्णादि व रागादि में अथवा जीवस्थान और गुणस्थानों में मिलाकर पूर्वोक्त सभी २९ भावों को समाहित कर लेते हैं।

आत्मख्याति में ६८वीं गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार जौपूर्वक जौ ही होते हैं; उसीप्रकार पुद्गल पुद्गलपूर्वक ही होते हैं, अचेतन अचेतनपूर्वक ही होते हैं। – इस नियम के अनुसार मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक

अचेतन मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से सदा पुद्गल ही हैं, अचेतन ही हैं; चेतन नहीं हैं, जीव नहीं हैं।

गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यऽस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम्।

एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंध-स्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति, नित्यमचेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम्।

ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्।।६८।।

तर्हि को जीव इति चेत् –

(अनुष्टुभ्)

~~अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।~~
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

गुणस्थानों का नित्य-अचेतनत्व आगम से सिद्ध है और वे गुणस्थान भेदज्ञानियों को चैतन्यस्वभावी आत्मा से सदा ही भिन्न उपलब्ध हैं; इसलिए भी उनका सदा अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेश-स्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, इसकारण सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। ऐसा स्वतःसिद्ध हो गया।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन पर ध्यान देने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ पुण्य-पापरूप सभी शुभाशुभ भावों को आत्मा से भिन्न अचेतन कहा जा रहा है, जड़ कहा जा रहा है, पुद्गल कहा जा रहा है। अरे भाई ! इनसे धर्म कैसे हो सकता है ? जब विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी जड़ हैं; तो फिर कौन-सा शुभभाव शेष रहा, जिसे धर्म कहा जाये ?

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ये भाव जीव नहीं हैं तो जीव क्या है, जीव कैसा है, जीव कौन है ? इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी कलश लिखा गया है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त।।४१।।

जो अनादि है, अनन्त है, अचल है, स्वसंवेद्य है, प्रगट है, चैतन्यस्वरूप है और अत्यन्त प्रकाशमान है; वही जीव है।

उपर्युक्त २९ भावों से रहित यह भगवान आत्मा अनादि है, अनन्त है, अचल है। न तो कभी

इसका आरंभ हुआ है और न कभी अन्त ही होनेवाला है। यह जन्म-मरण से रहित है; क्योंकि लोक में जन्म आदि का और मरण अन्त का सूचक है। जब यह आत्मा अनादि-अनन्त है तो इसके

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ।।४२।।

जन्म-मरण कैसे हो सकते हैं ? इसे किसी ने बनाया भी नहीं है और न इसका कोई नाश ही कर सकता है; क्योंकि यह अनादि-अनन्त-अचल तत्त्व है।

अपने स्वभाव में अटलरूप से स्थित होने से यह अचल है। किसी भी स्थिति में यह अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से चलायमान नहीं होता। अतः अपने में पूर्ण सुरक्षित है। इसे अपनी सुरक्षा के लिए किसी पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

इसका निर्माणकर्ता, विनाशकर्ता और रक्षणकर्ता कोई नहीं है; क्योंकि यह स्वयं अनादि-अनन्त और अचलतत्त्व है। यह ज्ञान-दर्शनस्वभावी होने से चैतन्य है; अपने चैतन्यस्वभाव से सदा प्रगट है और यह स्वयं जगमगाती हुई जलहलज्योति है, प्रकाशमान ज्योति है। यह कोई छुपा हुआ पदार्थ नहीं है, अपितु यह प्रकाशमान जलहलज्योति, सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित हो रही है और जगत को प्रकाशित करने में भी पूर्ण समर्थ है।

ऐसा यह ज्ञान-दर्शनस्वभावी अनादि-अनन्त-अचल आत्मतत्त्व स्वयंसंवेद्य है, स्वानुभूति से जाना जा सकता है। 'नहीं जाना जा सकता' - ऐसा भी नहीं है और वर्णादि व रागादि से जाना जाये - ऐसा भी नहीं है, व्रत-शील-संयम से जाना जाये - ऐसा भी नहीं है। यह एकमात्र स्वानुभूति से ही जाना जा सकता है।

अब आगामी कलश में यह स्पष्ट करते हैं कि जीव का लक्षण चेतनत्व ही क्यों है ?

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके।
सोचकर विचारकर भलीभाँति ज्ञानियों ने,
कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके।।
अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषों से विरहित,
चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का।
अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का।।४२।।

वर्णादि सहित मूर्तिक और वर्णादि रहित अमूर्तिक - इसप्रकार अजीव दो प्रकार का है।

इसलिए अमूर्तत्व के आधार पर अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर जीव के स्व-रूप को यथार्थ नहीं जाना जा सकता। अत: वस्तुस्वरूप के विवेचक भेदज्ञानियों ने अच्छी तरह

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति।।४३।।

परीक्षा करके, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से रहित जीव का लक्षण चेतनत्व को कहा है। वह चेतनत्व लक्षण स्वयं प्रगट है और जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है।

अत: हे जगत के जीवो ! इस अचल एक चैतन्यलक्षण का ही अवलम्बन करो।

अत: यदि हमें निज भगवान आत्मा को जानना है, पहिचानना है, पाना है, अपनाना है; तो इस एक चैतन्य लक्षण का ही अवलम्बन करना होगा।

विशेष जानने की बात यह है कि यहाँ वर्णादि में सभी २९ प्रकार के भाव आ जाते हैं। अत: न केवल रूप, रस आदि ही मूर्तिक हैं; अपितु राग-द्वेष आदि विकारी भाव भी मूर्तिक ही हैं। अधिक क्या कहें; क्योंकि २९ भावों में संयमलब्धिस्थान जैसे भाव भी आते हैं; जिन्हें यहाँ पौद्गलिक कहकर मूर्तिक कहा गया है। अत: ये सभी भाव जीव के लक्षण नहीं बन सकते, जीव की पहिचान के चिह्न नहीं बन सकते। जीव की पहिचान का असली चिह्न तो उपयोग ही है, ज्ञानदर्शनमय उपयोग ही है। अत: आचार्यदेव आदेश देते हैं, उपदेश देते हैं, आग्रह करते हैं, अनुरोध करते हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम एक इस चैतन्यलक्षण का ही अवलम्बन लो, आश्रय करो; क्योंकि इस चैतन्यलक्षण से ही भगवान आत्मा की पहिचान होगी।

यह चैतन्यलक्षण स्वयं प्रगट है और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है तथा अचल है; इसकारण कभी चलायमान नहीं होता। अधिक क्या कहें - यह चैतन्यलक्षण जीव का जीवन ही है। अत: इस लक्षण के आधार पर ही आत्मा की पहिचान हो सकती है, साधना और आराधना हो सकती है; क्योंकि आत्मा तो स्वलक्षण से स्वयं प्रगट ही है।

अब आचार्यदेव आगामी कलश में आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब बात इतनी स्पष्ट है अर्थात् जीव स्वलक्षण से प्रगट ही है तो फिर अज्ञानियों की समझ में क्यों नहीं आता ?

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन-भिन्न ही हैं जानते।।
जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह।
अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है।।४३।।

आचार्यदेव खेद और आश्चर्य व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि जब जीव और अजीव अपने सुनिश्चित लक्षणों से स्वयं ही उल्लसित होते हुए भिन्न-भिन्न प्रकाशमान हैं और ज्ञानीजन उन्हें भिन्न-भिन्न जानते हैं; पहिचानते हैं, अनुभव करते हैं; तब भी अज्ञानियों में पर में एकत्व का अनादि-अमर्यादित यह व्यामोह न जाने क्यों व्यापता है, यह मोह न जाने क्यों नाचता है ? -

यह बहुत ही आश्चर्य और खेद की बात है !

नानट्यतां तथापि –

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादि–पुद्गल–विकार–विरुद्धशुद्ध
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।।४४।।

यह तो अज्ञान की ही महिमा है, पर में एकत्व के मोह की ही महिमा है, मिथ्यात्व की ही महिमा है कि इतनी स्थूल बात भी अज्ञानी को समझ में नहीं आती।

इस कलश में आश्चर्य और खेद व्यक्त करने के उपरान्त अगले कलश की भूमिका बाँधते हुए आचार्य गद्य में लिखते हैं कि यदि मोह नाचता है तो नाचे, इससे हमें क्या प्रयोजन है; क्योंकि यह सम्पूर्ण नृत्य आखिर है तो पुद्गल का ही। यह नाचनेवाला मोह भी तो पुद्गल ही है –

(हरिगीत)

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में।।
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है।
आनन्दमय चिद्भाव तो दृगज्ञानमय चैतन्य है।।४४।।

इस अनादिकालीन महा–अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

अत: आचार्यदेव कहते हैं कि यदि अज्ञानी का व्यामोह नाचता है तो नाचे, हम क्या करें ? हम तो अपने में जाते हैं। अरे भाई ! यह तो पुद्गल का नृत्य है, अज्ञान का नृत्य है; इसमें मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ और मेरा परिणमन तो ज्ञानदर्शन–उपयोगमय है; इन २९ भावों रूप नहीं है।

मैं इन २९ प्रकार के भावों से पकड़ने में आनेवाला नहीं हूँ, पहिचानने में आनेवाला नहीं हूँ; मैं तो अपने चैतन्यलक्षण से ही लक्षित होनेवाला पदार्थ हूँ। मैं अपने चैतन्य लक्षण से ही पहिचाना जाऊँगा और मेरा चैतन्य का परिणमन ही पहिचानने का कार्य करेगा। न तो मैं रागादिभावों से पहिचाना जाऊँगा और न रागादिभाव पहिचानने का काम ही करेंगे; क्योंकि ये मेरे हैं ही नहीं, ये मुझमें हैं ही नहीं; ये तो मुझसे भिन्न पदार्थ हैं, पुद्गल हैं, अचेतन हैं, जड़ हैं।

अत: आगामी कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि इसतरह भेदज्ञान की भावना को धारावाही रूप से नचाते–नचाते जीव और अजीव का प्रगट विघटन हुआ नहीं कि भगवान आत्मा अनुभव में

प्रकाशित हो उठा, अनुभव में प्रतिष्ठित हो गया।

(मन्द्राकान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।।४५।।

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः।

(हरिगीत)

जब इसतरह धाराप्रवाही ज्ञान का आरा चला।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन हो चला।।
अब जबतलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्व ही।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा।।४५।।

इसप्रकार ज्ञानरूपी करवत (आरा) के निरन्तर चलाये जाने पर जबतक जीव और अजीव - दोनों ही प्रगटरूप से अलग-अलग नहीं हो पाये कि यह ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा अत्यन्त विकसित अपनी चैतन्यशक्ति से विश्वव्यापी होता हुआ अतिवेग से अपने आप ही प्रगट प्रकाशित हो उठा।

उक्त छन्द में भेदज्ञान की उपयोगिता जबतक मुक्ति प्राप्त न हो, तबतक बताई गई है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी को भेदज्ञान की भावना भानी चाहिए। मिथ्यात्व की भूमिका में दर्शनमोह के अभाव के लिए और सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्रमोह के अभाव के लिए यह भावना भाई जानी चाहिए। परमज्योति प्रगट हो जाने पर, केवलज्ञान हो जाने पर तो कोई विकल्प शेष रहता ही नहीं है। अतः वहाँ इस भेदज्ञान की भावना की आवश्यकता भी नहीं रहती है; विकल्पात्मक भावना की आवश्यकता नहीं रहती है; क्योंकि वहाँ तो भेदज्ञान का फल सम्पूर्णतः प्रगट हो गया है।

इसप्रकार इस जीवाजीवाधिकार का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **'इसप्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर रंगभूमि में से बाहर निकल गये।'**

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व और ममत्व का निषेध कर अपने त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा में एकत्व-ममत्व स्थापित करने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि निज भगवान आत्मा में एकत्व-ममत्व का नाम ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है, सच्चा मुक्ति का मार्ग है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में जीवाजीव का प्ररूपक प्रथम अंक समाप्त हुआ। ●●●

कर्ताकर्माधिकार

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशत: –

(मन्दाक्रान्ता)

एक: कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभित: कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योति: स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ।।४६।।

मंगलाचरण

(दोहा)

मैं कर्ता हूँ कर्म का, कर्म है मेरा कर्म ।
ऐसी मिथ्या मान्यता, है मिथ्यात्व अधर्म ।।

कर्ताकर्माधिकार आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो पहला वाक्य लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है – **''अब जीव और अजीव ही कर्ता–कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं।''**

कर्ताकर्माधिकार के इस आरंभ के वाक्य की संधि जीवाजीवाधिकार के उस अन्तिम वाक्य से बैठती है, जिसमें कहा गया है कि – **''इसप्रकार जीव और अजीव पृथक् होकर रंगमंच से निकल गये।''**

निष्कर्ष यह है कि जीवाजीवाधिकार में पर में एकत्व और ममत्व का निषेध किया गया है, एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि का निषेध किया गया है और इस कर्ताकर्माधिकार में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध किया जा रहा है, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध किया जा रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस अधिकार की टीका लिखने के आरंभ में ही उस ज्ञानज्योति का स्मरण कर रहे हैं, जो इस कर्ता–कर्म संबंधी अज्ञान का अभाव करती हुई प्रगट होती है।

मंगलाचरण के उक्त छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब।
बस यही कर्ताकर्म की है प्रवृत्ति अज्ञानमय।।
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशिनी।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशिनी ।।४६ ।।

'इस लोक में एक चैतन्य आत्मा मैं तो एक कर्ता हूँ और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं' – ऐसी अज्ञानियों की जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, उसे सब ओर से शमन करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है। वह ज्ञानज्योति परम उदार है, अत्यन्त धीर है और पर के सहयोग बिना समस्त द्रव्यों को भिन्न–भिन्न बताने के स्वभाववाली होने से समस्त लोकालोक को साक्षात् जानती है।

इसप्रकार इस मंगलाचरण में समस्त पदार्थों को भिन्न–भिन्न प्रत्यक्ष जाननेवाली, अत्यन्तधीर और परमोदात्त केवलज्ञानज्योति को नमस्कार किया गया है; क्योंकि यह केवलज्ञानज्योति ही अज्ञानियों के कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान को नाश करने में समर्थ है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।६९।।
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं।।७०।।

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः।।६९।।
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः।।७०।।

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति, तथा संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया

जीवाजीवाधिकार के मंगलाचरण में इसी ज्ञानज्योति को धीर और उदात्त कहा गया था और यहाँ अत्यन्त धीर और परम-उदात्त कहा जा रहा है।

वहाँ जीवाजीवाधिकार होने से जीव और अजीव में एकत्व संबंधी अज्ञान का नाश करनेवाली ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया था। यहाँ कर्ताकर्म अधिकार होने से जीव और अजीव के परस्पर कर्ता-कर्म भाव संबंधी अज्ञान का नाश करती हुई ज्ञानज्योति को याद किया जा रहा है।

अब मूल गाथायें आरंभ होती हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

आतमा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें।।६९।।
क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें।
हो कर्मबंधन इसतरह इस जीव को जिनवर कहें।।७०।।

जबतक यह जीव आत्मा और आस्रवों - इन दोनों के भेद और अन्तर को नहीं जानता है, तबतक अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवर्तता है। क्रोधादि में प्रवर्तमान उस जीव के कर्म का संचय होता है। जीव के कर्मों का बंध वास्तव में इसप्रकार होता है - ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह आत्मा तादात्म्य संबंधवाले आत्मा और ज्ञान में विशेष अन्तर न होने से उनमें परस्पर भिन्नता न देखता हुआ ज्ञान में आत्मपने (अपनेपन से) निःशंकतया प्रवर्तता है। सो ठीक ही है; क्योंकि ज्ञानक्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है, इसकारण उसमें निःशंकतया प्रवर्तन का निषेध नहीं किया गया है; किन्तु यह आत्मा संयोगसिद्ध संबंधवाले आत्मा और क्रोधादि में भी अपने अज्ञान से भेद न जानता हुआ क्रोधादि में भी ज्ञान के समान ही आत्मपने (अपनेपन से)

क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वा-ध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति।

तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः।

एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति।

एवं जीवपुदगलयोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बन्धः सिध्येत्।

स चानेकात्मकैककसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम्।।६९-७०।।

निःशंकतया प्रवर्तता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि क्रोधादि क्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया नहीं है, परभावभूत (विभावभूत) क्रिया है - इसकारण उसमें निःशंकतया प्रवर्तन का निषेध किया है।

यद्यपि परभावभूत होने से क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है, तथापि अज्ञानी को उसमें स्वभावभूतपने का अध्यास (अनुभव) होने से अज्ञानी क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, द्वेषरूप परिणमित होता है।

अपने अज्ञानभाव के कारण ज्ञानभवनरूप सहज उदासीन अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवन व्यापार रूप अर्थात् क्रोधादि व्यापार रूप प्रवर्तित होता हुआ अज्ञानी आत्मा कर्ता है और ज्ञानभवन व्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, अंतरंग में उत्पन्न क्रोधादि उसके कर्म हैं।

इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होनेवाली यह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।

इसप्रकार अपने अज्ञान के कारण, कर्ताकर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके, स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है।

इसप्रकार इस जीव के जीव और पुद्गल के परस्पर अवगाह लक्षणवाला संबंधरूप बंध सिद्ध होता है।

अनेकान्तात्मक होने पर भी अनादि एक प्रवाहपना होने से इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता है। यह बंध कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के निमित्तभूत अज्ञान का निमित्त है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जो ज्ञानक्रिया है, वह ज्ञानी का कर्म है और वह निषेध करने योग्य नहीं है। रागादिभावरूप जो विभावक्रिया है, वह ज्ञानी का कर्म नहीं है; अतः निषेध करने योग्य है।

बंध का मूल कारण अज्ञानजन्य कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है और जबतक इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होगी; तबतक कर्म का बंध भी नहीं रुकेगा।

६९ और ७०वीं गाथा में यह बताया गया है कि बंध का मूल कारण अज्ञानजन्य कर्ताकर्म की प्रवृत्ति ही है। अतः अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति कब होगी, कैसे होगी ? इसी प्रश्न के उत्तर में ७१वीं गाथा का जन्म हुआ है।

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य।।७१।।

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः। तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः। अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि, यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि। इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम्।

इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत्।।७१।।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ७१वीं गाथा की उत्थानिका इसप्रकार देते हैं –

यदि कोई कहे कि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति कब होती है तो कहते हैं कि –

(हरिगीत)

आतमा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब।।७१।।

जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बंध नहीं होता।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''इस लोक में वस्तु अपने स्वभावमात्र ही होती है और स्व का भवन (होना–परिणमना) ही स्वभाव है। इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञान का होना–परिणमना आत्मा है और क्रोधादि का होना–परिणमना क्रोधादि है। ज्ञान का होना–परिणमना क्रोधादि का होना–परिणमना नहीं है; क्योंकि ज्ञान के होते (परिणमन के) समय जिसप्रकार ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, उसप्रकार क्रोधादि होते मालूम नहीं पड़ते। इसीप्रकार जो क्रोधादि का होना (परिणमना) है, वह ज्ञान का होना (परिणमना) नहीं है; क्योंकि क्रोधादि के होते समय जिसप्रकार क्रोधादि होते हुए मालूम पड़ते हैं, उसप्रकार ज्ञान होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

इसप्रकार आत्मा और क्रोधादि का निश्चय से एक वस्तुत्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और क्रोधादि एक वस्तु नहीं है।

इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष अन्तर देखने से जब यह आत्मा उनमें भेद (भिन्नता) जानता है, तब इस आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अनादि होने पर भी निवृत्त होती है। उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बंध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध होता है।''

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् –

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः।।७२।।

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवाति–निर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव।

जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव।

७१वीं गाथा में यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध होता है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ज्ञानमात्र से बंध का निरोध कैसे हो सकता है? क्या अकेले जाननेमात्र से बंध का निरोध हो जायेगा, कुछ करना नहीं होगा ?

उक्त शंका के समाधान के लिए ७२वीं गाथा का जन्म हुआ है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति की उत्थानिका में लिखते हैं –

यदि कोई कहे कि ज्ञानमात्र से बंध का निरोध किसप्रकार हो सकता है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि –

(हरिगीत)

इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर।
आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर।।७२।।

आस्रवों की अशुचिता एवं विपरीतता जानकर और वे दुःख के कारण हैं – ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार काई (सेवाल) जल का मैल है, जल की कलुषता है; उसीप्रकार आस्रवभाव भी आत्मा के मैल हैं, वे आत्मा में कलषुता के रूप में ही उपलब्ध होते हैं, कलुषता के रूप में ही अनुभव में आते हैं; अतः अशुचि हैं, अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यभाव से ज्ञायकभाव रूप से उपलब्ध होता है, अनुभव में आता है; अतः अत्यन्त शुचि ही है, परमपवित्र ही है।

जड़स्वभावी होने से आस्रवभाव दूसरों के द्वारा जाननेयोग्य हैं, इसलिए वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं, विपरीत स्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा तो नित्य विज्ञानघनस्वभाववाला होने से स्वयं ही चेतक है, जाननेवाला है; इसलिए वह चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला है, अविपरीत स्वभाववाला है।

आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दुःखस्याकारणमेव।

इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्।

किं च यदिदमामात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ?

यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम्? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः।

यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।।७२।।

आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने से आस्रवभाव दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो नित्य ही अनाकुल स्वभाववाला होने से किसी का कार्य या कारण न होने से दुःख का अकारण ही है।

जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों में इसप्रकार का भेद जानता है, अन्तर जानता है, तब उसीसमय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उनसे निवृत्त हुए बिना आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं होती है। इसलिए क्रोधादि आस्रवभावों से निवृत्ति के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले ज्ञानमात्र से ही अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बंध का निरोध सिद्ध होता है।

अब इसी बात को तर्क और युक्ति से सिद्ध करते हुए आचार्यदेव पूछते हैं कि आत्मा और आस्रवों का उक्त भेदज्ञान ज्ञान है कि अज्ञान है ?

यदि अज्ञान है तो फिर आत्मा और आस्रवों के बीच अभेदज्ञानरूप अज्ञान से उसमें क्या अन्तर रहा अर्थात् कोई अन्तर नहीं रहा और यदि वह ज्ञान है तो हम पूछते हैं कि वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त है ?

यदि वह ज्ञान आस्रवों में प्रवृत्त है तो भी आस्रवों और आत्मा के अभेदज्ञान रूप अज्ञान से उसमें कोई अन्तर नहीं रहा और यदि वह ज्ञान आस्रवों से निवृत्त है तो फिर ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध क्यों नहीं होगा ? अर्थात् ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो ही गया। इसप्रकार अज्ञान का अंश जो क्रियानय, उसका खण्डन हो गया।

'यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है' – ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश एकान्त ज्ञाननय का भी खण्डन हो गया।''

राग की मंदता और तदनुरूप शरीरादि की क्रिया से बंध का निरोध मानना क्रियानय का एकान्त है और अनुभवज्ञान के बिना शास्त्रज्ञान से आत्मा और आस्रवों की भिन्नता जान लेने मात्र से बंध का निरोध मानना ज्ञाननय का एकान्त है। – इन दोनों एकान्तों का यहाँ खण्डन किया गया है।

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ।।४७।।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ सम्पूर्ण आस्रवभावों को अपवित्र कहा है, जड़ कहा है, दु:ख का कारण कहा है। ऐसा नहीं कहा कि पापास्रव अपवित्र हैं, जड़ हैं, दु:खों के कारण हैं और पुण्यास्रव पवित्र हैं, चेतन हैं और सुख के कारण हैं। पापास्रवों को तो सारा जगत ही दु:ख का कारण बताता है, परन्तु यहाँ तो सम्पूर्ण आस्रवभावों को अर्थात् पुण्यभावों को भी दु:ख का कारण बताया गया है।

उक्त चार गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि जबतक यह आत्मा आत्मा और आस्रवों के भेद को नहीं जानेगा, तबतक कर्म का बंध होगा और जब यह आत्मा उन दोनों की भिन्नता आत्मानुभूतिपूर्वक भलीभाँति जान लेगा; तब बंध का निरोध हो जायेगा।

अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ज्ञान ही एक ऐसा साधन है कि जिसके माध्यम से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति भी होगी और पौद्गलिक कर्म के बंध का भी निरोध होगा।

अत: अब आगामी कलश के माध्यम से उस ज्ञान की महिमा बता रहे हैं।

ध्यान रहे, यह कलश चार गाथाओं की विषयवस्तु को अपने में समेटे है; अत: यह कलश इन चार गाथाओं रूपी मन्दिर पर चढ़ाया जा रहा है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परपरिणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब।।
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब।।४७।।

परपरिणति को छोड़ता हुआ, भेद के कथनों को तोड़ता हुआ, यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। अहो ! ऐसे ज्ञान में कर्ताकर्म की प्रवृत्ति को कहाँ अवकाश है तथा पौद्गलिक कर्मबंध भी कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूपी सूर्य के अखण्ड और प्रचण्ड उदय होने पर कर्ताकर्म प्रवृत्ति और कर्मबंध का अंधकार नष्ट होता ही है।

यदि कोई कहे कि यह आत्मा आस्रवों से किस विधि से निवृत्त होता है तो उससे कहते हैं कि –

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत् –

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ
ण ा ण द ं स ण स म ग ग ा े ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।७३।।

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि।।७३।।

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः, सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः, पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादि–भाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः, चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः, गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि।

तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान्

(हरिगीत)

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान–दर्शन पूर्ण हूँ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्रवों का क्षय करूँ।।७३।।

ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञान–दर्शन से पूर्ण हूँ। इसप्रकार के आत्मस्वभाव में स्थित रहता हुआ, उसी में लीन होता हुआ मैं इन सभी क्रोधादि आस्रवभावों का क्षय करता हूँ।

यह गाथा समयसार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथाओं में से एक गाथा है। इसमें जिनागम का सार भर दिया गया है, आत्मा के अनुभव की विधि बताई गई है, अनुभव होने की प्रक्रिया समझाई गई है। गाथा की पहली पंक्ति में आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप स्पष्ट कर अब दूसरी पंक्ति में आचार्यदेव कहते हैं कि उक्त आत्मा में स्थित होना और लीन होना ही अज्ञानजन्य समस्त आस्रवों के क्षय का एकमात्र उपाय है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार करते हैं –

''मैं, यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा; अनादि–अनन्त, नित्य–उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभाववाला होने से एक हूँ; समस्त (छह) कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूति मात्रपने से शुद्ध हूँ; पुद्गल द्रव्य है स्वामी जिनका – ऐसे विश्वरूप (अनेकप्रकार के) क्रोधादिभावों के स्वामीपने से स्वयं सदा ही परिणमित नहीं होने से निर्मम हूँ और चिन्मात्रज्योति का वस्तुस्वभाव से ही सामान्य–विशेषात्मक होने से, सामान्य–विशेष से परिपूर्ण होने से ज्ञान–दर्शन से परिपूर्ण हूँ – ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यों के समान ही पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ।

इसलिए अब मैं समस्त परद्रव्यों में प्रवृत्ति से निवृत्ति के द्वारा इसी आत्मा में – अपने ही आत्मा में, आत्मस्वभाव में ही निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्यों के निमित्त से विशेषरूप भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते।।७३।।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत् –

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः।।७४।।

चेतन में होती हुई चंचल कल्लोलों के निरोध से इसको (आत्मा को) ही अनुभव करता हुआ, अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न सभी क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ।

इसप्रकार अपने आत्मा (मन) में निश्चय करके; जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है – ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति; जिसने सर्वविकल्पों का शीघ्र वमन कर दिया है – ऐसे निर्विकल्प, अचलित, अमल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।''

गाथा में जो 'अहं' शब्द है, उसका अर्थ टीका में – मैं यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'मैं' शब्द से वाच्य जो अपना आत्मा है; वह प्रत्यक्षानुभूति का विषय है, अनन्त गुणमय है, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, चिन्मात्र है अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय है और ज्योतिस्वरूप है।

'अहं' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि – **'निश्चयनय से स्वसंवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष होनेवाला मैं शुद्धचिन्मात्रज्योतिस्वरूप हूँ।'**

इसप्रकार इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जब यह आत्मा अपने एक, शुद्ध, निर्मम और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में स्थित होता है, लीन होता है, तो आस्रवभावों से सहज ही निवृत्त हो जाता है। आस्रवों से निवृत्ति की यही विधि है।

आस्रवों से निवृत्ति की विधि स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **आत्मज्ञान होने और आस्रवों की निवृत्ति का एक काल कैसे हो सकता है ?**

इस प्रश्न का उत्तर ७४वीं गाथा में समाहित है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ये सभी जीवनिबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
दुःखरूप दुःखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें।।७४।।

ये आस्रवभाव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और

दु:ख के रूप में फलते हैं, दु:ख के कारण हैं – ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धा: खल्वास्रवा:, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवा: खल्वास्रवा:, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव।

शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्या: खल्वास्रवा:, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वादशरणा: खल्वास्रवा:, सशरण: स्वयं गुप्त: सहजचिच्छक्तिर्जीव एव।

नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दु:खानि खल्वास्रवा:, अदु:खं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दु:खफला: खल्वास्रवा: अदु:खफल: सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव।

इति विकल्पानंतरमेव शिथिलतकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गल-प्रसर: सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति।

तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्यो: समकालत्वम्।।७४।।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अनेक उदाहरण देकर इस गाथा के मर्म को इसप्रकार उद्घाटित करते हैं –

''वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातक स्वभाववाले होने से आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं, तथापि अविरुद्धस्वभाव का अभाव होने से वे जीव नहीं हैं।

आस्रव मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।

आस्रव शीत-दाहज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसकारण अनित्य हैं और विज्ञानघनस्वभावी जीव नित्य है।

जिसप्रकार वीर्यस्खलन के साथ ही दारुण कामसंस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार कर्मोदय के स्खलन के साथ ही आस्रवभाव नष्ट हो जाते हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता; इसलिए आस्रव अशरण हैं और स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही एकमात्र शरणसहित है।

आस्रव सदा ही आकुलस्वभाववाले होने से दु:खरूप हैं और अनाकुलस्वभाववाला जीव ही एकमात्र अदु:खरूप है, सुखस्वरूप है।

आगामी काल में आकुलता उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणामों के हेतु होने से आस्रव दु:ख-फलरूप हैं, दु:खफलों के रूप में फलते हैं और समस्त पुद्गलपरिणामों का अहेतु होने से जीव दु:खफलरूप नहीं है।

जिसमें बादलों की रचना खण्डित हो गई है, ऐसे दिशा विस्तार की भाँति अमर्याद है विस्तार जिसका और कर्मविपाक शिथिल हो गया है जिसका – ऐसा यह आत्मा, आस्रव और जीव के बीच उक्तप्रकार का भेदज्ञान होते ही सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है; और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाता है।

यह आत्मा उतना ही विज्ञानघनस्वभाव होता है कि जितना आस्रवों से निवृत्त होता है और

उतना ही आस्रवों से निवृत्त होता है कि जितना विज्ञानघनस्वभाव होता है।
इसप्रकार ज्ञान के होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल है।''

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।४८।।

आस्रवभाव पुण्यरूप भी होते हैं और पापरूप भी। तात्पर्य यह है कि आस्रव दो प्रकार के होते हैं – १. पुण्यास्रव और पापास्रव अथवा १. शुभास्रव और २. अशुभास्रव।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दोनों ही प्रकार के आस्रवभावों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखरूप और दुःखों का कारण बताया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि पुण्यभाव भी, शुभभाव भी अध्रुव, अनित्य और अशरण तो हैं ही, दुःखरूप भी हैं और दुःखों के कारण भी हैं। पुण्य और पाप दोनों ही भाव संसार परिभ्रमण के कारण होने से समान ही हैं। दोनों की समानता को आगे चलकर पुण्य-पापाधिकार में, पुण्य-पाप एकत्वद्वार में विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा।

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पापास्रव के समान पुण्यास्रव भी आत्मा नहीं है; क्योंकि वह भी आत्मस्वभाव से विरुद्धस्वभाववाला है, आत्मा का घातक है, अध्रुव है, अनित्य है, दुःखरूप है और आगामी काल में भी दुःख देनेवाला है।

अब आगामी कलश में आचार्य अमृतचन्द्र ७३ एवं ७४वीं गाथा का उपसंहार करते हुए ७५वीं गाथा की सूचना भी देते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्तृत्व का अहं विलीयमान हो रहा।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा।।
जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा।
अहो सद्ज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा।।४८।।

इसप्रकार पूर्वोक्त विधि के अनुसार परद्रव्यों से सर्वप्रकार से उत्कृष्ट निवृत्ति करके तत्काल ही अपने विज्ञानघनस्वभाव पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ, स्वयं का आश्रय करता हुआ, स्वयं को निःशंकतया आस्तिक्यभाव में स्थिर करता हुआ तथा अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म

की प्रवृत्ति से उत्पन्न क्लेशों से निवृत्त होता हुआ, स्वयं ज्ञानी होता हुआ, जगत का साक्षी ज्ञाता-दृष्टा पुराण-पुरुष भगवान आत्मा अब प्रकाशित हो रहा है।

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।७५।।

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्द-बंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा

कलश की अन्तिम पंक्ति में यह कहा गया है कि **'यह भगवान आत्मा ज्ञानी होकर अब यहाँ प्रकाशमान हो रहा है'** और आगामी गाथा में ज्ञानी की पहिचान बताई गई है। इसप्रकार यह कलश आगामी गाथा की भूमिका भी बाँधता है और परप्रवृत्ति की उत्कृष्ट निवृत्ति की बात कर पिछली गाथाओं का उपसंहार भी करता है।

७५वीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं – **आत्मा ज्ञानी हो गया – यह कैसे जाना जाये ? – यदि कोई ऐसा पूछे तो कहते हैं कि –**

(हरिगीत)

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सद्ज्ञान को।।७५।।

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता ही है, वह ज्ञानी है।

कर्ताकर्माधिकार होने से यहाँ ज्ञानी की पहिचान बताते हुए भी यही कहा गया है कि जो कर्म व नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता है, वह ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि पर में कर्तृत्वबुद्धि ही अज्ञान है; अतः उसके समाप्त होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है और आत्मा ज्ञानी हो जाता है।

१९वीं गाथा में यह कहा था कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म में अहंबुद्धि – एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि रखेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा और यहाँ यह कहा जा रहा है कि कर्म और नोकर्म में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनेवाला ज्ञानी है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि रूप से अंतरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम है और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदि रूप

से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्म का परिणाम है; वे सब ही पुद्गल के परिणाम हैं। परमार्थ से जिसप्रकार घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है;

स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किं तु परमार्थतः पुद्गल-परिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामा-त्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्य-मानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्।

न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्।।७५।।

उसीप्रकार पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है।

पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है, इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण उसका कर्म है। इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर कर्मरूप से किये जानेवाले समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणामों का कर्ता परमार्थ से आत्मा नहीं है; क्योंकि पुद्गल-परिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव के कारण कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है।

परन्तु परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जिसप्रकार घड़े और मिट्टी में व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है; उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है।

आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होने से आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम का ज्ञान उस व्यापक का स्वयं व्याप्य होने से आत्मा का कर्म है।

इसप्रकार यह आत्मा पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता होने पर भी पुद्गलपरिणाम का कर्ता नहीं है; पुद्गलपरिणाम से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता होने के कारण पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य हो - ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का व्यवहार होने पर भी, वह पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य नहीं है, अपितु पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त (ज्ञेयरूप) है, ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। इसकारण पुद्गलपरिणाम का ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।''

उक्त संपूर्ण कथन में न्याय और युक्ति से एक ही बात सिद्ध की गई है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान आदि तो पुद्गलपरिणाम हैं ही; किन्तु मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःख आदि भी पुद्गलपरिणाम हैं और इनका कर्ता-भोक्ता निश्चय से पुद्गल ही है, आत्मा नहीं।

हाँ, आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता अवश्य है, पर इनका नहीं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का ही परिणाम है, इस कारण आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता है।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति के कारण ही यह भगवान

आत्मा पर को और रागादि भावों को जानता है और यह जानना उसका कर्म है एवं उस जाननेरूप कर्म का वह कर्ता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४९।।

मूलत: प्रश्न तो यह था कि यह आत्मा ज्ञानी हो गया – यह कैसे पहिचाना जाये ? इसके उत्तर में ७५वीं गाथा में कहा गया था कि कर्म और नोकर्म के परिणाम को जो करता नहीं है, मात्र जानता है, वह आत्मा ज्ञानी है।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में एक गाथा आती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति में नहीं है, उसमें भी ज्ञानी को ही परिभाषित किया गया है। वह गाथा मूलत: इसप्रकार है –

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

(हरिगीत)

रागादि का कर्ता कहा यह आत्मा व्यवहार से।
पर नियत नय से अकर्ता जो जानता वह ज्ञानि है।।

किसी एक नय से अर्थात् व्यवहारनय से यह आत्मा पुण्यरूप धर्म भावों अर्थात् शुभभावरूप रागादि भावों का कर्ता कहा जाता है; परन्तु निश्चयनय से इन भावों का कर्ता नहीं है। जो व्यक्ति यह जानता है, वह ज्ञानी है।

इस गाथा का भाव आचार्य जयसेन स्वयं इसप्रकार करते हैं –

''यह आत्मा पुण्य–पापादि विकारीभावों का कर्ता भी है और अकर्ता भी है। यह सब नयविभाग से है; क्योंकि निश्चयनय से अकर्ता है और व्यवहारनय से कर्ता है। इसप्रकार ख्याति–लाभ–पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है।''

इसी भाव को आगामी कलश में भी स्पष्ट किया जा रहा है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य–व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में।
कर्ता–कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य–व्यापकभाव संबंध के अभाव में।।
इस भाँति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में।

कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में।।४९।।

पुद्गलकर्म, पुद्गलकर्मफलं एव स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं।।७६।।
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।।७७।।
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं।।७८।।
~~**णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।**~~
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।७९।।

व्याप्य–व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। व्याप्य–व्यापकभाव के बिना कर्ता–कर्मभाव भी कैसे बन सकता है ? तात्पर्य यह है कि व्याप्य–व्यापकभाव के बिना कर्ता–कर्मभाव बन ही नहीं सकता। इसप्रकार प्रबल विवेक और सर्वग्राही ज्ञान के भार (बल) से परकर्तृत्व संबंधी अज्ञानांधकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर परकर्तृत्व से शून्य हो शोभायमान हो रहा है।

देखो, यहाँ यह बात एकदम उभर कर आ गई है कि पर का कर्ता तो ज्ञानी–अज्ञानी कोई भी नहीं है; परन्तु पर के कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त अज्ञानी अपने उस अज्ञानभाव का कर्ता अवश्य है।

यद्यपि पर में कर्तृत्वबुद्धि के अभाव के कारण ज्ञानी आत्मा को पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का भी कर्ता नहीं माना गया है; तथापि उन रागादि को जाननेरूप ज्ञान का कर्ता तो ज्ञानी भी है ही।

यद्यपि यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई है कि आत्मा का पौद्गलिक भावों के साथ कर्ता–कर्मसंबंध नहीं है; तथापि आगामी गाथाओं में भी उसी बात को विस्तार से समझाते हैं; अनेक युक्तियों से पाठकों के गले उतारते हैं।

गाथाओं की उत्थानिका में जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसका भाव इसप्रकार है।

''पुद्गलकर्म, पुद्गलकर्मों के फल और स्वपरिणामों को जानते हुए जीव के साथ पुद्गल

का कर्ता-कर्म भाव होता है कि नहीं ?''

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम्।।७६।।
नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम्।।७७।।
नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम्।।७८।।
नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः।।७९।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंत-र्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि

(हरिगीत)

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें।।७६।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें।।७७।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें।।७८।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
इस ही तरह पुद्गल दरव निजभाव से ही परिणमें।।७९।।

ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गल कर्म को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी अनेकप्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता; उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी पुद्गल कर्म के अनन्तफल को जानते हुए भी परमार्थ से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

इसीप्रकार पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह भी अपने ही भावों से परिणमित होता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षणवाले पुद्गल के परिणामरूप कर्म (कार्य) में पुद्गल द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर; उसे ग्रहण

करता हुआ, उस रूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ; उस पुद्गलपरिणाम

हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गल-द्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च

को करता है। इसप्रकार पुद्गल द्रव्य से किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को जानता हुआ भी ज्ञानी; – जिसप्रकार मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिए यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे व्याप्यलक्षणवाले परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को न करनेवाले ज्ञानी का पुद्गलकर्म के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

प्राप्त, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षणवाले आत्मा के परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणाम को करता है।

इसप्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणाम को जानता हुआ भी ज्ञानी, जिसप्रकार मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिए यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाले परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

प्राप्त, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाले पुद्गलकर्मफलस्वरूप सुख-दुःखादिरूप कर्म (कर्ता का कार्य) में पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त

होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ,

क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका-कलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च।

ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् -

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च।

उस सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को करता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्म फल को ज्ञानी जानता हुआ भी, जिसप्रकार मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिए, यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

प्रश्न - यह तो ठीक कि सबको जाननेवाले ज्ञानी जीव का पुद्गलकर्म, पुद्गलकर्म के फल और स्वपरिणाम को जानते हुए जीव का पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है; परन्तु जीव के परिणामों, अपने परिणामों और स्वपरिणामों के फल को नहीं जाननेवाले पुद्गल कर्म का जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं ?

उत्तर - मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; उसीप्रकार जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस रूप परिणमित नहीं होता और उस रूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जो व्याप्यलक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ता के

कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसी को ग्रहण करता है, उसी-रूप परिणमित होता है और उसीरूप उत्पन्न होता है।

ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ।।७६-७९ ।।

इसलिए जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होने से, उस पुद्गलद्रव्य के जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।''

जिसप्रकार ७६ से ७९ तक गाथायें थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग समान हैं; उसीप्रकार उनकी टीकायें भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग समान ही हैं।

७६वीं गाथा की टीका के आरंभ में जिस विधि से पुद्गल को पुद्गलपरिणाम का कर्ता सिद्ध किया है; उसी विधि से ७७वीं गाथा की टीका के आरंभ में आत्मा को आत्मपरिणाम का कर्ता सिद्ध किया है तथा ७८वीं गाथा में फिर पुद्गल को पुद्गलकर्म के सुख-दुःखरूप रूप अनन्तफल का कर्ता सिद्ध किया है।

इसके बाद तीनों ही गाथाओं की टीका में यह स्पष्ट किया है कि पुद्गलकृत अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म को, आत्मकृत आत्मपरिणामों को और पुद्गलकृत पुद्गलकर्म के अनन्तफल को जानता हुआ भी ज्ञानी आत्मा; जिसप्रकार मिट्टी घड़े में व्याप्त होकर घड़ेरूप परिणमित होती है, घड़े के रूप में उत्पन्न होती है और घड़े को प्राप्त होती है; उसप्रकार ज्ञानी आत्मा, आत्मा से भिन्न परपदार्थों को न तो प्राप्त करता है, न उत्पन्न करता है और न उनरूप परिणमित ही होता है।

इसप्रकार तीनों ही गाथाओं में - 'ज्ञानी जीव किसी भी रूप में पर का कर्ता नहीं है' - यह सिद्ध किया गया है।

इसप्रकार निष्कर्ष के रूप में यह सुनिश्चित हुआ कि वर्णादि और रागादि के २९ प्रकार के भेदों में विभक्त पुद्गल द्रव्य; स्वयं के प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप परिणमन के आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर; उस परिणमन को स्वयं ही करता है; उसे जाननेवाला जीव, उसे जानते हुए भी उसके परिणमन का कर्ता नहीं है।

जिसप्रकार अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों; अपने परिणामों और पुद्गलकर्म के सुख-दुःखादि रूप अनन्त फलों को जाननेवाला ज्ञानी उक्त २९ प्रकार के पौद्गलिक भावों का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार वह उनका भोक्ता भी नहीं है, स्वामी भी नहीं है - यह भी जान लेना।

७६ से ७८वीं गाथा तक तो यह कहा गया कि अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म, अपने परिणाम और पुद्गलकर्म के अनन्तफलों को जानता हुआ जीव पौद्गलिक भावों का कर्ता नहीं है और ७९वीं गाथा में उन्हीं तर्क और युक्तियों के आधार पर यह कहा गया है कि अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म, आत्मा के परिणाम और पुद्गलकर्म के अनन्तफलों को नहीं जाननेवाला पुद्गल भी आत्मा के

परिणमन (भावों) का कर्ता नहीं है।

इसप्रकार इन चारों गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि पुद्गल पौद्गलिक भावों का कर्ता है

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।।५०।।

और जीव अपने जाननेरूप ज्ञानभाव का कर्ता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का ही कर्ता-भोक्ता और स्वामी है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि यहाँ वर्णादि और रागादिरूप पर के कर्तृत्व के निषेध की बात है, उन्हें जानने के निषेध की बात नहीं है; बल्कि यहाँ तो यह कहा गया है कि उन्हें जाननेरूप ज्ञानक्रिया का कर्ता आत्मा है।

उक्त चारों गाथाओं में लगभग एक ही बात कही गई है कि एक द्रव्य न तो दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप परिणमित होता है, न दूसरे द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न ही होता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने भावों में ही परिणमित होता है।

इसलिए एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य की पर्यायों के साथ कर्ता-कर्मसंबंध होना संभव नहीं है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि स्व-पर को जाननेवाला जीव भी पर का कर्ता-धर्ता नहीं है और स्व-पर को नहीं जाननेवाला पुद्गल भी पर का कर्ता-धर्ता नहीं है। इसीप्रकार का भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं।।
नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं,
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं,
करता-करम की प्रवृत्ती मिटे नहीं।।५०।।

ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है तथा पुद्गल अपनी और पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है। इसप्रकार उक्त दोनों में परस्पर अत्यन्त भेद होने से वे दोनों परस्पर अंतरंग में व्याप्य-व्यापकभाव को प्राप्त होने में अत्यन्त असमर्थ हैं।

जीव और पुद्गल के परस्पर कर्ता-कर्मभाव है' - ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण तबतक

ही भासित होती है; जबतक कि भेदज्ञानज्योति करवत की भाँति निर्दयता से तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योऽन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह –

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।८०।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।८१।।
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुदगलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति।।८०।।
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि।।८१।।

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम्।।८२।।

तात्पर्य यह है कि स्व-पर को जाननेवाला ज्ञानी जीव और स्व-पर को नहीं जाननेवाला पुद्गल दोनों ही अपने-अपने परिणामों में प्रवर्तित होते हैं; अपनी-अपनी परिणति के कर्ता-धर्ता हैं; उनमें परस्पर सदा ही रहनेवाला अत्यन्त भेद है। इसकारण उनमें व्याप्य-व्यापकभाव का किसी भी रूप में बनना संभव नहीं है; अतः उनमें परस्पर कर्ताकर्मभाव भी नहीं बन सकता तो भी अज्ञानीजीव अपने अज्ञान के कारण उनमें कर्ता-कर्मभाव मानते हैं। उनका यह अज्ञान तबतक ही रह सकता है, जबतक भेदज्ञानज्योति प्रगट नहीं होती। भेदज्ञानज्योति प्रगट होने पर उक्त अज्ञान का एकसमय भी रहना संभव नहीं है।

विगत गाथाओं में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा और पुद्गल में परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। न तो आत्मा पौद्गलिकभावों का कर्ता है और न पुद्गल आत्मीयभावों का।

इसी बात तो दृढ़ता प्रदान करने के लिए अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि **जीव और पुद्गल के परिणामों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव होने पर भी कर्ताकर्मभाव नहीं है।**

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमें।
पुद्गल करम के निमित्त से यह आतमा भी परिणमें।।८०।।
आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे।
पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित्त हैं।।८१।।

बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा।
अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्ता नहीं।।८२।।

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्यजीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपिजीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः।।८०-८२।।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कार्माण वर्गणाएँ) कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पौद्गलिककर्मों के निमित्त से परिणमन करता है।

यद्यपि जीव कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों को नहीं करता; तथापि परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं - ऐसा जानो।

इसकारण आत्मा अपने भावों का कर्ता है, परन्तु पौद्गलिककर्मों के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्ता नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जीव के परिणामों को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं। - इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गलकर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र से ही दोनों के परिणाम होते हैं।

इसलिए जिसप्रकार मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है; उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाने के कारण जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् होता है; किन्तु जिसप्रकार मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य होने से जीव पुद्गलभावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता - यह निश्चय है।''

यह आत्मा अनादिकाल से ही पर के कर्तृत्वादि की मान्यता से इसप्रकार ग्रस्त है कि अनेक युक्तियों और आगम के आधार पर बारम्बार समझाये जाने पर भी मिथ्यात्व के जोर से इसकी यह कर्तापने की बुद्धि टूटती नहीं है, छूटती नहीं है।

जबतक यह आत्मा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के द्वारा, 'मैं पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' - ऐसे निरन्तर चिन्तन के द्वारा उक्त कर्तृत्वबुद्धि को क्षीण नहीं करेगा; तबतक वह अनादिकालीन मिथ्या मान्यता छूटनेवाली नहीं है, टूटनेवाली नहीं है।

यही कारण है कि आचार्यदेव उक्त मिथ्यामान्यता पर बारम्बार तीव्र प्रहार करते हैं और वस्तु के पारमार्थिक सत्य को हम सबके गले उतारना चाहते हैं।

अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि **यह आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है।** इस बात को आगामी गाथा में भी प्रस्तुत करते हैं।

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम्।।८३।।

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता।।८३।।

निश्चयनय का ऐसा कहना है कि यह आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है – हे शिष्य ! ऐसा तू जान।

इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार यह आत्मा निश्चय से स्वयं का कर्ता है; उसीप्रकार यह भोक्ता भी स्वयं का ही है। यह आत्मा न तो पर का कर्ता ही है और न भोक्ता ही।

विगत अनेक गाथाओं में जो बात अनेक युक्तियों से आत्मा के कर्तृत्व के बारे में समझाई गई है; इस निष्कर्ष की गाथा में यह कहा जा रहा है कि वे सभी युक्तियाँ आत्मा के भोक्तृत्व के संबंध में भी घटित कर लेना। संपूर्ण कथन का निष्कर्ष जो इस गाथा में प्रस्तुत किया गया है, वह मात्र इतना ही है कि यह आत्मा निश्चय से अपने विकारी-अविकारी परिणामों का कर्ता-भोक्ता है, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं।

ध्यान रहे, इस गाथा में आत्मा को स्वयं के विकारी और अविकारी – दोनों ही भावों का कर्ता-भोक्ता कहा जा रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार समुद्र की उत्तरंग (तरंगोंवाली) और निस्तरंग (तरंगों से रहित – शांत) अवस्थाओं में क्रमशः वायु का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी वायु और समुद्र में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से उनमें कर्ताकर्मभाव की असिद्धि है; इसकारण समुद्र स्वयं ही अन्तर्व्यापक होकर – उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग रूप अपने को करता हुआ; केवल स्वयं को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्।

तथा ससंसारनि:संसारावस्थयो: पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्म-जीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनि:संसारावस्थे व्याप्य ससंसारं नि:संसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्।

तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्संसारं नि:संसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु, मा पुनरन्यत्।।८३।।

जिसप्रकार वही समुद्र भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, स्वयं को उत्तरंग और निस्तरंगरूप अनुभव करता हुआ; केवल स्वयं को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

उसीप्रकार जीव की संसार और नि:संसार (मुक्त) अवस्थाओं में क्रमश: पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) का होना और नहीं होना निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है; इसकारण जीव स्वयं अन्तर्व्यापक होकर - संसार अथवा नि:संसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, संसार और असंसार रूप अपने को करता हुआ; केवल स्वयं को ही करता प्रतिभासित हो, अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो।

इसीप्रकार वही जीव भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, स्वयं को संसाररहित और संसारसहित अनुभव करता हुआ; केवल स्वयं को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।''

उक्त कथन में यह बताया गया है कि जिसप्रकार समुद्र की तरंगित और निस्तरंग अवस्थाओं में वायु के चलने और नहीं चलने की निमित्तता को स्वीकार करते हुए भी उनमें परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव एवं भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण उन्हें उनका कर्ता-भोक्ता नहीं माना जाता; अपितु व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के सद्भाव के कारण समुद्र को ही उसकी दोनों अवस्थाओं का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है।

ठीक उसीप्रकार आत्मा की विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं में पुद्गलकर्म के उदय और अनुदय की निमित्तता होने पर भी उनमें परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण आत्मा की विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं का कर्ता-भोक्ता कर्म के उदय-अनुदय को नहीं कहा जा सकता; अपितु व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के सद्भाव

के कारण आत्मा को ही उसकी विकारी और अविकारी दोनों अवस्थाओं का कर्ता-भोक्ता क्यों न कहा जाये ?

अथ व्यवहारं दर्शयति, अथैनं दूषयति –

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं।।८४।।
जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।८५।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम्।।८४।।
यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम्।।८५।।

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति-तावद्व्यवहारः।

तात्पर्य यह है कि निश्चय से आत्मा ही अपनी विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं का कर्ता-भोक्ता है।

अब व्यवहारनय का पक्ष प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा।
व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यात्मा।।८४।।
पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों सम्मत न जो जिनधर्म में।।८५।।

व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को करता है और उन्हीं अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को भोगता है।

यदि आत्मा पुद्गलकर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा अपनी और पुद्गलकर्म की दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे; जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''यद्यपि अन्तर में व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी ही घड़े को करती है और भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है; तथापि बाह्य में व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल ऐसे व्यापार को करता हुआ कुम्हार घड़े का कर्ता है और घड़े के पानी के उपयोग से तृप्ति को भाव्य-भावकभाव से अनुभव करता हुआ वही कुम्हार घड़े का भोक्ता है – ऐसा

लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है।

तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गल-द्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाण: पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदु:खपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीव: पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद्व्यवहार:।

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामो -ऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्न:। ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति।

क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्चततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयो: परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमत: स्यात्।।८४-८५।।

इसीप्रकार यद्यपि अन्तर में व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य ही पौद्गलिक कर्मों को करता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही पौद्गलिक कर्मों को भोगता है; तथापि बाह्य में व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के होने में अनुकूल अपने रागादि परिणामों को करता हुआ जीव पुद्गलकर्म को करता है और पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता से उत्पन्न अपनी सुख-दु:खरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ जीव पुद्गलकर्म को भोगता है। इसप्रकार अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।

इस जगत में जो भी क्रिया है, वह परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है, परिणाम ही है; और परिणाम व परिणामी एक होने से, परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है। अत: यह सिद्ध ही है कि जो कुछ भी क्रिया है, वह क्रियावान द्रव्य से भिन्न नहीं है।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप से क्रिया और कर्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से जिसप्रकार जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणामों को करता है और भाव्य-भावकभाव से उन्हें ही भोगता है; उसप्रकार यदि जीव व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलकर्म को भी भोगे तो उस जीव को अपनी और पर की - दोनों की क्रियाओं से अभिन्न मानना होगा।

ऐसी स्थिति में स्व-पर का विभाग ही अस्त हो जाने से अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का निजरूप अनुभव करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जायेगा, इसकारण सर्वज्ञ के मत से भी बाहर हो जायेगा।''

देखो, यहाँ यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार कुम्हार को घड़े का कर्ता और भोक्ता कहना वास्तविकता न होकर अनादि का रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार आत्मा को पौद्गलिक कर्मों का

कर्ता-भोक्ता कहना भी अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।

ध्यान देने की बात यह है कि इसे ज्ञानियों का नहीं, अज्ञानियों का व्यवहार बताया गया है। भले

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत् –

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।८६।।

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति।।८६।।

यत: किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्या-दृष्टय एवेति सिद्धांत:। मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणाम: क्रियमाण: प्रतिभातु।

ही ज्ञानी भी प्रयोजन विशेष से इसप्रकार के व्यवहार में प्रवर्तित होते हों, इसप्रकार की भाषा का उपयोग करते हों; तथापि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है; इसकारण वे अज्ञानदशा को प्राप्त न होकर ज्ञानी ही रहते हैं।

उक्त गाथाओं में ८४वीं गाथा में असद्भूतव्यवहारनय का मत बताया गया है और ८५वीं गाथा में उसमें दोष दिखाया गया है। कहा गया है कि यदि व्यवहारनय के कथनानुसार आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता माना जायेगा तो द्विक्रियावादित्व का प्रसंग आयेगा। ऐसा मानना होगा कि आत्मा अपनी क्रिया भी करे और कर्म की क्रिया भी करे; जो कि जिनेन्द्र भगवान को स्वीकार नहीं है।

देखो, यहाँ द्विक्रियावादी को सर्वज्ञ के मत के बाहर कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ऐसा मानते हैं कि हम अपना काम तो करते ही हैं, पर का काम भी करते हैं; वे सभी द्विक्रियावादी होने से सर्वज्ञ के मत के बाहर हैं।

८५वीं गाथा में द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि बताया गया है। अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों है ?**

इस प्रश्न के उत्तर में ही ८६वीं गाथा का जन्म हुआ है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे।
तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे।।८६।।

क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा के भाव और पुद्गल के भाव – दोनों को आत्मा करता है; इसीलिए वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

इस गाथा में द्विक्रियावादी को परिभाषित किया गया है। आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को भी घड़े और कुम्हार के उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है; जो इसप्रकार है –

''आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं आत्मा करता है – ऐसा

माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं – यह सिद्धान्त है; क्योंकि एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित नहीं होते।

यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति।

तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु।।८६।।

यद्यपि कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने परिणाम (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप व्यापार) को करता हुआ प्रतिभासित होता है; क्योंकि वह परिणाम कुम्हार से अभिन्न है और प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम को करता ही है; तथापि घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी वह कुम्हार अपने व्यापार (परिणाम) के अनुरूप मिट्टी के घटपरिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; क्योंकि वह घटरूप परिणाम मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी द्वारा ही किया जाता है।

इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; क्योंकि वह परिणाम आत्मा से अभिन्न है और प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम को करता है, किन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ प्रतिभासित न हो; क्योंकि वह पुद्गल का परिणाम पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल के द्वारा किया जाता है।''

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं –

''जिसप्रकार कुम्हार उपादानरूप से स्वकीयपरिणाम करता है; यदि उसीप्रकार उपादानरूप से ही घट को भी करे; तो उसे रूपी, अचेतन और घटरूप होना होगा अथवा घट को चेतन और कुम्हार होना होगा। इसीप्रकार यदि जीव भी उपादानरूप से पुद्गलकर्म को करे तो जीव को अचेतन–पुद्गल अथवा पुद्गल कर्म को चेतन–जीव होना होगा।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि यदि जीव को निश्चयनय से पुद्गलकर्मों का कर्ता मानें तो या तो जीव को पुद्गल मानना होगा या फिर पुद्गलकर्मों को जीव मानना होगा; क्योंकि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता–धर्ता नहीं होता।

अतः यह सुनिश्चित ही है कि जीव अपने भावों को भी करता है और पौद्गलिक कर्मों को भी करता है – ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी हैं; इसकारण वे मिथ्यादृष्टि भी हैं।

८६वीं गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा प्राप्त होती है; जो आत्मख्याति

में नहीं है।

वह गाथा मूलत: इसप्रकार है –

(आर्या)

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।५१।।
एक: परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणति: स्यादनेकमप्येकमेव यत:।।५२।।
नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्वाद्यदनेकमनेकमेव सदा।।५३।।
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेदयदि अप्पणो भावं।।

(हरिगीत)

पुद्गल करम के निमित्त से निजभाव जिय आतम करे।
बस उसतरह ही आतमा निज भाव का वेदन करे।।

जिसप्रकार पुद्गल कर्म के निमित्त से अपने आत्मा में होनेवाले विकारीभावों का कर्ता आत्मा है; उसीप्रकार पुद्गल कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारीभावों का भोक्ता भी यह आत्मा है।

इस गाथा में मात्र इतनी ही बात कही गई है कि जिसप्रकार आत्मा रागादिभावों का कर्ता है; उसीप्रकार वह उनका भोक्ता भी है, किन्तु पर का कर्ता-भोक्ता वह कदापि नहीं है।

इसप्रकार यह एक प्रकरण समाप्त होता है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस प्रकरण को समाप्त करते हुए छह कलश (छन्द) लिखते हैं, जिनमें से चार कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है।
है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं।।५१।।
अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही।
परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की।।५२।।

परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमें।
परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं।।५३।।
कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना।
ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना।।५४।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः।।५५।।

(अनुष्टुभ्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; परिणमित होनेवाले का जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं और एक की ही परिणति (क्रिया) होती है; क्योंकि अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेदरूप नहीं है।

दो द्रव्य एक होकर (मिलकर) परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का मिलकर एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की मिलकर एक परिणति (क्रिया) नहीं होती; क्योंकि जो अनेक (भिन्न-भिन्न) हैं, वे सदा अनेक ही रहते हैं, मिलकर एक नहीं हो जाते।

एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म भी नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होतीं; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि एक काम को दो द्रव्य मिलकर नहीं करते, दो द्रव्यों के काम को एक द्रव्य नहीं करता; प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने-अपने परिणाम और परिणति का कर्ता-धर्ता है।

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणामों और अपनी-अपनी परिणति का कर्ता-धर्ता स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार इस प्रकरण को समाप्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आगामी कलशों में यह भावना भाते हैं कि यह अनादिकालीन अज्ञान यदि एकबार नाश को प्राप्त हो जाये तो फिर इसका उदय ही न हो।

कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

'पर को करूँ मैं' - यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है।
यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है।।
भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो।

तो ज्ञान के घनपिण्ड आतम को कभी ना बंध हो।।५५।।

(दोहा)

परभावों को पर करे, आतम आतमभाव।
आप आपके भाव हैं, पर के हैं परभाव।।५६।।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।।८७।।
पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतियोंगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः।।८७।।
पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु।।८८।।

इस जगत के मोही जीवों का 'मैं पर का कर्ता हूँ' – इसप्रकार का पर के कर्तृत्वसंबंधी जो महा–अहंकार है, अत्यन्त दुर्निवार अनादिकालीन अहंकाररूप अज्ञानान्धकार है। अहो ! यदि वह भूतार्थनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत निज भगवान आत्मा के ग्रहण से, अनुभव से एकबार प्रलय को प्राप्त हो जाये, जड़मूल से नाश हो जाये; तो फिर इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा को बंध कैसे हो सकता है ?

आत्मा सदा अपने भावों को ही करता है और परभावों को सदा पर ही करते हैं; अतः जो आत्मा के भाव हैं, वे आत्मा ही हैं और जो पर के भाव हैं, वे पर ही हैं।

ध्यान रहे, उक्त कथन में ज्ञानी आत्मा को भी रागादिभावों का कर्ता–भोक्ता कहा गया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह आत्मा अपने विकारी–अविकारी परिणामों का कर्ता–भोक्ता होने पर भी परभावों का कर्ता–भोक्ता तो कदापि नहीं है; अतः इस आत्मा को परभावों का कर्ता–भोक्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

यहाँ बार–बार यह कहा जा रहा है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता–भोक्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ये मिथ्यात्व, अज्ञान आदि क्या हैं ?

उक्त प्रश्न का उत्तर इन गाथाओं में दिया जा रहा है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मिथ्यात्व–अविरति–जोग–मोहाज्ञान और कषाय
ह ।
ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविधप्रकार हैं।।८७।।
मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं।।८८।।

जीवमिथ्यात्व और अजीवमिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है। इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि भी जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव हैं; वे तो पौद्गलिक कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव हैं, वे उपयोग हैं।

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्य-मानत्वाज्जीवाजीवौ।

तथाहि - यथा नीलहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव।

तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव।

काविह जीवाजीवाविति चेत् - यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तद-मूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिः जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ।।८७-८८।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि सभी भाव मोर और दर्पण के समान जीव और अजीव के द्वारा भाये जाने से जीव भी हैं और अजीव भी हैं।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं - जिसप्रकार नीला, हरा और पीला आदि वर्णरूप भाव मोर के स्वयं के स्वभाव होने से मोर के द्वारा ही भाये जाते हैं, मोर में ही पाये जाते हैं; अतः वे मोर ही हैं; किन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाले नीले, हरे, पीले आदि वर्णरूप भाव, दर्पण की स्वच्छता के विकारभाव से दर्पण द्वारा भाये जाने से, दर्पण में ही पाये जाने से, दर्पण ही हैं, मोर नहीं।

ठीक इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि पौद्गलिक कर्मरूपभाव अजीव के स्वयं के स्वभाव होने से अजीव द्वारा ही भाये जाते हैं, अजीव में ही पाये जाते हैं; अतः अजीव ही हैं; किन्तु पुद्गलकर्म के उदयानुसार आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि भाव चैतन्य के भाव होने से जीव के द्वारा ही भाये जाते हैं, जीव में पाये जाते हैं; अतः जीव ही हैं।

अतः यह सुनिश्चित ही है कि निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति आदि अजीव हैं; वे तो अमूर्तिक चैतन्यपरिणामों से भिन्न मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति आदि जीव हैं; वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से भिन्न चैतन्यपरिणाम के विकार हैं।''

तात्पर्य यह है कि वे मिथ्यात्वादि भाव चेतन के विकार भी हैं और पौद्गलिक कर्मों की प्रकृतियाँ भी हैं, इसकारण चेतन भी हैं और अचेतन भी हैं।

यहाँ मोर और दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर के उदाहरण के माध्यम से जीव और अजीव मिथ्यात्वादि

को समझाया गया है। मोर में दिखाई देनेवाले नीले, हरे, पीले रंग तो मोर से अभिन्न होने से मोर ही हैं; किन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाले मोर में जो नीले, हरे, पीले रंग आदि दिखाई देते हैं, उनमें मोर का कुछ भी नहीं है; क्योंकि वे तो मोर के निमित्त से होनेवाले दर्पण के ही परिणमन हैं, मोर के नहीं। तात्पर्य यह है कि दर्पण में दिखाई देनेवाला मोर मोर है ही नहीं, वह तो दर्पण ही है।

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो।।८९।।

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः।।८९।।

~~**उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतर–भूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः।**~~

स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूप –परिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टः; तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाव–वस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो: दृष्टव्यः।।८९।।

इसीप्रकार जो कार्माणवर्गणारूप पौद्गलिक स्कंध मिथ्यात्वादि प्रकृतियों रूप परिणमित होते हैं, वे मिथ्यात्वादि प्रकृतियाँ तो द्रव्यमिथ्यात्वादि हैं, अजीवमिथ्यात्वादि हैं; किन्तु उन्हीं मिथ्यात्वादि कर्मों के उदयानुसार जीव में होनेवाले परकर्तृत्वादिबुद्धिरूप मिथ्यात्वादिभाव जीव के विकार होने से जीव हैं। इसप्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम आदि जीवरूप भी होते हैं और अजीवरूप भी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **मिथ्यात्वादि भाव आये कहाँ से और ये आत्मा के साथ कब से हैं ?** इस प्रश्न के उत्तर में ८९वीं गाथा लिखी गई है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से।
जानो उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये।।८९।।

मोहयुक्त उपयोग के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव – ये तीन परिणाम अनादि से ही जानना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि निश्चय से निजरस से ही समस्त वस्तुओं में अपने स्वभावभूत स्वरूपपरिणमन की सामर्थ्य होती है; तथापि इस आत्मा के उपयोग का अनादि से ही अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है।

उपयोग का वह परिणामविकार स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है।

जिसप्रकार यद्यपि स्फटिकमणि अपने स्वरूप–परिणमन में समर्थ है; तथापि कदाचित् काले रंग के तमालपत्र, हरे रंग के केले के पत्ते और पीले रंग के स्वर्णपात्र के आधार का संयोग

होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला – ऐसे तीनप्रकार का परिणामविकार दिखाई देता है।

उसीप्रकार आत्मा के अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है – ऐसे अन्य वस्तुभूत मोह का संयोग होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ऐसे तीनप्रकार का परिणामविकार समझना चाहिए।''

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति –

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।९१।।

~~**एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।**~~
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता।।९०।।
यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम्।।९१।।

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परसंग से मिथ्यात्वादि विकारीभावों रूप परिणमित होना पर्यायगत स्वभाव है और यह परिणमन अनादि से हो रहा है।

यहाँ एक बात विशेष जानने योग्य है कि यदि एकबार इन मिथ्यात्वादि भावों का नाश हो जाये तो फिर इनकी उत्पत्ति नहीं होती; जैसा कि पिछले कलश में कहा भी गया है।

विगत गाथा में कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध होने पर भी अनादि से ही मोहयुक्त होने से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भावरूप परिणमित हो रहा है।

अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **इन मिथ्यात्वादिभावों का कर्ता कौन है ?**

इस प्रश्न के उत्तर में ये गाथायें लिखी गई हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यद्यपी उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है।
जिसरूप परिणत हो त्रिविध वह उसी का कर्ता बने।।९०।।
आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्ता बने।
बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमे।।९१।।

यद्यपि आत्मा का उपयोग शुद्ध और निरंजन भाव है; तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस भाव को स्वयं करता है, उस भाव का वह कर्ता होता है।

आत्मा जिस भाव को करता है, उसका वह कर्ता होता है। उसके कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि परमार्थ से उपयोग शुद्ध, निरंजन एवं अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावपने से एकप्रकार का ही है; तथापि अनादि से ही अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति भावरूप परिणामविकार के

परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्र–भावत्वेनैकेविधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्व–मुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात्।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह–

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्, साधकवत्। तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते।

तथाहि – यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणमनमानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते विषव्याप्तयो, विडंब्यन्ते योषितो, ध्वंस्यन्ते बंधाः।

तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते।।९०–९१।।

निमित्त से अशुद्ध, सांजन और अनेकपने को प्राप्त होता हुआ तीनप्रकार का होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस–जिस भाव में अपनापन स्थापित करता है, उस–उस भाव का कर्ता होता है।

अब यह कहते हैं कि जब आत्मा तीनप्रकार के परिणाम विकारों को करता है; तब पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है।

आत्मा जिस भाव को करता है, स्वयं ही उस भावरूप परिणमित होने से साधक की भाँति उस भाव का कर्ता होता है और आत्मा के उस भाव के निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमित होते हैं।

जिसप्रकार मंत्र की साधना करनेवाला साधक उसप्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों के अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर साधक के कर्ता हुए बिना व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते हैं।

इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादिक भावरूप स्वयं परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्ता होता है और वे मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमित होने में अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर आत्मा के कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।''

उक्त गाथाओं में अत्यन्त सीधी और सरल भाषा में यह बात कही गई है कि यद्यपि भगवान आत्मा तो सदा ही शुद्ध-बुद्ध और निरंजन-निराकार है; तथापि अनादि से ही मोहयुक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणमित हो रहा है; इसकारण वह इन भावों का कर्ता भी है, किन्तु पर का कर्ता कदापि नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आत्मा के उक्त मिथ्यादर्शनादि भावों का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्मणवर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणमित होती रहती हैं।

अज्ञानादेव कर्म प्रभवति एवं ज्ञानात्तु कर्म न प्रभवतीति तात्पर्यमाह –

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।।९२।।
परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि।।९३।।

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति।।९२।।
परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति।।९३।।

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति।

अब आगामी गाथाओं में निष्कर्ष के रूप में यह कहते हैं कि अज्ञान से कर्म उत्पन्न होते हैं और ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं अर्थात् **अज्ञानीजीव कर्मों का कर्ता होता है और ज्ञानीजीव कर्मों का कर्ता नहीं होता।**

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे।
अज्ञानमय वह आतमा पर करम का कर्ता बने।।९२।।
पररूप ना निज को करे पर को करे निज रूप ना।
अकर्ता रहे पर करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा।।९३।।

जो पर को अपनेरूप करता है, अपने को भी पररूप करता है; वह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता होता है।

जो पर को अपनेरूप नहीं करता और अपने को भी पररूप नहीं करता, वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता, अकर्ता ही रहता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जबतक यह आत्मा अज्ञान से स्व और पर में परस्पर भेद नहीं जानता, तबतक पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानरूप होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है; किन्तु जब यह आत्मा ज्ञान से स्व और पर में परस्पर भेद को जान लेता है, तब पर को अपनेरूप व अपने को पररूप नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ, कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

तथाहि – तथाविधानुभवसंपादनसमर्थाया: रागद्वेषसुखदु:खादिरूपाया: पुद्गलपरिणामावस्थाया: शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थाया: शीतोष्णाया: पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्त तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादे: कर्मण: कर्ता प्रतिभाति।

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनो: परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूत: कर्मणामकर्ता प्रतिभाति।

तथाहि – तथाविधानुभवसंपादनसमर्थाया: रागद्वेषसुखदु:खादिरूपाया: पुद्गलपरिणामावस्थाया: शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थाया: शीतोष्णाया: पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य

जिसप्रकार शीत–उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ पुद्गलपरिणाम की शीत–उष्ण अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।

उसीप्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ पुद्गलपरिणाम की राग–द्वेष, सुख–दु:खादि अवस्था भी पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।

जब यह आत्मा अज्ञान के कारण उन राग–द्वेष एवं सुख–दु:खादि का और उनके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता, तब एकत्व के अध्यास के कारण शीत–उष्ण की भाँति (जिसप्रकार शीत–उष्ण अवस्था के रूप में आत्मा का परिणमित होना अशक्य है, उसीप्रकार राग–द्वेष एवं सुख–दु:खादि अवस्था के रूप में आत्मा का परिणमित होना अशक्य है) जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है – ऐसे राग–द्वेष, सुख–दु:खादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ, परिणमित होना मानता हुआ, ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानरूप होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ, यह राग मैं करता हूँ' – इत्यादि विधि से रागादिकर्म

का कर्ता प्रतिभासित होता है।

किन्तु जब यह आत्मा ज्ञान के कारण उन राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादि का और उनके अनुभव का परस्पर अन्तर जान लेता है, तब 'वे एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न हैं' - ऐसे विवेक के कारण, भेदविज्ञान के कारण शीत-उष्ण की भाँति, जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन अशक्य है - ऐसे राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र भी ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति।।९२-९३।।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत् -

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।।९४।।
तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।।९५।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य।।९४।।
त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य।।९५।।

परिणमित न होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ, 'यह मैं रागादि को जानता ही हूँ, राग तो पुद्गल करता है' - इत्यादि विधि से ज्ञान से समस्त रागादिकर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन में एक ही बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार पुद्गल की शीतोष्ण अवस्था, पुद्गल का परिणाम है, पुद्गल का ही कर्म है, कार्य है और पुद्गल ही उसका कर्ता है तथा उसे जाननेवाला ज्ञान आत्मा का कर्म है, कार्य है और आत्मा ही उस ज्ञानरूप कर्म का कर्ता है; ठीक उसीप्रकार राग-द्वेषादि भाव भी पुद्गल के परिणाम हैं, पुद्गल के कर्म हैं, कार्य हैं और पुद्गल ही उनका कर्ता है तथा उन्हें जाननेवाला ज्ञान आत्मा का कर्म है, कार्य है और आत्मा ही उस ज्ञानरूप कर्म का कर्ता है।

इसप्रकार का भेदज्ञान जबतक प्रगट नहीं होता, तबतक यह आत्मा अज्ञानी रहता है और उन्हें जाननेवाले ज्ञान के समान उन राग-द्वेषादि भावों का कर्ता कहा जाता है; किन्तु जब उपर्युक्त भेदज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञानी आत्मा स्वयं को राग-द्वेषादि भावों का कर्ता नहीं मानता है, अपितु उन्हें जाननेरूप भाव के रूप में ही परिणमित होता हुआ, उन रागादिभावों का अकर्ता ही रहता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि रागादिभाव भी पुद्गल के परिणाम हैं और उनका कर्ता अज्ञानी आत्मा को तो कदाचित् कह भी सकते हैं; पर ज्ञानी आत्मा तो उनका कर्ता कदापि नहीं है, वह तो उनका ज्ञाता-दृष्टा ही है।

'अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं' - आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ।।९४।।
त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ।।९५।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्।

एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्।।९४-९५।।

यह तीनप्रकार का उपयोग जब क्रोधादि में 'मैं क्रोध हूँ' – इसप्रकार का आत्मविकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

इसीप्रकार यह तीनप्रकार का उपयोग जब धर्मास्तिकाय आदि में 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' – इसप्रकार का आत्मविकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सामान्यतः अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीनप्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेषज्ञान से और अविशेष रति से समस्त भेद को छिपाकर, भाव्य-भावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का सामान्य-अधिकरणरूप अनुभव करने से – मानो उनका एक ही आधार हो – इसप्रकार का अनुभव करने से – 'मैं क्रोध हूँ' – ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए 'मैं क्रोध हूँ' – ऐसी भ्रान्ति के कारण सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

इसीप्रकार क्रोध पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, रसना और स्पर्शन – इन सोलहसूत्रों को भी घटित कर लेना चाहिए, इसी उपदेश से इनके अतिरिक्त और भी सूत्र बनाये जा सकते हैं।

इसीप्रकार ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त, स्वपर के सामान्य-अधिकरणरूप अनुभव करने से 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' - ऐसा आत्मविकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ - ऐसी भ्रान्ति के कारण सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिकपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।''

~~ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्~~ -

एवं पराणि दव्वाणि अप्पय कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण।।९६।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन।।९६।।

पर और निज में अविशेष दर्शनरूप मिथ्यादर्शन, अविशेष ज्ञानरूप मिथ्याज्ञान और अविशेष रतिरूप, रमणतारूप, लीनतारूप मिथ्याचारित्र - ये तीनों सविकारचैतन्य परिणाम हैं, आत्मा के ही विकारी परिणाम हैं।

यद्यपि ये तीनों आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों के विकारी परिणमन हैं; तथापि इन्हें सामान्यरूप से 'अज्ञान' नाम से ही अभिहित किया जाता है। इन्हीं परिणामों को ९३वीं गाथा में पुद्गल का परिणाम कहा था; और यहाँ इन्हें सविकारचैतन्यपरिणाम कहा जा रहा है।

भाव्य-भावक संबंधवाले क्रोधादिभावों और ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त धर्मादि द्रव्यों को अपने आत्मा से भिन्न न जानकर जब यह आत्मा मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ आदि सविकारचैतन्यपरिणामरूप और मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ आदि सोपाधिपरिणामोंरूप परिणमित होता है, तब वह अपने इन सविकारचैतन्यपरिणामों का एवं सोपाधिकपरिणामों का कर्ता-भोक्ता होता है। चूँकि उक्त सभी सविकारचैतन्यपरिणाम और सोपाधिकपरिणामों का एक नाम अज्ञान है; इसकारण यह कहा जाता है कि अज्ञानभावरूप से परिणमित आत्मा अर्थात् अज्ञानी आत्मा अज्ञानभाव का कर्ता-भोक्ता है।

यद्यपि धर्मादि ज्ञेयभावों एवं क्रोधादि भावकभावों से निजभगवान आत्मा भिन्न है; तथापि निज आत्मा और इन भावों के बीच भेदज्ञान न होने से यह आत्मा ''मैं धर्मादिद्रव्यरूप हूँ और मैं क्रोधादिभावों रूप हूँ' - इसप्रकार के विकल्पों रूप परिणमित होता हुआ आत्मा इसीप्रकार के श्रद्धानरूप परिणमित होता है, इसीप्रकार के ज्ञानरूप परिणमित होता है व इसीप्रकार के आचरणरूप परिणमित होता है और इसे ही अज्ञानरूप परिणमित होना कहा जाता है।

इसप्रकार परिणमित अज्ञानी आत्मा इस परिणमन का कर्ता होता है और यह परिणमन उस अज्ञानी आत्मा का कर्म होता है। उक्त दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र यही कहा गया है।

अतः यह सिद्ध हो गया कि कर्तृत्व का मूल अज्ञान है - यह वाक्य विगत गाथाओं का उपसंहार और आगामी गाथा की उत्थानिका है।

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

इसतरह यह मंदबुद्धि स्वयं के अज्ञान से।
निज द्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे।।९६।।

इसप्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपनेरूप और स्वयं को पररूप करता है।

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्।

तथा हि – यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति।

यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रङ्कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माऽप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रिय–

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इसप्रकार 'मैं क्रोध हूँ और मैं धर्मास्तिकाय हूँ' – इत्यादि की भाँति यह आत्मा परद्रव्यों को अपने रूप और अपने को परद्रव्यरूप करता है। इसलिए यद्यपि यह आत्मा समस्त परवस्तुओं के संबंध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है; तथापि अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणाम वाला होने से इसप्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। इसप्रकार भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट पुरुष की भाँति आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं कि जिसप्रकार भूताविष्ट व्यक्ति अज्ञान के कारण भूत और स्वयं को एक मानता हुआ अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बनपूर्वक भयंकर आरम्भ से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य–भावकरूप पर को और स्वयं को एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावक के लिए अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणामवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जिसप्रकार अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ, कोई भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और स्वयं को एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा

हूँ' – ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ, उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और स्वयं को एक करता हुआ 'मैं परद्रव्य हूँ' – ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा अपनी शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों

विषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।।९६।।

के विषयभूत रूपीपदार्थों के द्वारा अपना केवलबोध ढका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम-अमृतरूप विज्ञानघन मूर्च्छित हुआ होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।''

टीका में भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट व्यक्ति के उदाहरण से परकर्तृत्व का मूल अज्ञान है – यह समझाया गया है।

जब किसी व्यक्ति को भूत-प्रेतादि व्यंतरबाधा हो जाती है, भूत लग जाता है तो वह ऐसी चेष्टायें करने लगता है कि जो मनुष्यों के जीवन में सामान्यत: नहीं देखी जातीं – ऐसे व्यक्ति को भूताविष्ट कहते हैं।

इसीप्रकार जो व्यक्ति ध्यान के माध्यम से स्वयं को उसरूप अनुभव करने लगता है, जो वह नहीं है तो उसे ध्यानाविष्ट कहते हैं।

टीका में ध्यानाविष्ट का स्वरूप गगनस्पर्शी सींगोंवाले भैंसे के ध्यान के माध्यम से समझाया गया है।

कोई पुरुष अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से इसप्रकार के ध्यान में चढ़ गया कि मैं ऐसा भैंसा हूँ कि जिसके सींग इतने लम्बे हैं कि आकाश को छू लें। वह विचार करता है कि मेरे दोनों सींग आकाश के दोनों कोनों में अड़ गये हैं। अत: अब यदि मैं अपनी गर्दन को जरा भी हिलाऊँगा तो गर्दन के टूट जाने की संभावना है; क्योंकि सींग तो आकाश के कोनों में इसप्रकार अड़ गये हैं, फँस गये हैं कि उनका हिलना संभव नहीं है।

इसप्रकार के विचार में, ध्यान में वह इतना तल्लीन हो गया है, इतना एकाकार हो गया है कि वह स्वयं को सचमुच ही गगनस्पर्शी सींगोंवाला भैंसा मानने लगा है। गर्दन में अत्यन्त पीड़ा होने पर भी वह गर्दन टूट जाने के भय से अपनी गर्दन को नहीं हिलाता और मनुष्योचित मकान के दरवाजे से बाहर भी नहीं निकलता। इसप्रकार के व्यक्ति को यहाँ ध्यानाविष्ट कहा गया है।

यहाँ ज्ञेय पदार्थों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व माननेवाले अज्ञानी के स्वरूप को ध्यानाविष्ट पुरुष के और राग-द्वेष आदि विकारीभावों में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करनेवाले अज्ञानी के स्वरूप को भूताविष्ट पुरुष के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है।

देखो भाई ! आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि रागादि विकारी भावों में जो तेरा अपनापन है, वह भूताविष्ट पुरुषों जैसा असद्व्यवहार है, अमानुषिक व्यवहार है और पुद्गलादि पर-पदार्थों में जो तेरा अपनापन है, वह ध्यानाविष्ट पुरुषों के समान अविवेक है, अमानुषिक आचरण है।

इसप्रकार यह आत्मा अपने सविकारचैतन्यपरिणामों का कर्ता भूताविष्ट पुरुषों की भाँति और अपने सोपाधिकचैतन्यपरिणामों का कर्ता ध्यानाविष्ट पुरुषों की भाँति होता है; किन्तु पर का कर्ता तो अज्ञानी आत्मा भी कदापि नहीं होता।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हो गया कि **ज्ञान से परकर्तृत्व का नाश होता है** – यही बात आगामी गाथा में कह रहे हैं।

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम् –

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्वकत्तितं।।९७।।

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम्।।९७।।

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति।

तथा हि – इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेद-संवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्, ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति, ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्प-मात्मनः करोति, ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो बारम्बारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति।

ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्, ततो-ऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

बस इसतरह कर्ता कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।
जो जानते यह तथ्य वे छोड़ें सकल कर्तापना।।९७।।

इसकारण निश्चयनय के विशेषज्ञ ज्ञानियों ने उक्त आत्मा को कर्ता कहा है – निश्चयनय से जो ऐसा जानता है, वह सर्वकर्तृत्व को छोड़ देता है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इसकारण वह निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है। – जो ऐसा जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; इसलिए वह निश्चय से अकर्ता प्रतिभासित होता है।

अब इसी बात को विशेष समझाते हैं – अनादि से ही संकुचित भेदसंवेदनशक्तिवाला यह आत्मा अज्ञान के कारण आरम्भ से ही मिश्रित स्वाद का स्वादन होने से, पुद्गल कर्म और आत्मा का एकमेकरूप मिश्र अनुभव होने से स्व-पर को एकरूप जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' – इत्यादि आत्मविकल्प करता है। इसकारण निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघनस्वभाव से

भ्रष्ट होता हुआ, बारम्बार अनेक विकल्पोंरूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

और जब यह आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान के कारण पुद्गल कर्म और अपने स्वाद का भिन्न-भिन्न अनुभव होने के कारण भेदसंवेदनशक्ति से सम्पन्न होता हुआ यह जानता है कि 'अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण अत्यन्त मधुर चैतन्य रसवाला आत्मा और कषायों में एकत्व का अध्यास अज्ञान के कारण होता है।

कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति, ततोऽकृतक-मेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति, ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति, ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते, ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति ।।९७।।

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ।।५७।।

इसप्रकार पर को और स्वयं को भिन्न-भिन्न जानकर यह आत्मा 'मैं एक अकृत्रिम ज्ञान ही हूँ, कृत्रिम क्रोधादि नहीं' - ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' - इत्यादि आत्मविकल्प किंचित् मात्र भी नहीं करता, इसकारण समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; इसलिए सदा ही उदासीन होता हुआ मात्र जानता रहता है; अतः निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।''

'कर्तृत्व का मूल अज्ञान है' - इस बात को ८७वीं गाथा से ९७वीं गाथा तक विविध प्रकार से विविध युक्तियों द्वारा विस्तार से समझाया गया है।

अब उक्त ग्यारह गाथाओं के भव्य भवन पर आचार्य अमृतचन्द्र छह कलश चढ़ाते हैं; जिनमें मुख्यरूप से यही कहा जानेवाला है कि इस जगत में जो कुछ अप्रशस्त है, असुन्दर है; वह सब अज्ञान के कारण ही है और जो कुछ प्रशस्त, सुन्दर व सुखद होता है; उसका मूल कारण एकमात्र सद्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

उक्त कलशों में पहले कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज।
भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास।।
समझे मीठी घास नाज को ना पहिचाने।
त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने।।
पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है।
अरे शिखरणी पी मानो गो-दूध पिया है।।५७।।

निश्चय से स्वयं ज्ञानरूप होने पर भी अज्ञान के कारण जो जीव घास के साथ एकमेक हुए

स्वादिष्ट भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति राग करता है, राग और आत्मा का मिला हुआ स्वाद लेता है; वह दही और इक्षुरस (गन्ने का रस, गुड़, चीनी) के खट्टे-मीठे स्वाद की अतिलोलुपता से शिखरणी (श्रीखण्ड) को पीकर भी 'मैं तो गाय का दूध पी रहा हूँ' - ऐसा माननेवाले पुरुष के समान अज्ञानी है।

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः।।५८।।

उक्त कलश में तो यह कहा गया है कि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर में तथा रागादि में एकत्व मानता है और अब आगामी कलश में यह कह रहे हैं कि शुद्धज्ञानमय होकर भी यह आत्मा पर का और रागादिभावों का कर्ता बनकर आकुलित हो रहा है।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीतिका)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल मानकर।
अज्ञान से ही डरें तम में रस्सी विषधर मानकर।।
ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो।
वातोद्वेलित उदधिवत् कर्ता बने आकुलित हो।।५८।।

जिसप्रकार अज्ञान के कारण मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से मृग उसे पीने को दौड़ते हैं और अज्ञान से ही अंधकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से लोग भय से भागते हैं; उसीप्रकार शुद्धज्ञानमय होने पर भी ये जीव अज्ञान के कारण पवन से तरंगित समुद्र की भाँति विकल्पों के समूह को करने से आकुलित होते हुए अपने आप ही पर के कर्ता होते हैं।

यहाँ यह बताया गया है कि जिसप्रकार मृगमरीचिका में पड़े हुए मृग भयंकर गर्मी में आकुलित होकर भागते हैं और अंधकार में पड़ी रस्सी को सर्प समझकर लोग आकुलित होकर भागते हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वभावी यह भगवान आत्मा अज्ञान के कारण पर की संभाल में दौड़-धूप करता है, धनादि पदार्थों के जुटाने में जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण बर्बाद करता है, देहादि की अनुकूलता के लिए भक्ष्याभक्ष्य के विचाररहित होकर असद् आचरण करता है और पर-पदार्थों और शुभाशुभ भावों का कर्ता-धर्ता बनकर आकुलित होता है।

जिसप्रकार समुद्र स्वभाव से तो शान्त ही है, तथापि वायु के वेग से तरंगित हो जाता है,

आन्दोलित हो जाता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी स्वभाव से तो शान्त ही है, तथापि अज्ञान के कारण पर का कर्ता बन आकुलित होता है।

उक्त छन्द में अज्ञान के कारण क्या होता है ? – यह बताया गया है और अब आगे के छन्द में यह बताते हैं कि ज्ञान से क्या-क्या होता है।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि।।५९।।

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम्।।६०।।

(हरिगीतिका)

दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों।
सद्ज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों।।
जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आतमा।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमातमा।।५९।।

जिसप्रकार हंस दूध और पानी में अन्तर को जान लेता है; उसीप्रकार जो जीव ज्ञान के कारण विवेकवाला होने से आत्मा और पर-पदार्थों के भेद को जान लेता है; वह अचल चैतन्यधातु में सदा आरूढ़ होता हुआ, उसका आश्रय लेता हुआ मात्र जानता ही है, किंचित्मात्र भी कर्ता नहीं होता। तात्पर्य यह है कि स्व-पर के भेद को जाननेवाला ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं।

हंस की चोंच में कुछ खटास रहती है। इसकारण जब वह दूध पीने के लिए उसमें अपनी चोंच डालता है तो दूध फट जाता है। इसतरह दूध अलग और पानी अलग हो जाता है। हंस की इस विशेषता के कारण साहित्यजगत में यह प्रसिद्ध है कि हंस में दूध और पानी को अलग-अलग कर देने की अपार क्षमता है। इसकारण हंस को क्षीर-नीर विवेकी भी कहा जाता है। जो व्यक्ति भले-बुरे की पहिचान करने में समर्थ होता है, असली-नकली का भेद समझने में चतुर होता है; उसे हंस की उपमा दी जाती है और उसे भी क्षीर-नीर विवेकी कहा जाता है।

यही कारण है कि यहाँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को शरीरादि परपदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा को जान लेने के कारण क्षीर-नीर विवेकी कहा जा रहा है, साथ में यह भी कहा जा रहा है कि ज्ञानी

आत्मा शरीर, कर्म और कर्मोदयजन्य विकारी भावों को जानता तो है, पर करता नहीं है; उनका तमाशगीर ही रहता है, उनका तमाशा देखनेवाला ही रहता है, ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्ता-धर्ता नहीं बनता।

आगामी कलश के पद्यानुवाद में ज्ञान की महिमा बताते हुए कहते हैं -

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्।।६१।।
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।६२।।

(आडिल्ल)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की।
और शीतलता सहज ही नीर की।।
व्यंजनों में है नमक का क्षारपन।
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन।।
क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता।
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता।।
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धातमा।
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा।।६०।।

गर्म पानी में अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद ज्ञान से ही प्रगट होता है और नमक के स्वादभेद का निरसन ज्ञान से ही होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि वह साग में पड़े हुए नमक का सामान्य स्वाद जान लेता है।

इसीप्रकार निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु और क्रोधादिभावों का परस्पर भेद भी ज्ञान ही जानता है और क्रोधादिक के कर्तृत्व को भेदता हुआ ज्ञान ही प्रगट होता है।

अब आगामी प्रकरण की सूचना देनेवाले दो कलश हैं, जिनमें कहा गया है कि आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है, पर का नहीं। उसे पर का कर्ता कहना व्यवहारीजनों का मोह है।

उक्त कलशों के पद्यानुवाद इसप्रकार हैं -

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा।।६१।।
ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?

कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ।।६२।।

इसप्रकार निश्चय से अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ यह आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है, परभाव का कर्ता कदापि नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; अत: वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है – ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।

तथा हि –

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।९८।।
जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।।९९।।
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।१००।।

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ।।९८।।
यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ।।९९।।
जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ।।१००।।

अब इसी बात को गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का।
इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ।।९८।।
परद्रव्यमय हो जाय यदि पर द्रव्य में कुछ भी करे।
परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ।।९९।।
ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे।
कर्ता कहा तत्रूपपरिणत योग अर उपयोग का ।।१०० ।।

व्यवहार से आत्मा घट–पट–रथ इत्यादि वस्तुओं को, इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है।

यदि आत्मा निश्चय से भी परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये, किन्तु वह तन्मय (परद्रव्यमय) नहीं है; इसलिए वह उनका कर्ता भी नहीं है।

आत्मा घट को नहीं करता, पट को नहीं करता और शेष अन्य द्रव्यों को भी नहीं करता; किन्तु जीव घट-पट को करने के विकल्पवाले अपने योग और उपयोग का कर्ता अवश्य होता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यद्यपि यह आत्मा पर का कर्ता नहीं है, तथापि पर के करने के विकल्परूप परिणाम अपने उपयोग और योग का कर्ता अवश्य है।

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिः कर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः।

स न सन् – यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्, न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति। ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति।

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति – यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गात् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्ताऽस्तु न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्।।९८-१००।।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसकारण से यह आत्मा अपने इच्छारूप विकल्प और हस्तादिक की क्रियारूप व्यापार के द्वारा घट आदि परद्रव्यरूप बाह्य कार्यों को करता हुआ प्रतिभासित होता है; उसीकारण से क्रोधादिकरूप परद्रव्यस्वरूप सभी अंतरंग कार्यों को भी करता है; क्योंकि घटादि और क्रोधादि दोनों ही परद्रव्यरूप हैं, परत्व की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। – ऐसा व्यवहारीजनों का व्यामोह है।

यदि वास्तव में यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कार्य को करे तो परिणाम-परिणामीभाव की अन्यथा अप्राप्ति होने से नियम से तन्मय हो जाये, किन्तु ऐसा होता नहीं है; क्योंकि अन्य द्रव्य की अन्य द्रव्य में तन्मयता होने पर अन्य द्रव्यों के नाश की आपत्ति आती है। अतः एक द्रव्य दूसरे से तन्मय हो ही नहीं सकता। इसकारण आत्मा घटादिक एवं क्रोधादिक परद्रव्यरूप कार्यों का व्याप्य-व्यापक भाव से तो कर्ता है ही नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर तन्मयता का प्रसंग आता है।

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी आत्मा घटादिक और क्रोधादिक का कर्ता नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आता है। अनित्य योग और उपयोग ही निमित्तरूप से घटादिक और क्रोधादिक के कर्ता हैं।

यद्यपि आत्मा को रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप अपने विकल्पों का और आत्मप्रदेशों के चलनरूप अपने व्यापार का कर्ता तो किसी अपेक्षा कह भी सकते हैं; तथापि परद्रव्यस्वरूप

घटादिकार्यों का कर्ता तो आत्मा निमित्तरूप से भी कदापि नहीं है।''

इन गाथाओं में यह बताया गया है कि यद्यपि व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि आत्मा घट-पटादि पदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों का कर्ता है; तथापि निश्चयनय व्यवहारनय का निषेध करता हुआ कहता है कि यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाये; क्योंकि निश्चय से जो जिसका कर्ता होता है, वह उससे तन्मय होता है।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् –

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०१।।

ये पुदगलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।१०१।।

कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त अनेक लोगों का ऐसा मानना है कि यह आत्मा परद्रव्यों का उपादान भले ही न हो, पर निमित्तकर्ता तो होता ही है।

उनकी इस मिथ्या मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्यदेव यहाँ यह कह रहे हैं कि यदि आत्मा को परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्तकर्ता माना जाये तो आत्मा के नित्य होने से उक्त कार्य को निरन्तर होते रहना चाहिए; परन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। अत: यह सुनिश्चित ही है कि यह भगवान आत्मा पर-पदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों का उपादानकर्ता तो है ही नहीं, निमित्तकर्ता भी नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि पर के करने के भावरूप परिणत आत्मा का उपयोग और आत्मप्रदेशों के हलन-चलनरूप आत्मा का योग परद्रव्य की क्रिया में निमित्त होता है।

यद्यपि आत्मा अपने इस उपयोग और योग का कर्ता है, तथापि उन योग और उपयोग के निमित्त से होनेवाले परपदार्थों के परिणमन का कर्ता वह कदापि नहीं है।

ध्यान रहे, यहाँ परद्रव्य के परिणमन के कर्तृत्व का निषेध है, उनके करने के भावरूप अपने परिणमन के कर्तृत्व का नहीं।

पर के कर्तृत्व के अभिमान से ग्रस्त और करने-धरने के विकल्पों में उलझे रहनेवाले जगत को उक्त परमसत्य को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए। न केवल समझने का ही प्रयास करना चाहिए, अपितु तदनुसार जीवन को ढालने का भी प्रयास करना चाहिए; क्योंकि जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।

१००वीं गाथा में यह कहा गया था कि भगवान आत्मा घट-पट-रथ आदि परपदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों का उपादानकर्ता तो है ही नहीं, निमित्तकर्ता भी नहीं है। उनके करने के भावरूप अपने उपयोग और योग का कर्ता कदाचित् अज्ञानी आत्मा को कह भी सकते हैं, किन्तु ज्ञानी आत्मा तो उनका भी कर्ता नहीं होता।

अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ज्ञानी आत्मा क्या करता है ?

अत: इस १०१वीं गाथा में कहते हैं कि **ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।
उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं।।१०१।।

ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के जो परिणाम हैं, उन्हें जो आत्मा करता नहीं है, परन्तु जानता है; वह आत्मा ज्ञानी है।

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुदगलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव। एवं ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्।

एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।।१०१।।

आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले दूध–दही गोरस के ही खट्टे–मीठे परिणाम हैं। उन्हें तटस्थभाव से जाननेवाला ज्ञाता–दृष्टा पुरुष उनको करता नहीं है; उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले ज्ञानावरणादिक कर्म पुद्गल द्रव्य के ही परिणाम हैं। उन्हें तटस्थभाव से जाननेवाला ज्ञाता–दृष्टा ज्ञानी जीव उनको करता नहीं है।

किन्तु जिसप्रकार वह गोरस को देखने–जाननेवाला पुरुष गोरस को देखने–जानने में व्याप्त होकर मात्र उसे देखता–जानता ही है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव भी उन ज्ञानावरणादिक कर्मों को देखने–जानने में व्याप्त होकर मात्र उन्हें देखता–जानता ही है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।

इसीप्रकार ज्ञानावरण पद के स्थान पर क्रमशः दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय पद रखकर सात कर्मसूत्र और बनाना चाहिए। इसीप्रकार मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन – इन सोलह पदों को रखकर सोलह सूत्र बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। इस उपदेश से इसीप्रकार के अन्य सूत्र भी बनाये जा सकते हैं। उसका भी विचार कर लेना चाहिए।''

गाय के दूध और उससे बननेवाले पदार्थों को यदि एक नाम से कहना हो तो उन्हें गोरस कहा जा सकता है। गाय का रस माने दूध–दही आदि। गोरस स्वयं ही दूध से दहीरूप में परिणमित हो जाता है। अपने इस परिणमन का कर्ता वह स्वयं ही है, उसे दूर से ही तटस्थभाव से देखनेवाला पुरुष नहीं। उस दूध को दहीरूप में स्वयं परिणमित होते देखनेवाला पुरुष अपने उस देखने–जाननेरूप परिणमन का कर्ता तो है, पर दूध को दहीरूप में परिणमाने का कर्ता नहीं।

इसीप्रकार कार्माणवर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वयं ही परिणमित होती हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञानी जीव उन्हें जाननेरूप अपनी ज्ञान परिणति का तो कर्ता है, पर उनके परिणमन का कर्ता नहीं;

उनके परिणमन का तो वह ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्ता-धर्ता नहीं।

गाथा १०१ में कहा गया है कि ज्ञानी आत्मा परभावों का कर्ता नहीं है, पर उन्हें जाननेरूप अपने परिणाम का कर्ता अवश्य है। अत: यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि समझदार होने से ज्ञानी भले ही परपदार्थों के परिणमन को न करता हो, पर अज्ञानी तो पर का कार्य करता ही होगा?

इस प्रश्न का उत्तर आगामी गाथा में दिया गया है कि **अज्ञानी भी परभावों का कर्ता नहीं है।**

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा।।१०२।।

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्याम-चलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मन: स्वादं भिंदान: शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद्भवति कर्म, स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावक-त्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनुभाव्य: ।।१०२।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा।
वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा।।१०२।।

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उस भाव का वह वास्तव में कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है तथा वह आत्मा उस भाव का भोक्ता भी होता है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यद्यपि आत्मा अचलित एक विज्ञानघन स्वादवाला ही है, तथापि जो आत्मा अनादि-कालीन अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं द्वारा अपने विज्ञानघन स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानस्वरूप शुभ या अशुभ भाव को करता है; वह अज्ञानी आत्मा उससमय तन्मयता से उस भाव में व्यापक होने से उस शुभाशुभभाव का कर्ता होता है और वह शुभाशुभभाव भी उससमय तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करनेवाला भोक्ता होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य होता है, भोग्य होता है। इसप्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है।''

उक्त टीका में यह बताया गया है कि यह ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा भी जब अज्ञान के कारण शुभाशुभभावों में व्याप्त होता है, शुभाशुभभावों में तन्मय होता है, तन्मयता से उनके कर्तृत्व और

भोक्तृत्व रूप परिणमित होता है; तब वह उनका कर्ता-भोक्ता होता है, किन्तु पर का कर्ता-भोक्ता तो वह तब भी नहीं होता।

इसप्रकार अज्ञानी अपने शुभाशुभभाव रूप अज्ञान परिणमन का और ज्ञानी उन्हें जाननेरूप अपने ज्ञान परिणमन का कर्ता होता है, किन्तु पर का कर्ता न तो ज्ञानी होता है और न अज्ञानी ही। पर का कर्ता तो वही परद्रव्य होता है कि जिसका वह परिणमन है।

एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्। न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।।१०३।।
दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम्।।१०३।।
द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता।।१०४।।

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः, स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत। द्रव्यांतरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत्? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत।

१०१ व १०२वीं गाथाओं में यह कहा गया है कि ज्ञानी अपने ज्ञान परिणमन का कर्ता है और अज्ञानी अपने अज्ञान परिणमन का; पर का कर्ता न तो ज्ञानी है और न अज्ञानी।

अब १०३ व १०४वीं गाथा में उसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि **कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के भाव को करने में समर्थ नहीं है।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में।
तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में।।१०३।।
कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में।
जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें?।।१०४।।

जो वस्तु जिस द्रव्य में और जिस गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में या अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है?

आत्मा पुद्गलमय कर्म के द्रव्य व गुण को नहीं करता। उन दोनों को न करता हुआ वह आत्मा उनका कर्ता कैसे हो सकता है?

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अपने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में या गुण में अनादि से ही जो वस्तु निजरस से वर्तती है, अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा तोड़ने में अशक्य होने से वह वस्तु उसी में वर्तती है, द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त न होती हुई, वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ? इसलिए यह सुनिश्चित है कि परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर-संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः, द्रव्यांतरसंक्रममन्तरे-णान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति।

तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते, द्रव्यांतर-संक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता।।१०३-१०४।।

जिसप्रकार मिट्टीमय घटरूपी कर्म (कार्य) मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के गुण में निजरस से ही वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्य को या अपने गुणों को डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है। इसकारण द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण दोनों को उस घटरूपी कार्य में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता।

इसीप्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म (कार्य) पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निजरस से ही वर्तते हैं, उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुणों को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप में संक्रमण होना अशक्य है। द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य व गुण दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उनका कर्ता कैसे हो सकता है ? इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में संक्रमित ही नहीं होता तो उसमें वह कर भी क्या सकता है ? अतः यह आत्मा भी कर्मों में संक्रमित न होने से कर्मों का कर्ता नहीं हो सकता।

विगत गाथा में यह बात बहुत विस्तार से स्पष्ट की गई है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता नहीं है। अतः अब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है, तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा कर्मों का कर्ता है। जिनवाणी में भी कई स्थानों पर यह मिलता

है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता है।

अब आगामी गाथाओं में उक्त समस्याओं का समाधान करते हुए सोदाहरण यह समझाया जा रहा है कि **यह तो मात्र उपचार है।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अतोऽन्यस्तूपचारः –

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण।।१०५।।
जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण।।१०५।।
योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन।।१०६।।

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमितिनिर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः।

कथमिति चेत् – यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः।

(हरिगीत)

बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में।
करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से।।१०५।।
रण में लड़े भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया।
बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किये व्यवहार से।।१०६।।

जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबंध का परिणाम होता हुआ देखकर 'जीव ने कर्म किया' – इसप्रकार मात्र उपचार से कह दिया जाता है।

जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' – इसप्रकार लोग कहते हैं; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यद्यपि इस लोक में यह आत्मा स्वभाव (परमार्थ) से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त भी नहीं है; तथापि जो अज्ञानभाव पौद्गलिक कर्मों का निमित्तभूत है, अनादि अज्ञान के कारण उस अज्ञानभावरूप परिणमित होने से पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किये – ऐसा विकल्प निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों को होता है और वह विकल्प मात्र उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

यदि कोई कहे कि यह किसप्रकार है तो उससे कहते हैं कि – जिसप्रकार युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित होते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' – ऐसा उपचार किया जाता है, वह मात्र उपचार है, परमार्थ नहीं।

तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो, न परमार्थः ।।१०५-१०६।।

अत एतत्स्थितम् –

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।।१०७।।
जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गल द्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये' – ऐसा उपचार किया जाता है; वह मात्र उपचार है, परमार्थ नहीं।''

उक्त गाथाओं का भाव अत्यन्त सरल एवं सहज है। आचार्यदेव एकदम स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि यह तो मात्र उपचरित कथन है कि जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये। वस्तुतः विचार करें तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता न होने से आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता हो ही नहीं सकता।

देखो, यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा को कर्मों का कर्ता कहना उसीप्रकार का अत्यन्त स्थूल उपचरित कथन है कि जिसप्रकार सैनिकों के द्वारा किये गये युद्ध को राजा द्वारा किया गया कहना है। राजा तो युद्ध के मैदान में गया ही नहीं है, आराम से राजमहल में ही रहा है और सैनिक तो पूर्णतः युद्ध में ही रचे-पचे थे, तब भी युद्ध करनेवालों के रूप में सैनिकों का नाम भी न लेना और यह कहना कि राजा ने युद्ध किया है।

जिसप्रकार यह कहना कथन मात्र है, उसीप्रकार जो कार्माण वर्गणा कर्मरूप परिणमित हुई है, उसका तो नाम भी न लेना और जो आत्मा कर्म के परिणमन में निमित्त भी नहीं है, उसको कर्मों का कर्ता कहना भी कथन मात्र ही है।

विगत गाथाओं में यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो गई है कि आत्मा परभावों का न तो उपादानकर्ता ही है और न निमित्तकर्ता ही; फिर भी लोक में आत्मा को परभावों का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है। न केवल लोक में, आगम में भी इसप्रकार के अनेक कथन उपलब्ध

होते हैं। इसकारण बहुत से आत्मार्थी बन्धु असमंजस में पड़ जाते हैं।

उन आत्मार्थी भाइयों के असमंजस को दूर करने के लिए आचार्यदेव आगामी गाथाओं में कह रहे हैं कि वह सब कथन व्यवहारनय का है और वह व्यवहार भी प्रजा के दोषों का उत्तरदायी राजा को कहने के समान ही है।

अत: यह निश्चित हुआ कि –

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम्।।१०७।।
यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपित:।
तथा जीवो व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादको भणित:।।१०८।।

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयति उत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्प: स किलोपचार:।

कथमिति चेत् – यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुण-दोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचार:, तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापक-भावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचार:।।१०७-१०८।।

(हरिगीत)

ग्रहे बाँधे परिणमावे करे या पैदा करे।
पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है।।१०७।।
गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से।।१०८।।

आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहारनय का कथन है।

जिसप्रकार राजा को प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है; उसीप्रकार यहाँ जीव को पुद्गल द्रव्य के द्रव्य-गुणों को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''वस्तुत: यह आत्मा व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और न उसे करता है, न बाँधता है; फिर भी अर्थात् व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है; इसप्रकार का जो विकल्प है, वह वस्तुत: उपचार ही है।

यदि कोई कहे कि किसप्रकार तो कहते हैं कि – जिसप्रकार प्रजा के गुण-दोषों और प्रजा में व्याप्यव्यापकभाव होने से प्रजा ही अपने गुण-दोषों की उत्पादक है – यह स्वभाव से ही सिद्ध होने पर भी प्रजा के गुण-दोषों और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी

उपचार से कहा जाता है कि प्रजा के गुण-दोषों का उत्पादक राजा है।

उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों और पुद्गलद्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव होने से पुद्गलद्रव्य ही अपने गुण-दोषों का उत्पादक है - यह स्वभाव से ही सिद्ध होने पर भी पुद्गल के गुण-दोषों और आत्मा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी उपचार से कहा जाता है कि पुद्गल के गुण-दोषों का उत्पादक जीव है।''

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ।।६३।।

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।

एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

इसप्रकार इन गाथाओं में अन्तिम रूप से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है; क्योंकि यह आत्मा न तो उन्हें उत्पन्न करता है, न करता है, न परिणमित करता है, न ग्रहण करता है और न बाँधता ही है।

यह सुनिश्चित हो जाने पर इसप्रकार के प्रश्न सहज ही उत्पन्न होते हैं कि यदि ऐसा है तो फिर इन कर्मों को कौन बाँधता है, ये कर्म आत्मा के साथ क्यों बँधते हैं, कैसे बँधते हैं ?

ये प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्हें आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं कलश के रूप में उपस्थित करते हैं।

जिस कलश में इसप्रकार का प्रश्न उठाया गया है, उस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

यदि पुद्गलमय कर्म को, करे न चेतनराय।
कौन करे - अब यह कहें, सुनो भरम नश जाय।।६३।।

यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता है तो फिर उसे कौन करता है ? – ऐसी आशंका से ही अब तीव्रमोह के निवारण के लिए 'पुद्गल कर्म का कर्ता कौन है ? – यह आगामी गाथाओं में कहते हैं। उसे तुम सुनो।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

सामान्यप्रत्यया: खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तार:।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्या:।।१०९।।
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्प:।
मिथ्यादृष्ट्यादि: यावत् सयोगिनश्चरमान्त:।।११०।।
एते अचेतना: खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा।।१११।।
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि।।११२।।

पुद्गलकर्मण: किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषा: मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वार: कर्तार:, ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तास्त्रयोदश

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं।
सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे।।१०९।।
मिथ्यात्व आदि सयोगि–जिन तक जो कहे गुणथान हैं।
बस ये त्रयोदश भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में।।११०।।
पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन।
करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा।।१११।।
गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे।
कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे।।११२।।

चार सामान्य प्रत्यय बंध के कर्ता कहे जाते हैं। उन्हें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के रूप में जानना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त इन चार प्रत्ययों के तेरह भेद कहे गये हैं।

ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि ये चार प्रत्यय या तेरह गुणस्थान रूप प्रत्यय कर्मों को करते हैं तो भले करें। आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है।

चूँकि ये गुण नामक प्रत्यय अर्थात् गुणस्थान कर्म करते हैं, इसलिए जीव तो इन कर्मों का अकर्ता ही रहा और गुण ही कर्मों को करते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''पुद्गल कर्म का कर्ता वास्तव में तो एक पुद्गलद्रव्य ही है। उस पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार प्रकार हैं। ये चार प्रकार के बंध के सामान्य हेतु होने से बंध के कर्ता हैं। इनके ही भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह प्रकार होते हैं, जिन्हें तेरह गुणस्थान कहते हैं, विशेष भेद के विचार करने पर ये तेरह कर्ता हैं।

कर्तार:। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतना: संतस्त्रयोदश कर्तार: केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्रापतितम् ?

अथायं तर्क: – पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीव: स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गल–कर्म करोति। स किलाविवेक:, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमय–मिथ्यात्वादिवेदकोऽपि, कथं पुन: पुद्गलकर्मण: कर्ता नाम ?

अथैतदायातम् यत: पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेष–प्रत्यया गुणशब्दवाच्या: केवला एव कुर्वंति कर्माणि, तत: पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तार:। ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। तत: स्थितं पुद्गलकर्मण: पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ।।१०९–११२।।

(यहाँ आचार्य कहते हैं कि) पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन ये तेरह गुणस्थान ही कर्ता होकर व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करें तो भले करें, इसमें आत्मा का क्या आया ?

यहाँ यदि कोई ऐसा तर्क करे कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।

उससे कहते हैं कि इसप्रकार का तर्क वस्तुत: अविवेक ही है, अविवेक की निशानी ही है; क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी आत्मा नहीं है तो फिर पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है ?

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुण (गुणस्थान) शब्द से कहे जानेवाले पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं; इसलिए जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, किन्तु गुण (गुणस्थान) ही उनके कर्ता हैं और वे गुण तो पुद्गलद्रव्य ही हैं, इससे यह सुनिश्चित हुआ कि पौद्गलिक कर्मों का कर्ता एक पुद्गल ही है।''

देखो, यहाँ प्रत्ययों को बंध का कर्ता कहा जा रहा है; क्योंकि यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि बंध का कर्ता भगवान आत्मा नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि जब आत्मा बंध का कर्ता नहीं है तो फिर बंध का कर्ता कौन है ? क्योंकि बंध होता तो है ही।

जब बंध होता है तो उसका करनेवाला भी कोई न कोई तो होना ही चाहिए, क्योंकि कर्ता के बिना कार्य का होना संभव नहीं है।

इसी प्रश्न के उत्तर में यहाँ कहा जा रहा है कि बंध के कारण प्रत्यय हैं। वे प्रत्यय सामान्य से चार भागों में विभाजित किये जाते हैं। वे चार प्रकार के हैं – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

इन चार प्रत्ययों को तेरह गुणस्थान के रूप में विभाजित कर सकते हैं। अत: यहाँ कहा गया है कि मिथ्यात्व से सयोगकेवली पर्यन्त जो तेरह गुणस्थान हैं, वे भी इन चारों प्रत्ययों के कारण बनते हैं। अत: इन तेरह गुणस्थानों को भी बंध का कर्ता कहा जा सकता है। कहा क्या जा सकता है, इन गाथाओं में उन्हें बंधकर्ता कहा गया है और उनका नाम संक्षेप में 'गुण' ही रखा है।

अत: इन गाथाओं की अन्तिम पंक्ति में कहा गया है कि गुण ही कर्म करते हैं, अत: भगवान आत्मा अकर्ता है।

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वम् –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।११३।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ।।११४।।
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।११५।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोग: क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्य:।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ।।११३।।
एवमिह यस्तु जीव: स चैव तु नियमतस्तथाऽजीव:।
अयमेकत्वे दोष: प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ।।११४।।
अथ ते अन्य: क्रोधोऽन्य: उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्यया: कर्म नोकर्माप्यन्यत् ।।११५।।

ध्यान रहे, यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ गुणस्थान ही समझना, ज्ञानादि गुण नहीं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि गुण बंध के कारण नहीं हैं, गुणस्थान बंध के कारण हैं।

जब भगवान आत्मा बंध का कर्ता नहीं है तो वह कर्म का भोक्ता भी नहीं है; क्योंकि जो कर्ता होता है, भोक्ता भी वही होता है।

इन गाथाओं में एक बात यह भी कही गई है कि अचेतन पौद्गलिक कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण ये गुणस्थान भी अचेतन हैं, पुद्गल हैं और ये ही बंध के कर्ता-भोक्ता हैं।

अब आगामी गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि विगत गाथाओं में जिन मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को या गुणस्थानरूप प्रत्ययों को बंध का कारण बताया गया है; उन प्रत्ययों और कर्म-नोकर्म से भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न ही है। उत्थानिका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जीव और प्रत्ययों में एकत्व नहीं है।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्यों हि क्रोध अनन्य हो।
तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे।।११३।।
यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह।
का दोष प्रत्यय कर्म अर नोकर्म में भी आयगा।।११४।।
क्रोधान्य है अर अन्य है उपयोगमय यह आतमा।
तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ?।।११५।।

~~**यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्ति-**~~
स्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः।

एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात्।

नास्ति जीवप्रत्ययययोरेकत्वम्।।११३-११५।।

जिसप्रकार जीव से उपयोग अनन्य है; उसीप्रकार यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो तो जीव और अजीव में अनन्यत्व हो जायेगा, एकत्व हो जायेगा।

ऐसा होने पर इस जगत में जो जीव है, वही नियम से अजीव ठहरेगा और इसीप्रकार का दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्म के साथ भी आयेगा।

यदि इस भय से तू यह कहे कि क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूपी जीव अन्य है तो जिसप्रकार क्रोध जीव से अन्य होगा; उसीप्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी जीव से अन्य सिद्ध होंगे।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसप्रकार जीव के उपयोगमयी होने के कारण जीव से उपयोग अनन्य है; उसीप्रकार यदि ऐसी प्रतिपत्ति की जाये कि जड़ क्रोध भी जीव से अनन्य ही है तो चैतन्यरूप जीव और जड़ क्रोध के अनन्यत्व के कारण जीव में उपयोगमयता के समान जड़क्रोधमयता भी आ जायेगी। ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा; इसप्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा।

इसीप्रकार का दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्म को जीव से अनन्य मानने पर आयेगा।

इस दोष के भय से यदि यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगमयी जीव अन्य है और जड़स्वभावी क्रोध अन्य है; तो जिसप्रकार उपयोगमयी जीव जड़स्वभावी क्रोध से अन्य है; उसीप्रकार जड़स्वभावी प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी उपयोगमयी जीव से अन्य ही सिद्ध होंगे; क्योंकि उनके जड़स्वभावत्व में कोई अन्तर नहीं है। जिसप्रकार क्रोध जड़ है; उसीप्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी जड़ हैं।

इसप्रकार जीव और प्रत्ययों में एकत्व नहीं है।''

इन गाथाओं में यह कहा गया है कि जो मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय अथवा तेरह गुणस्थानरूप तेरह प्रत्यय बंध के कारण हैं, आस्रव हैं; वे उपयोगमयी आत्मा से भिन्न हैं, इसकारण आत्मा को बंध का कर्ता नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को बंध का कर्ता मानने की भावना से यदि इन प्रत्ययों को आत्मा से अभिन्न माना जायेगा तो फिर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों से भी आत्मा को अभिन्न मानना होगा, जो कि किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है; क्योंकि कर्म और नोकर्म में एकत्व-ममत्व रखना और इनका कर्ता-भोक्ता आत्मा को मानना ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है - यह बात विगत गाथाओं में विस्तार से समझाई जा चुकी है।

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति -

जीवे ण सय बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।११७।।
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

अब आगामी १० गाथाओं में सयुक्ति यह समझाते हैं कि जीव और पुद्गल - दोनों ही पदार्थों में परिणामशक्ति होने से वे स्वयं ही परिणमनशील हैं; उन्हें स्वयं के परिणमन में पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है।

सर्वप्रथम गाथा ११६ से १२० तक सांख्यमतानुयायी शिष्य को ध्यान में रखकर पुद्गलद्रव्य को परिणामस्वभावी सिद्ध करते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बँधे ही।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव।।११६।।
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति।।११७।।

यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को।।११८।।
यदि स्वयं ही परिणमें वे पुद्गल दरव कर्मत्व में।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावें आतमा।।११९।।
जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है।
जड़ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं।।१२०।।

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति।।११६।।
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।११७।।
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता।।११८।।
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम्।

जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या।।११९।।
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव।।१२०।।

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः।

अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः।

'यह पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बँधा और कर्मभाव से स्वयं परिणमित नहीं हुआ' - यदि ऐसा माना जाये तो वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी सिद्ध होता है और कार्मणवर्गणाएँ कर्मभाव से परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाये कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मभाव से परिणमाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन कार्मणवर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है ?

यदि ऐसा माना जाये कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिणमन करता है तो जीव कर्म (पुद्गलद्रव्य) को कर्मरूप परिणमन कराता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः ऐसा जानो कि जिसप्रकार नियम से कर्मरूप (कर्ता के कार्यरूप) परिणमित पुद्गलद्रव्य कर्म ही है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं अबद्ध रहे और स्वयं कर्मभाव से परिणमित न हो तो वह अपरिणामी सिद्ध होगा। ऐसा होने पर संसार का अभाव सिद्ध होगा। कारण यह है कि कार्मणवर्गणा के कर्मरूप हुए बिना जीव कर्म रहित सिद्ध होगा, ऐसी स्थिति में संसार कैसा ? क्योंकि जीव की कर्मबद्ध अवस्था का नाम ही तो संसार है।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाये कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा।

किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।

स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु।

तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्।।११६-१२०।।

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।६४।।

इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मरूप परिणमाता है कि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य को?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।

तथा स्वयं परिणमित होनेवाले पदार्थ को अन्य परिणमन करानेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही पक्षों में यह बात सिद्ध नहीं होती कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमाता है। अतः यही ठीक है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी हो।

ऐसी स्थिति में जिसप्रकार घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है; उसीप्रकार जड़स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।''

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई है कि कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही कर्मरूप परिणमित होता है।

आगामी कलश में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का।

सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का।।६४।।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणामशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

११६ से १२० गाथा तक पाँच गाथाओं में जो बात पुद्गल के बारे में कही गई है, वही बात आगामी पाँच गाथाओं में जीव के बारे में कही जा रही है; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

जीवस्य परिणामित्वं साधयति –

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि।।१२१।।
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२।।
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।।१२३।।
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।
कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति।।१२१।।
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।१२२।।
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम्।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः।।१२३।।
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या।।१२४।।
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः।।१२५।।

(हरिगीत)

यदि स्वयं ही ना बँधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषें।।१२१।।
स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति।।१२२।।
यदि परिणमावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को।

पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को।।१२३।।
यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़।।१२४।।
क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है।।१२५।।

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किला– परिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः।

अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्?

न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते।

ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु।

'यह जीव कर्म में स्वयं नहीं बँधता और क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता' – यदि ऐसा तेरा मत है तो यह जीव द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होगा।

जीव द्रव्य स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाये कि क्रोधरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को क्रोधकर्म, क्रोधरूप कैसे परिणमा सकता है ?

तथा यदि ऐसा माना जाये कि आत्मा स्वयं ही क्रोधभावरूप से परिणमता है तो फिर – क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमाता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः यह मानना ही ठीक है कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध ही है, मान में उपयुक्त आत्मा मान ही है और माया में उपयुक्त आत्मा माया ही है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ ही है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यदि जीव कर्म में स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभावों में स्वयमेव ही परिणमित न होता हो तो वह वस्तुतः अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव सिद्ध होगा।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाये कि क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करता है, इसकारण संसार का अभाव नहीं होगा।

इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्रोधादिरूप पुद्गल कर्म स्वयं

अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए जीव को ?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वत: न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता तथा स्वयं परिणमित होनेवाले पदार्थ को अन्य परिणमन करानेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। इसप्रकार दोनों ही पक्षों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित कराता है। अत: यही ठीक है कि जीव परिणमन-स्वभाववाला स्वयं ही हो।

तथा सति गरुडध्यानपरिणत: साधक: स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोग: स एव स्वयं क्रोधादि स्यात्। इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ।।१२१-१२५।।

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्ति:।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ।।६५।।

तथा हि -

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ।।१२६।।
अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।१२७।।

ऐसी स्थिति में जिसप्रकार गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है; उसीप्रकार अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है, ऐसा जीव स्वयं ही क्रोधादि है। इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।''

देखो, यहाँ टीका में दो बातें बहुत साफ-साफ कही गई हैं -

(१) जिस कार्य को करने की शक्ति स्वयं में न हो तो अन्य के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती।

(२) स्वयं का कार्य करने में शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इन दोनों सिद्धान्तों के माध्यम से आचार्य यह बात साफ कर देना चाहते हैं कि कार्य परिणामशक्तिरूप उपादान से ही होता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा अपनी स्वाभाविक परिमाणशक्ति के कारण ही क्रोधादिरूप परिणमित होता है, अन्य द्रव्य के कारण नहीं है।

इसी बात को आगामी कलश में व्यक्त किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

आतमा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब।

और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का।।६५।।

इसप्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है।

६५वें कलश में यह कहा गया है कि जीव अपने स्वभावभूत परिणामशक्ति के कारण जिस-जिस भावरूप परिणमित होता है, वह उन-उन भावों का कर्ता होता है।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मण:।
ज्ञानिन: स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिन:।।१२६।।
अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिन: करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि।।१२७।।

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मन: करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत। स तु ज्ञानिन: सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात्। अज्ञानिन: तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात्।

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह –

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय

अब आगामी गाथाओं में भी उसी भाव को स्पष्ट कर रहे हैं।

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय।।१२६।।
अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का।।१२७।।

आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भावरूप कर्म का कर्ता होता है। अज्ञानी के वे भाव अज्ञानमय होते हैं और ज्ञानी के ज्ञानमय।

अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होने से अज्ञानी कर्मों को करता है और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होने से ज्ञानी कर्मों को नहीं करता।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है और अपने जिस भाव को करता है, कर्मपने को प्राप्त उस भाव का कर्ता होता है। तात्पर्य यह है कि वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उस भाव का कर्ता है।

वह भाव भी ज्ञानी के ज्ञानमय ही होता है; क्योंकि ज्ञानी को स्वपर के विवेक से सर्व परभावों से भिन्न आत्मा की ख्याति सम्यक्प्रकार से अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही होता है; क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से परपदार्थों से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय और अज्ञानमय भावों से क्या होता है ?

सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से, पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त

एव भाव: स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्ट: पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकार: स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च, तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि।

ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मात् ज्ञानमय एव भाव: स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्ट: पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकार: स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति, तस्मात् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि।।१२६-१२७।।

(आर्या)

ज्ञानमय एव भाव: कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्य:।
अज्ञानमय: सर्व: कुतोऽयमज्ञानिनो नान्य:।।६६।।

होने से; अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही होते हैं। ऐसी स्थिति में स्वपर के एकत्व के अभ्यास के कारण ज्ञानमात्रभाव से भ्रष्ट और राग-द्वेष भाव से एकाकार होकर अहंकार में प्रवर्तमान 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं राग-द्वेष करता हूँ' - इसप्रकार मानता हुआ अज्ञानी रागी-द्वेषी होता है, अज्ञानमय भाव के कारण स्वयं को राग-द्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो सम्यक्प्रकार से स्वपर के विवेक के द्वारा पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से ज्ञानमय भाव ही होता है।

ऐसी स्थिति में स्वपर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र निजभाव में भलीप्रकार स्थित, पररूप राग-द्वेषादि भावों से भिन्नत्व के कारण अहंकार से निवृत्त ज्ञानी मात्र जानता ही है, रागी-द्वेषी नहीं होता, राग-द्वेष नहीं करता।

इसप्रकार ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी स्वयं को राग-द्वेषरूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानभावों का कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानभावों का कर्ता होता है।

इन गाथाओं के बाद जो कलश आता है, उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि अज्ञानी अज्ञानभावों का ही एवं ज्ञानी आत्मा ज्ञानभावों का ही कर्ता क्यों होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जायेगा। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं।।

ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है।।६६।।

यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमयभाव ही क्यों होते हैं, उसके अज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ? इसीप्रकार अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं, उसके ज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ?

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स।।१२९।।

ज्ञानमयाद्भावात् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः।।१२८।।
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः।।१२९।।

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः।

यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः।।१२८-१२९।।

कलश के अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि इस प्रश्न में क्या दम है कि ज्ञानी के भाव ज्ञानमय और अज्ञानी के भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं ? पर गहराई में जाते हैं तो यह भाव भासित होता है कि दया-दान-भक्ति आदि के शुभभाव तथा विषय-भोगादि के अशुभभाव यदि ज्ञानी के हों तो उन्हें ज्ञानमयभाव कहना और ये ही भाव यदि अज्ञानी के हों तो इन्हीं भावों को अज्ञानमय कहना कहाँ तक उचित है ? अज्ञानी के उक्त भावों को अज्ञानमय कहकर बंध के कारण बताना और ज्ञानी के उक्त भावों को ही ज्ञानमय कहकर वे बंध के कारण नहीं हैं - ऐसा कहना क्या न्यायसंगत है ? वास्तविक प्रश्न यह है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में ही ये गाथायें लिखी गई हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय।।१२८।।
अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय।।१२९।।

क्योंकि ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है; इसलिए ज्ञानियों के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

क्योंकि अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सभी अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, ज्ञानमय ही होता है; इसलिए ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।''

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता: सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।६७।।

इन गाथाओं की टीका के बाद आचार्य अमृतचन्द्र जो छन्द (कलश) लिखते हैं, उसमें भी इसी भाव को दुहराया गया है, इसी भाव की पुष्टि की गई है। उस छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं।।
उपादान के ही समान कारज होते हैं।
जौ बौने पर जौ ही तो पैदा होते हैं।।६७।।

ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से रचित होते हैं।

इन गाथाओं और इस कलश का भाव यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीवों के चारित्र की कमजोरी से जो भूमिकानुसार रागादिभावों का परिणमन पाया जाता है, वह परिणमन भी ज्ञानमयभाव ही कहलाता है; क्योंकि ज्ञानी जीव के उन रागादि के होने पर भी अनन्तसंसार को करनेवाला मिथ्यात्वादि का बंध नहीं होता। चारित्रमोहोदय संबंधी जो भी बंध होता है, वह अत्यन्त अल्प होता है, अनन्त संसार का कारण नहीं होता। इसकारण यहाँ उसे बंध में गिनते ही नहीं हैं।

इसप्रकार विगत कलश में जो प्रश्न उठाया गया था, उसका उत्तर इस कलश में दे दिया गया।

विगत कलश में कहा था कि 'ज्ञानवंत के भोग निर्जरा हेतु हैं' और अज्ञानी को वे ही भोग बंध करते हैं। इसका क्या कारण है ?

इस कलश में उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि अज्ञानी का उन भोगों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व है; इसकारण अज्ञानी को बंध होता है और ज्ञानी का उनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है; इसकारण ज्ञानी को उनसे बंध नहीं होता।

इस सबका कुल मिलाकर तात्पर्य यह हुआ कि बंध का मूल कारण शुभाशुभ क्रिया नहीं; अपितु अज्ञानभाव है, मिथ्यात्वभाव है। अत: हमें इस अज्ञानभाव, मिथ्यात्वभाव से बचने का प्रयास करना चाहिए; किन्तु परपदार्थों में मुग्ध इस जगत का ध्यान इस ओर है ही नहीं।

वह तो थोड़ी-बहुत शुभक्रिया और शुभभाव करके ही सन्तुष्ट है, उसी में धर्म मान रहा है।

जबतक वह अपने इस अज्ञानभाव को नहीं छोड़ेगा; मिथ्यात्वभाव को नहीं छोड़ेगा; तबतक बंध का निरोध नहीं होगा, संवर नहीं होगा, निर्जरा नहीं होगी और इनके नहीं होने से उसे मोक्ष भी नहीं होगा।

जो बात विगत गाथाओं तथा कलशों में कही गई है, अब आगामी गाथाओं में उसी बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते –

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी।।१३०।।
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः।।१३०।।
~~अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते।~~
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति।।१३१।।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुः, न पुनः कालायसवलयादयः, कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुः, न पुनर्जांबूनदकुण्डलादयः।

तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः

(हरिगीत)

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा।।१३०।।
इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय।।१३१।।

जिसप्रकार स्वर्णमयभाव में से स्वर्णमय कुण्डल आदि बनते हैं और लोहमय भाव में से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं।

उसीप्रकार अज्ञानियों के अनेकप्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानियों के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार पुद्गल के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी 'कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं' – इस नियम के अनुसार स्वर्णपदार्थ से स्वर्णमय ही कुण्डलादि बनते हैं, लोहमय कड़ा आदि नहीं बनते; क्योंकि स्वर्ण स्वर्णजाति का उल्लंघन नहीं करता तथा लोह पदार्थ से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं, स्वर्णमय कुण्डलादि नहीं; क्योंकि लोह लोहजाति का उल्लंघन नहीं करता।

इसीप्रकार जीव के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी 'कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं'

स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनर्ज्ञानमया, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनरज्ञानमयाः ।।१३०-१३१।।

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।

तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा।।१३४।।
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं।।१३५।।
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं।।१३६।।

– इस नियम के अनुसार अज्ञानी के अनेकप्रकार के अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमयभाव नहीं होते; क्योंकि अज्ञानमयभाव अज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते तथा ज्ञानमयभाववाले ज्ञानी के अनेकप्रकार के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय भाव नहीं होते; क्योंकि ज्ञानमयभाव ज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते।''

इसप्रकार इन गाथाओं में भी उदाहरण के माध्यम से यही सिद्ध किया गया है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं अथवा ज्ञानी अपने ज्ञानमयभावों का कर्ता-भोक्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्ता-भोक्ता है।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशरूपकाव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय, भावभूमि में व्याप्त।
इसकारण द्रवबंध के, हेतुपने को प्राप्त।।६८।।

अज्ञानी अपने अज्ञानमयभावों की भूमिका में व्याप्त होकर अपने अज्ञानमयभावों के कारण द्रव्यकर्म के बंधन के हेतुत्व को प्राप्त होता है, द्रव्यकर्म के बंधन का निमित्त बनता है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी के अज्ञानमयभाव ही कर्मबंधन के निमित्तकारणरूप हेतु हैं।

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम्।।१३२।।
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम्।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः।।१३३।।
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा।।१३४।।
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः।।१३५।।
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम्।।१३६।।

अब इसी बात को गाथाओं द्वारा कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का।।१३२।।
अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है।
उपयोग की यह कलुषिता ही कषायों का उदय है।।१३३।।
शुभ अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में।
जो चित्त का उत्साह है वह ही उदय है योग का।।१३४।।
इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएँ कर्म की।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में।।१३५।।
इस तरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही।।१३६।।

जीवों के जो अतत्त्व की उपलब्धि है, तत्त्व संबंधी अज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है; जो तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है; जो अविरमण है, अत्याग का भाव है, वह असंयम का उदय है; जो मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है।

जो शुभ या अशुभ, प्रवृत्तिरूप या निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है, उसे योग का उदय जानो।

इन उदयों के हेतुभूत होने पर जो कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप से आठ प्रकार परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव से बँधता है, तब जीव अपने अज्ञानमय परिणाम भावों का हेतु होता है।

इस बात का उल्लेख इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में भी है ही, जिसका भाव इसप्रकार है–

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः।

अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकेत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति।।१३२–१३६।।

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः –

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा।।१३७।।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।
जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा।।१३९।।
एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

''अतत्त्व की उपलब्धिरूप से अर्थात् तत्त्व के अज्ञान रूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है। नवीन कर्मों के हेतुरूप यह अज्ञानमयभाव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय के रूप में चार प्रकार के हैं। तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है, अविरमणरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है, कलुष उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है, शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है।

इन पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय के हेतुभूत होने पर जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध

होता है, तब स्वयमेव अज्ञान से स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है।''

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय में जब जीव स्वयं विकारीभावोंरूप परिणमित होता है, तब कर्मबंधन को प्राप्त होता है; किन्तु जब यह जीव कर्मोदय के विद्यमान रहते हुए भी स्वात्मोन्मुखी पुरुषार्थ करके विकाररूप परिणमित नहीं होता, निर्विकारी रहता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है; तब आगामी बंध नहीं होता।

अत: आत्मार्थियों को स्वात्मोपलब्धि के लिए सतत् सावधान रहना चाहिए।

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामा: खलु
भवंति रागादय: ।
एवं जीव: कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ।।१३७।।
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभि: ।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणाम: ।।१३८।।
यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणाम: ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ।।१३९।।
एकस्य तु परिणाम: पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मण: परिणाम: ।।१४०।।

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति

अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि पुद्गल का परिणाम जीव से भिन्न है और जीव का परिणाम पुद्गल से भिन्न है।

मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदी।
तो जीववत् जड़कर्म भी रागादिमय हो जायेंगे।।१३७।।
किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों।
तब कर्मजड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें।।१३८।।
यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो।।१३९।।
किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बने ?।।१४०।।

जीव के कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होते हैं अर्थात् कर्म और जीव दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमित होते हैं' - यदि ऐसा माना जाये तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिभावपने को प्राप्त हो जायें; परन्तु रागादिभावरूप तो एक जीव ही परिणमित होता है। इसकारण कर्मोदयरूप हेतु के बिना ही रागादिभाव जीव के परिणाम हैं।

इसीप्रकार 'पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम होता है अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमित होते हैं' – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मत्व को प्राप्त हो जायें, परन्तु कर्मरूप परिणमित तो एक पुद्गलद्रव्य ही होता है, इसकारण जीवभाव के हेतु बिना ही कर्म पुद्गल का परिणाम है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कर्मपरिणाम के निमित्तभूत रागादि–अज्ञान परिणाम से परिणत जीव के साथ ही पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणाम होते हैं – यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो जिसप्रकार मिले हुए चूना

वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः – यदि जीवस्य ~~तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गल–कर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा~~ जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधा–हरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञान–परिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो एव जीवस्य परिणामः।।१३७–१४०।।

किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह –

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।।१४१।।

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म।।१४१।।

और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य – दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जाये, परन्तु कर्मत्वरूप परिणाम तो एक पुद्गलद्रव्य के ही होता है; इसलिए जीव के रागादि अज्ञान परिणाम जो कि कर्म के निमित्त हैं; उनसे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

रागादि अज्ञान परिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही, दोनों एकत्र होकर ही रागादि अज्ञान परिणाम होता है – यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो जिसप्रकार मिले हुए चूना और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि अज्ञान परिणाम की आपत्ति आ जाये; परन्तु रागादि अज्ञान परिणाम तो एक जीव के ही होता है; इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि अज्ञान परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।''

अब नय विभाग से यह स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा कर्मबंधनों से बद्ध है या अबद्ध, कर्मों ने उसे स्पर्श किया है या नहीं ?

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का।।१४१।।

जीव में कर्म बँधा हुआ है और स्पर्शित है – ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है – यह शुद्धनय का कथन है।

आत्मख्याति टीका में भी इस गाथा के इसी अर्थ को मात्र दो पंक्तियों में दुहरा दिया गया है, जो इसप्रकार है –

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः। जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः।।१४१।।

ततः किम् –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः।।१४२।।

यः किल जीवे बद्धं कर्मेतियश्च जीवोऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति।

''जीव को और पुद्गलकर्म को एक बंधपर्यायपने से देखने पर, उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है; इसलिए जीव में कर्म बद्ध-स्पृष्ट है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है।

जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्ध-स्पृष्ट है – यह निश्चयनय का पक्ष है।''

अभी तक आचार्यदेव विभिन्न नयों से वस्तु को समझाते आये हैं। अब आगामी गाथाओं में वे हमें नयपक्षातीत वस्तु की ओर ले जाना चाहते हैं; यही कारण है कि उक्त गाथा के माध्यम से एकबार संक्षेप में व्यवहार और निश्चयनय की विषयवस्तु को स्पष्ट किया गया है।

१४१वीं गाथा में आत्मा के सन्दर्भ में व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। उसी के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र इस १४२वीं गाथा की उत्थानिका आत्मख्याति में **'इससे क्या?'** मात्र इतनी ही देते हैं।

तात्पर्य यह है कि कोई नय कुछ भी क्यों न कहे, मुझे उससे क्या प्रयोजन है? क्योंकि मैं तो नयपक्ष से पार हूँ, नयविकल्पों से विकल्पातीत हूँ और आत्मानुभूति भी नयपक्षातीत अवस्था का नाम है। अतः मुझे इन नयविकल्पों से क्या प्रयोजन है ?

इस आशय का प्रतिपादन करनेवाली आगामी गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अबद्ध है या बद्ध है जिय यह सभी नयपक्ष हैं।

नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है।।१४२।।

जीव में कर्म बद्ध या अबद्ध हैं – इसप्रकार तो नय पक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है, समयसार तो वह है, शुद्धात्मा तो वह है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जीव में कर्म बद्ध है अथवा जीव में कर्म अबद्ध है – इसप्रकार के दोनों विकल्प नयपक्ष ही हैं। जो व्यक्ति इन दोनों नयपक्षों का उल्लंघन कर देता है, अतिक्रम कर देता है, दोनों को छोड़ देता है; वह समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प होकर, एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति।

ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति।।१४२।।

यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावानां न नाटयति ?

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति।।६९।।

जो व्यक्ति 'जीव में कर्म बद्ध है' – ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' – ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो व्यक्ति 'जीव में कर्म अबद्ध है' – ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' – ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता तथा जो व्यक्ति यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध भी है और अबद्ध भी है' – वह दोनों पक्षों का अतिक्रम न करता हुआ विकल्प का अतिक्रम नहीं करता।

इसलिए जो व्यक्ति समस्त नयपक्षों का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है और जो समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, उसका साक्षात् अनुभव करता है।''

गाथा में तो मात्र दो नयपक्षों की ही चर्चा आई है; किन्तु टीका में तीसरे प्रमाणपक्ष को भी रखा गया है, जिसमें कहा गया है कि जो ऐसा विकल्प करता है कि आत्मा बद्ध भी है और अबद्ध भी है, वह भी विकल्प का अतिक्रमण नहीं करता। इसप्रकार इसमें नय और प्रमाण – दोनों के पक्ष का निषेध किया गया है। कहा गया है कि वस्तु नयातीत ही नहीं, प्रमाणातीत भी है; नयपक्ष के विकल्प से भी पार है और प्रमाण के विकल्प से भी पार है, सबप्रकार के विकल्पों से पार है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मख्याति टीका में न केवल समस्त नयों के पक्षपात से पार होने की ही बात है; पर प्रमाण संबंधी विकल्पों से विराम लेने की भी बात है।

टीका के अन्त में कहा गया है कि 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में

कौन नहीं नचायेगा।' – ऐसा कहकर आचार्य अमृतचन्द्र नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य लिखते हैं; जिनमें पहले काव्य का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

जो निवसे निज माहिं, छोड़ सभी नय पक्ष को।
करे सुधारस पान, निर्विकल्प चित शान्त हो।।६९।।

जो नयों के पक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं; क्योंकि उनका चित्त विकल्पजाल रहित हो गया है और एकदम शान्त हो गया है।

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७०।।
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७१।।
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७२।।

अब आचार्य अमृतचन्द्र लगभग एक से ही भाव वाले २० छन्दों के माध्यम से नयपक्ष-संन्यास की भावना को नचाते हैं, आत्मानुभव की भावना को भाते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

एक कहे ना बँधा दूसरा कहे बँधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७०।।

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बँधा है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बँधा नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्व का वेत्ता इन दोनों ही पक्षपातों से रहित होता है। उसके लिए चित्स्वरूप जीव सदा चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७१।।

एक नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७२।।

एक नय का पक्ष है कि जीव रागी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव रागी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

~~एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।~~
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७३।।

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७४।।

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७५।।

(रोला)

एक कहे ना दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७३।।

एक नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७४।।

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,

किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७५।।

एक नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७६।।
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७७।।
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७८।।

(रोला)

एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७६।।

एक नय का पक्ष है कि जीव जीव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव जीव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना सूक्ष्म दूसरा कहे सूक्ष्म है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७७।।

एक नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है,

किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७८।।

एक नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७९।।
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८०।।
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८१।।

(रोला)

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।७९।।

एक नय का पक्ष है कि जीव कार्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कार्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८०।।

एक नय का पक्ष है कि जीव भाव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भाव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना एक दूसरा कहे एक है,

किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८१।।

एक नय का पक्ष है कि जीव एक है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव एक नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८२।।
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८३।।
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८४।।

(रोला)

एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८२।।

एक नय का पक्ष है कि जीव सांत है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सांत नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८३।।

एक नय का पक्ष है कि जीव नित्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नित्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है,

किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८४।।

एक नय का पक्ष है कि जीव वाच्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वाच्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८५।।
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८६।।
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८७।।

(रोला)

नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८५।।

एक नय का पक्ष है कि जीव नानारूप है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नानारूप नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८६।।

एक नय का पक्ष है कि जीव चेत्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव चेत्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य है,

किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८७।।

एक नय का पक्ष है कि जीव दृश्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव दृश्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८८।।
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८९।।

(रोला)

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८८।।

एक नय का पक्ष है कि जीव वेद्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वेद्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।८९।।

एक नय का पक्ष है कि जीव भात है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भात नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

उक्त बीस छन्दों में यह कहा गया है कि आत्मा बद्ध है, अबद्ध है; मूढ़ है, अमूढ़ है; रागी है, अरागी है; द्वेषी है, अद्वेषी है; कर्ता है, अकर्ता है; भोक्ता है, अभोक्ता है; जीव है, अजीव है; सूक्ष्म है, स्थूल है; कारण है, अकारण है; कार्य है, अकार्य है; भाव है, अभाव है; एक है, अनेक है; सान्त है, अनन्त है; नित्य है, अनित्य है; वाच्य है, अवाच्य है; नाना है, अनाना है; चेत्य है, अचेत्य है; दृश्य है, अदृश्य है; वेद्य है, अवेद्य है और भात है, अभात है – ये सब नयों के कथन हैं।

यद्यपि ये समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, तथापि विकल्पात्मक होने से नयपक्ष ही हैं।

जो आत्मार्थी उक्त कथनों के माध्यम से यथायोग्य विवक्षापूर्वक वस्तुस्वरूप का निर्णय करके, तत्त्व का निर्णय करके, इन नयकथनों का भी पक्षपात छोड़कर, नयों का पक्षपात छोड़कर, नयकथनों के विकल्पों को तोड़कर, चित्स्वरूप निज आत्मा का अनुभव करता है; वह ही आत्मा को प्राप्त करता है; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करता है; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है; परमसुखी होता है; मुक्ति को प्राप्त करता है।

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्।।९०।।

यद्यपि आत्मा में अनेक साधारण धर्म हैं, सामान्य धर्म हैं, तथापि चित्स्वभाव आत्मा का असाधारण धर्म है, विशेष धर्म है, प्रगट अनुभवगोचर धर्म है। इसकारण उसे मुख्य करके यहाँ जीव को बार-बार चित्स्वरूप ही कहा गया है।

उक्त बीस छन्दों में प्रत्येक के अन्तिम तीन पद तो समान ही हैं, मात्र पहले पद में परिवर्तन है। ७०वें पद में अर्थात् प्रथम पद में समागत बद्ध-अबद्ध पदों के स्थान पर क्रमशः मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता आदि पद रखकर शेष छन्द बनाये गये हैं। अतः एक ७०वें छन्द का भाव ख्याल में आ जाने पर शेष छन्दों का भाव भी सहज ही भासित हो जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वविचार के काल में उक्त नयकथनों पर विचार होता है, चिंतन होता है, मंथन होता है, तत्त्वचर्चा भी होती है; किन्तु अनुभूति के काल में अन्य विकल्पों की बात तो दूर, नयसंबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति निर्विकल्प दशा का नाम है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय संबंधी विकल्प तो होते ही नहीं, निश्चयनय संबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति सर्वविकल्पों से पार ऐसी निर्विकल्प दशा है कि जिसमें किसी भी प्रकार के किसी विकल्प को, विचार को कोई स्थान ही नहीं है।

अब उपर्युक्त २० कलशों के भाव का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव ९०वाँ कलश लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है।।
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को।।९०।।

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है – ऐसी महती नयपक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाववाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसी भाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ।।९१।।

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत् –

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ।।१४३।।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञानरूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

अब नय पक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ।।९१।।

विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ।

इस कलश में यह कहा गया है कि मैं तो वह चैतन्य का पुंज चिन्मात्रज्योति भगवान आत्मा हूँ कि जिसके ज्ञानपर्याय में स्फुरायमान होने पर समस्त विकल्पों का शमन हो जाता है; नयों का इन्द्रजाल विलीयमान हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही विकल्पों का जाल समाप्त होता है। अतः एकमात्र वह आत्मा ही श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों की पर्यायों द्वारा आश्रय करने योग्य है। एकमात्र श्रद्धेय, ध्येय और परमज्ञेय निज भगवान आत्मा ही है।

विगत गाथाओं और कलशों में यह बात जोर देकर कहते आ रहे हैं कि समयसार स्वरूप

शुद्धात्मा पक्षातिक्रान्त है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि पक्षातिक्रान्त का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **यदि कोई ऐसा पूछे कि पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है** तो उसके उत्तर में यह गाथा कही जा रही है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नयपक्ष को।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ।।१४३।।

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो: विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल य: श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो: क्षयोपशमविजृम्भित–श्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघन–भूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रह–दूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्य: परतर: परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्र: समयसार: ।।१४३।।

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।।९२।।

नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ, चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों ही नयों के कथनों को मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार–निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं, परन्तु सतत् उल्लसित सहज–विमल–सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयमेव विज्ञानघनस्वभावी होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण समस्त नयपक्ष के परिग्रहण से दूर हुए होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।

उसीप्रकार जो श्रुतज्ञानी आत्मा तत्संबंधी क्षयोपशम से उत्पन्न श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्सुकता से निवृत्त हुआ होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार–निश्चयपक्षों के स्वरूप को केवल जानता ही है; परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निस्तुष, नित्य–उदित, चिन्मय समय (आत्मा) से प्रतिबद्धता के द्वारा अर्थात् चैतन्य आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के समय स्वयमेव विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता हुआ; वह श्रुतज्ञानी आत्मा

भी वस्तुतः समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।''

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है कि –

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय।।
कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं।।९२।।

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते –

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः।।१४४।।

चित्स्वरूप के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं – ऐसा जिसका परमार्थस्वरूप है, इसकारण जो एक है – ऐसे अपार समयसार को मैं समस्त बंधपद्धति को दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले समस्त भावों को छोड़कर अनुभव करता हूँ।

यहाँ **'चित्स्वभावभर'** पद का प्रयोग है, जो यह बताता है कि यह भगवान आत्मा चित्स्वभाव से भरा हुआ है तथा **'भावितभावाभावभाव'** पद में भाव-अभाव-भाव में भाव माने उत्पाद, अभाव माने व्यय और भाव माने ध्रौव्य होता है।

तात्पर्य यह है कि पहले भाव का अर्थ उत्पाद और दूसरे भाव का अर्थ ध्रौव्य लेना है। भावित का अर्थ है कि ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चित्स्वभाव के द्वारा ही भावित हैं, होते हैं। द्रव्य होने से भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना है और इसीकारण भगवान आत्मा एक है। ऐसा यह अपार समयसारस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ।

ऐसा अनुभव करने से ही सम्पूर्ण बंधपद्धति से निवृत्ति होती है। इसकारण मैं समस्त बंधपद्धति का अभाव करता हुआ ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह चैतन्यस्वरूप परमार्थ आत्मा मैं ही हूँ।

आगामी गाथा कर्ताकर्माधिकार की अन्तिम गाथा है। इसमें पक्षातिक्रान्त संबंधी सम्पूर्ण प्रकरण का समापन है, निष्कर्ष दिया गया है। यही कारण है कि आत्मख्याति में इस गाथा की उत्थानिका इसप्रकार दी गई है –

''यह सुनिश्चित होता है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है।''

पक्षातिक्रान्त को समयसार कहनेवाली गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

विरहित सभी नयपक्ष से जो वह समय का सार है।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है।।१४४।।

जो सर्वनयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। तात्पर्य यह है कि नामों से भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।

देखो, यहाँ आत्मा को ही, समयसार को ही; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है, दोनों को एक ही वस्तु बताया जा रहा है। इसकी क्या अपेक्षा है – यह सब टीका में स्पष्ट किया जायेगा।

~~अथमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया~~ विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः।

यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंतीः श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च, ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव।।१४४।।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का जो भाव स्पष्ट किया गया है, वह इसप्रकार है–

''वास्तव में तो समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है – ऐसा समयसाररूप भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम को प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसाररूप आत्मा से अलग नहीं हैं, अभिन्न ही हैं।

पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वरूप सुनिश्चित करके, भलीभाँति समझकर; फिर आत्मा की ख्याति के लिए, प्रगट प्रसिद्धि के लिए, आत्मानुभूति के लिए; परपदार्थों की प्रसिद्धि की हेतुभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जिसने मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसम्मुख किया है, मतिज्ञान को आत्मोन्मुख किया है; वह, तथा नानाप्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जो श्रुतज्ञान को भी आत्मसम्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्परहित होकर; शीघ्र ही, तत्काल ही निजरस से ही प्रगट होता हुआ; आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो – ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मरूप समयसार का जब यह आत्मा अनुभव करता है, तब उसीसमय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है। इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।''

यहाँ टीका में यह तो कहा ही गया है कि स्वानुभूतिसम्पन्न, पक्षातिक्रान्त, समयसारस्वरूप, भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; साथ ही पक्षातिक्रान्त होने की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान

प्राप्त करने की, आत्मानुभूति प्राप्त करने की विधि भी बताई गई है।

इस विधि में यह बताया गया है कि सर्वप्रथम क्या करना चाहिए। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए करणलब्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है और करणलब्धि देशनालब्धि के बिना नहीं होती। अत: सर्वप्रथम देशनालब्धि की बात है और देशनालब्धि के लिए सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के माध्यम से, देव-गुरु के सदुपदेश से, जिनवाणी के स्वाध्याय से, ज्ञानी धर्मात्मा के संबोधन से, तत्संबंधी अध्ययन से, मनन से, चिन्तन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए, ज्ञानस्वभावी आत्मा का विकल्पात्मक ज्ञान में सम्यक् निर्णय करना चाहिए, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भलीभाँति

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो य: समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान: स्वयम्।
विज्ञानैकरस: स एष भगवान्पुण्य: पुराण: पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम्।।९३।।

समझना चाहिए; क्योंकि जबतक आत्मा का स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में भलीभाँति स्पष्ट नहीं होगा, तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया सम्पन्न होना संभव नहीं है।

जब श्रुतज्ञान के माध्यम से ज्ञानस्वभावी आत्मा जान लिया जाये तो फिर उसके बाद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप ज्ञान पर्यायों को बाह्य विषयों में से समेट कर आत्मसम्मुख करना है।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से परपदार्थों को जानने में उलझा है और श्रुतज्ञान नानाप्रकार के नयविकल्पों में उलझ कर रह गया है, आकुलित हो रहा है। इन दोनों ही ज्ञानों को मर्यादा में लाकर आत्मसन्मुख करना है। आत्मानुभूति प्राप्त करने का यही उपाय है।

जब यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निर्विकल्प होकर आत्मसम्मुख होते हैं, तब तत्काल ही समयसारस्वरूप भगवान आत्मा का दर्शन होता है, ज्ञान होता है; भगवान आत्मा प्रतीति में आता है, अनुभूति में आता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरता है।

आत्मा की इसी परिणति का नाम आत्मानुभूति है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है। इसकारण आत्मा और आत्मानुभूति एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी आत्मा ही है।

इसप्रकार कर्ताकर्माधिकार की इस अन्तिम गाथा और उसकी टीका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताकर यह कहा गया है कि समयसाररूप भगवान आत्मा अथवा उसके अनुभव का नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अब यहाँ १४४वीं गाथा की समाप्ति के साथ ही कर्ताकर्माधिकार भी समाप्त हो रहा है।

इस अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में ७ कलश लिखते हैं, जिनमें आरंभ के दो कलश तो पक्षातिक्रान्त समयसार का स्वरूप बतानेवाले प्रकरण से संबंधित हैं, शेष ५ कलश सम्पूर्ण कर्ताकर्माधिकार के समापन कलश हैं। प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है।

यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है।।
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है।
जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है।।९३।।

नयों के पक्षों से रहित, अचल, निर्विकल्पभाव को प्राप्त होता हुआ जो समय का सार प्रकाशित करता है, वह यह समयसार (शुद्धात्मा) है, जो कि निभृत (आत्मलीन-निश्चल) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, उनके अनुभव में आता है और विज्ञान ही जिसका एक रस है – ऐसा भगवान आत्मा पवित्र है, पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान कहो या दर्शन, चाहे जो कुछ भी कहो, वह ही सारभूत है। अधिक क्या कहें – जो कुछ है, वह एक ही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्।।९४।।

इसप्रकार यह कलश दृष्टि के विषयभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के एकमात्र मूलाधार भगवान आत्मा की महिमा बतानेवाला कलशकाव्य है।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि यह आत्मानुभव कैसे होता है ? मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से।।
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले।।९४।।

जिसप्रकार पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये तो वह पानी पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ, प्रवाहरूप होकर अपने समूह में आ मिलता है।

उसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर-दूर तक परिभ्रमण कर रहा था, उसे दूर से विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया। इसलिए विज्ञानघन आत्मा का रसिक आत्मा आत्मा को आत्मा की ओर खींचता हुआ, ज्ञान को ज्ञानी की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है; अत: अपने समूह से विलग होकर गहन वन में नीचे की ओर बहनेवाले पानी का दुबारा उसी जलसमूह में आ मिलना आसान नहीं है; तथापि यदि उसे बलपूर्वक ढालवाले मार्ग से उसी ओर मोड़ दिया जाये, जहाँ से वह जलसमूह से विलग हुआ था,

तो वह उसी जलसमूह में आ मिलता है। यद्यपि यह काम आसान नहीं है; तथापि सम्भव है, असम्भव नहीं।

इसीप्रकार अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पजाल के गहन वन में भ्रमित आत्मा का आत्मसम्मुख होना आसान नहीं है; तथापि यदि उसको भी विवेकरूपी ढालवाले मार्ग से निज विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये तो वह भी आत्मानुभव करने में समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव की विधि यह है कि हम अपने उपयोग को पुरुषार्थपूर्वक स्व-स्वभाव की ओर मोड़ें, आत्मसन्मुख करें।

(अनुष्टुभ्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति।।९५।।

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।९६।।

यह पुरुषार्थ की प्रेरणा देनेवाला कलश काव्य है। यह पुरुषार्थ भी अन्य कुछ भी नहीं; मात्र परसन्मुख अपने उपयोग को बलपूर्वक आत्मसन्मुख करना ही है।

इसप्रकार इस कलश में इन्द्रियों के माध्यम से विषय-विकार में फँसे और नयों के विकल्पजाल में उलझे आत्मा को निजस्वभाव से भ्रष्ट बताकर, अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा निज शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार ९३ एवं ९४ इन दो कलशों में नयपक्षातीत भगवान आत्मा के प्रकरण का समापन करके अब आगामी ५ कलशों में सम्पूर्ण कर्ताकर्माधिकार का समापन करते हैं; जिसमें प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे।।
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे।।९५।।

विकल्प करनेवाला कर्ता है और वह विकल्प ही उसका कर्म है। इसप्रकार सविकल्पपुरुषों की कर्ताकर्मप्रवृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जबतक विकल्पभाव हैं, तबतक कर्ताकर्मभाव है और जब विकल्पों का अभाव हो जाता है, तब कर्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।

ध्यान रहे, यहाँ विकल्प का अर्थ मात्र विकल्प का उठना ही नहीं है, अपितु विकल्प में ममत्वबुद्धि एवं कर्तृत्वबुद्धि का नाम विकल्प है, मिथ्यात्व संबंधी विकल्प का नाम विकल्प है। चारित्रमोह संबंधी विकल्प यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर में और विकल्पों में एकत्व-ममत्व करनेवाले एवं विकल्पों का कर्ता स्वयं को माननेवाले को ही सविकल्पक कहा गया है।

अब आगामी कलश में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं हो सकता। मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

~~जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे।~~
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे।।
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई।।९६।।

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च।।९७।।

जो करता है, वह मात्र करता ही है और जो जानता है, वह मात्र जानता ही है। जो करता है, वह कभी जानता नहीं और जो जानता है, वह कभी करता नहीं। तात्पर्य यह है कि जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

इसी बात का स्पष्टीकरण आगामी कलश में भी करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

करने रूप क्रिया में जानन भासित ना हो।
जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो।।
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं।।९७।।

करने रूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती और जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति स्वयं में ही उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्ता बनता है, उन्हें अपना जानता-मानता है, उसके कर्तृत्वबुद्धिरूप और स्वामित्वबुद्धि (ममत्व-बुद्धि) रूप मिथ्यात्व होता है, अनन्तानुबंधी संबंधी राग-द्वेष होते हैं और वह उनका कर्ता होता है तथा वे उसके कर्म होते हैं। इसप्रकार अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) रागादिभावों का कर्ता होता है और वे रागादिभाव उसके कर्म होते हैं। पर का कर्ता-भोक्ता तो ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के जो रागादिभाव (अप्रत्याख्यानादि संबंधी) पाये जाते हैं, वह उनका कर्ता नहीं बनता, उन्हें अपना नहीं मानता; इसकारण उसे उनमें कर्तृत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धिरूप अज्ञान नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, अनन्तानुबंधी राग नहीं है; इसकारण वह उनका कर्ता भी नहीं है और इसीकारण उसे तत्संबंधी बंध भी नहीं होता। उसके जो अप्रत्याख्यानादि संबंधी रागादि विद्यमान हैं और तत्संबंधी जो बंध होता है, वे रागादिभाव व वह बंध अनंतसंसार का कारण न होने से यहाँ

उन्हें बंध ही नहीं माना गया है। जहाँ चारित्रमोह संबंधी बंध की चर्चा होती है, वहाँ उन्हें भी बंध का कारण कहा जाता है और कर्तानय से आत्मा को उनका कर्ता भी कहा जाता है। वह ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पर ही समानरूप से घटित होता है।

अब आगामी कलश में आचार्यदेव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब वस्तुस्थिति इतनी स्पष्ट है; फिर भी न जाने यह मोह क्यों नाचता है ?

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथात्येष किम् ।।९८।।

अथवा नानट्यतां तथापि –

(मन्द्राक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ।।९९।।

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर कर्म कर्ता में नहीं।
इसलिए कर्ताकरम की थिति भी कभी बनती नहीं।।
कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा।
यदि साफ है यह बात तो फिर मोह है क्यों नाचता?।।९८।।

निश्चयनय से न तो कर्ता कर्म में है और न कर्म कर्ता में ही है। यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये तो फिर कर्ताकर्म की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् जीव और पुद्गल के कर्ताकर्मपना कदापि नहीं हो सकेगा। इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। यद्यपि वस्तु की ऐसी स्थिति एकदम प्रगट है; तथापि अरे ! यह मोह नेपथ्य में अत्यन्त वेगपूर्वक क्यों नाच रहा है ? – यह आश्चर्य और खेद की बात है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्ताकर्माधिकार के मंथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि यद्यपि राग-द्वेष-मोहरूप भावकर्मों का कर्ता अज्ञानी आत्मा होता है; तथापि ज्ञानावरणादि जड़कर्मों और शरीरादि नोकर्मों का कर्ता तो ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी जीव नहीं है। आगम में जहाँ भी आत्मा को जड़कर्मों और नोकर्मों का कर्ता कहा गया हो, वह सब असद्भूत-

व्यवहारनय का उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

'वस्तु की स्थिति उक्त कथनानुसार अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी अज्ञानियों के परकर्तृत्वसंबंधी मोह न जाने क्यों नाचता है ?' – इसप्रकार का आश्चर्य इस ९८ वें कलश में व्यक्त किया गया है।

इसके उपरान्त आचार्य कहते हैं कि **मोह नाचता है तो नाचे; हमें उससे क्या है ?**

इसप्रकार आगामी कलश में आचार्यदेव ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए कर्ताकर्माधिकार का समापन करते हैं।

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसार–व्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोऽङ्कः।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से।।
अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर–वीर निर्मल आर–पार से।।
तब कर्म कर्म अर कर्ता कर्ता न रहा।
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से।।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से।।९९।।

अचल, व्यक्त और चितशक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गंभीर यह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रता से इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि जो आत्मा अज्ञान–अवस्था में कर्ता होता था, वह अब कर्ता नहीं होता और अज्ञान के निमित्त से जो कार्माणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप होता था, अब वह कर्मरूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलद्रव्य ही रहता है।

इसप्रकार यहाँ द्रव्य–गुण–पर्यायमय ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है और यह कहा गया है कि जब यह ज्ञानज्योति उच्चता से, उग्रता से जाज्वल्यमान होती है, तब ज्ञान ज्ञानरूप हो जाता है, वह कर्ता नहीं बनता और पुद्गल पुद्गलरूप रह जाता है, वह कर्म नहीं बनता। इसप्रकार कर्ता–कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है।

जिसप्रकार प्रकाश के होने से सभी पदार्थ पृथक्–पृथक् भासित होने लगते हैं; उसीप्रकार ज्ञानज्योति के प्रकाशित होने से ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञातारूप भासित होने लगा और जड़ पुद्गल पुद्गलरूप भासित होने लगा; सहज ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव प्रस्फुटित हो गया। – यही कहा गया है इस ९९वें कलश में।

इसप्रकार यहाँ कर्ताकर्माधिकार समाप्त होता है। इसका समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो अन्तिम वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार है – **''इसप्रकार जीव और अजीव कर्ता–कर्म का वेष त्यागकर बाहर निकल गये।''**

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक

पुण्यपापाधिकार

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति –

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ।।१००।।

मंगलाचरण

(दोहा)

पुण्य–पाप दोऊ करम, शिवमग रोकनहार।
पुण्य–पाप से पार है, आतम धरम अपार।।

जीवाजीवाधिकार में वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों से भगवान आत्मा का एकत्व और ममत्व तथा कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं भावों से कर्तृत्व और भोक्तृत्व छुड़ाया है।

इसप्रकार अबतक भगवान आत्मा को परपदार्थ और उनके आश्रय से अपने ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह–राग–द्वेषादि भावों से एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व छुड़ाकर आत्मसम्मुख करने का प्रयास किया गया है।

अब इस पुण्यपापाधिकार में यह बताते हैं कि मुक्ति के मार्ग में पाप के समान ही पुण्य भी हेय है।

इस अधिकार को आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो वाक्य लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है –

''अब एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो पात्रों के रूप में रंगमंच पर प्रवेश करता है।''

ध्यान रहे, यहाँ पात्र (अभिनेता) एक है और उसने रूप दो धारण कर रखे हैं। जिसप्रकार एकपात्रीय नाटकों में एक ही पात्र अनेक रूपों में बात करता है; उसीप्रकार यहाँ एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो रूपों में प्रस्तुत हो रहा है।

जीवाजीवाधिकार में पात्र दो थे और उन्होंने मिलकर एक रूप धारण किया था; पर यहाँ उससे विपरीत पात्र (अभिनेता) एक कर्म है और उसने पुण्य और पाप – ये दो रूप धारण कर रखे हैं, वह यहाँ डबलरोल में है।

मंगलाचरण के छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो।।
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही।।१००।।

अब शुभ और अशुभ के भेद से दोपने को प्राप्त उस कर्म को एकरूप करते हुए जिसने मोहरज को अत्यन्त ही दूर कर दिया है; ऐसा यह ज्ञानरूपी सुधाकर स्वयं ही उदय को प्राप्त होता है।

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण।।१०१।।

यह पुण्यपापाधिकार के मंगलाचरण का कलश है। इसमें उस सम्यग्ज्ञानज्योति को, ज्ञानसुधाकर को स्मरण किया गया है; जिसने पुण्य-पाप संबंधी अज्ञान का नाश किया है। अज्ञान के कारण पुण्य को भला और पाप को बुरा जाना जाता था; पर इस ज्ञानज्योति के उदय से, इस ज्ञानसुधाकर के उदय से वह अज्ञान नष्ट हो गया और यह सद्ज्ञान प्रगट हो गया कि मुक्तिमार्ग में पाप के समान ही पुण्य भी हेय ही है।

अब आगामी कलश में इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में।।
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से।।
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया।।
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई।।१०१।।

एक तो ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है, उसे छूता तक नहीं और दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' - ऐसा मानकर नित्य मदिरा से स्नान करता है, उसी में डूबा रहता है, उसे पवित्र मानता है। यद्यपि वे दोनों ही शूद्रा के पेट से एकसाथ ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों ही साक्षात् शूद्र हैं; तथापि वे जातिभेद के भ्रम से ऐसा आचरण करते हैं।

उक्त छन्द में शूद्र के जुड़वा बेटों के उदाहरण के माध्यम से पुण्य और पाप की एकता को समझाया गया है।

एक शूद्र महिला के पेट से दो बालक एकसाथ (जुड़वा) पैदा हुए। उसने अपने एक बालक को ब्राह्मणी को दे दिया। ब्राह्मणी ने उसे अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा। ब्राह्मणी के यहाँ पलनेवाले बालक को यह पता ही न था कि वह शूद्र का बेटा है। वह तो स्वयं को ब्राह्मणपुत्र मानकर ब्राह्मण जैसा पवित्र आचरण पालता था, शराब को हाथ भी नहीं लगाता था।

दूसरा बालक शूद्रा के यहाँ ही बड़ा हुआ। चूँकि शूद्रों के यहाँ शराब सहजभाव से पी जाती है। इसकारण वह प्रतिदिन शराब पीता था।

आचार्यदेव कहते हैं कि यद्यपि वे दोनों सगे जुड़वा भाई हैं; तथापि जातिभेद के भ्रम से उनके आचरण में यह भेद दिखाई देता है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम्।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति।।१४५।।

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्, शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रय-भेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं, किंचिदशुभमिति केषांचित्किलपक्षः। स तु सप्रतिपक्षः।

इसीप्रकार ये पुण्य-पाप भाव भी एक ही जाति के हैं, सगे जुड़वा भाई ही हैं, कर्म के ही भेद हैं, रागभाव के ही भेद हैं; तथापि अज्ञानी भ्रम से पुण्य को भला और पाप को बुरा समझते हैं। उनके इस भ्रम के निवारण के लिए ही यह पुण्य-पाप अधिकार लिखा जा रहा है।

अब इसी बात को गाथा के माध्यम से समझाते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं?।।१४५।।

अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं – ऐसा तुम जानते हो, किन्तु जो जीवों को संसार में प्रवेश करायें, वे सुशील कैसे हो सकते हैं?

गाथा में यह कहा जा रहा है कि लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म सुशील हैं, अच्छे हैं, करने योग्य हैं और अशुभकर्म कुशील हैं, बुरे हैं, त्यागने योग्य हैं; किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि जब शुभ और अशुभ – दोनों ही कर्म, कर्म होने से संसार के हेतु हैं, संसार-सागर में डुबोनेवाले हैं तो फिर उनमें से एक शुभकर्म को सुशील कैसे माना जा सकता है? जो संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है?

इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पहले व्यवहारनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए पुण्य और पाप में चार प्रकार से अन्तर बताते हैं और अन्त में निश्चयनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका सयुक्ति निराकरण करते हैं, जो इसप्रकार है –

''किसी कर्म (पुण्य) में जीव के शुभ परिणाम निमित्त होते हैं और किसी कर्म (पाप) में जीव के अशुभ परिणाम निमित्त होते हैं; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के कारणों में भेद है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ पुद्गल परिणाममय होता है और कोई कर्म (पाप) अशुभ पुद्गल परिणाममय होता है; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के स्वभाव में भेद होता है।

किसी कर्म (पुण्य) का शुभफलरूप विपाक होता है और किसी कर्म (पाप) का अशुभफलरूप विपाक होता है; इसकारण कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद होता है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म (पाप) अशुभ बंधमार्ग के आश्रित है; इसकारण कर्म के आश्रय में भी भेद है।

तथाहि – शुभाऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति कारणा–भेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सत्यनु–भवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदने–कत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।।१४५।।

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः।।१०२।।

इसप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म (पुण्य) शुभ है और कोई कर्म (पाप) अशुभ है; किन्तु उन लोगों का यह पक्ष प्रतिपक्ष सहित है, जिसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

जीवों के शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक ही हैं और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है; इसकारण वे अनेक (भिन्न–भिन्न) हैं और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसकारण कर्म एक ही है।''

इसप्रकार यहाँ पुण्य और पाप में अन्तर है – व्यवहारनय के इस पक्ष को प्रस्तुत कर निश्चयनय द्वारा उसका सयुक्ति खण्डन किया गया है।

जो बात टीका में कही गई है, अब उसी बात को कलश के माध्यम से कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है।।
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है।
भले–बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है।।१०२।।

हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – इन चारों का सदा ही अभेद होने से कर्म (पुण्य–पाप) में निश्चय से भेद नहीं है। इसलिए निश्चय से समस्त कर्म (पुण्य–पाप) बंधमार्ग के आश्रित हैं और बंध के कारण हैं; इसकारण कर्म एक ही माना गया है, मानना योग्य है।

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति –

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण।।१४७।।
जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च।।१४८।।
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा।।१४९।।

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म।।१४६।।
तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण।।१४७।।
यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च।।१४८।।
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः।।१४९।।

अब आगामी गाथाओं में दोनों कर्म पुण्य और पाप समानरूप से बंध के कारण हैं – यह सिद्ध करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती।।१४६।।
दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो।
दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो।।१४७।।
जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते।।१४८।।
बस उसतरह ही कर्म कुत्सित शील हैं – यह जानकर।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते।।१४९।।

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी के समान ही सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है; उसीप्रकार अशुभकर्म के समान ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता है।

इसलिए इन दोनों कुशीलों के साथ राग और संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत्।

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति। कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते – यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति।।१४६-१४९।।

जिसप्रकार कोई पुरुष कुशील पुरुष को जानकर उसके साथ राग करना और संसर्ग करना छोड़ देता है; उसीप्रकार स्वभाव में रत पुरुष कर्मप्रकृति के कुत्सितशील (कुशील) को जानकर संसर्ग करना छोड़ देते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार सोने और लोहे की बेड़ी बिना किसी अन्तर के पुरुष को बाँधती है; क्योंकि बंधन की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी अन्तर के जीव को बाँधते हैं; क्योंकि बंधभाव की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है।

अब दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं। जिसप्रकार मनोरम हो या अमनोरम, पर कुशील हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग और संसर्ग करना हाथी के लिए बंधन का कारण होता है; उसीप्रकार शुभ हों या अशुभ, पर कुशील कर्मों के साथ राग और संसर्ग करना जीव के लिए बंधन का कारण होता है।

इसकारण यहाँ शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग करने का निषेध किया गया है।

अब दृष्टान्त द्वारा यह समझाते हैं कि दोनों कर्म निषेध करने योग्य हैं।

जिसप्रकार कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बंधन के लिए निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बंध के लिए समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।''

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा गड्ढा खोदा जाता है। उसे ढककर ऊपर मिट्टी डालकर दूब-घास और झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं, जिससे ठोस जमीन ही प्रतीत हो। जंगली हाथियों को फँसाने के लिए एक चतुर हथिनी को प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) करते हैं।

वह हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती है, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हुई वह हथिनी उन्हें उस गड्ढे के समीप लाती है। तेजी से भागती हुई वह कुट्टनी हथिनी तो जानकार होने से उस गड्ढे से बचकर निकल जाती है, पर तेजी से पीछा करनेवाला कामुक हाथी भागता हुआ उस गड्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है।

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्य चागमेन साधयति –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व।।१५०।।

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्त –त्वाच्छुभमशुभमुभयंकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च।।१५०।।

वह कुट्टनी हथिनी चाहे सुन्दर हो, चाहे कुरूप हो; पर उसके मोह में पड़नेवाला हाथी बंधन को प्राप्त होता ही है।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह समझाया जा रहा है कि कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप; उनसे राग करनेवाले, उन्हें करने योग्य माननेवाले, उन्हें उपादेय माननेवाले संसाररूपी गड्ढे में गिरते हैं, फँसते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं।

अतः कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप – दोनों से ही राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए, उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

मोही हाथी के कुरूप हथिनी की अपेक्षा सुरूप (सुन्दर) हथिनी पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण उक्त कुट्टनी हथिनी का कुरूप होने की अपेक्षा सुरूप होना अधिक खतरनाक है। उसीप्रकार मोही जीव के पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण पुण्य के संदर्भ में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

इस १५०वीं गाथा की उत्थानिका आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार लिखते हैं – **''अब यह बात आगम से सिद्ध करते हैं कि दोनों ही प्रकार के कर्म बंध के कारण हैं; इसकारण निषेध्य हैं।''**

(हरिगीत)

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधें कर्म को।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो।।१५०।।

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है; यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) से राग मत करो।

इस महत्त्वपूर्ण गाथा की टीका आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार लिखते हैं –

''रागी जीव कर्म बाँधता है, वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है – यह आगमवचन सामान्यपने रागीपन की निमित्तता से शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बंध का कारणरूप सिद्ध करता है और इसी कारण दोनों कर्मों का निषेध करता है।''

ध्यान रहे, कि यहाँ रागी शब्द का अर्थ सामान्य राग नहीं लेना, अपितु शुभाशुभराग में एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप राग लेना चाहिए, रागभावों का स्वयं को कर्ता-भोक्ता माननेरूप राग लेना चाहिए तथा शुभभावों में धर्म माननेरूप राग लेना चाहिए।

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ।।१०३।।

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ।।१०४।।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व संबंधी राग लेना चाहिए। शुभराग को धर्म मानना ही मिथ्यात्व है और उसी को यहाँ राग कहा गया है। ऐसे राग से संयुक्त जीव रागी है तथा वही कर्मों को बाँधता है और कर्मों से बँधता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अशुभभावों के समान शुभभाव भी बंध के कारण होने से मोक्ष के हेतु नहीं हैं; मोक्ष का हेतु तो एकमात्र वीतरागभाव ही है, ज्ञानभाव ही है।

अब आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव के पोषक दो कलश लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह, बंध करें सब कर्म।
मुक्तिहेतु बस एक ही, आत्मज्ञानमय धर्म ।।१०३।।

सर्वज्ञदेव समस्त शुभाशुभ कर्मों को समानरूप से ही बंध का कारण कहते हैं; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने समस्त शुभाशुभकर्मों का ही निषेध किया है और ज्ञान को मुक्ति का हेतु कहा है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मुक्ति के मार्ग में सभी कर्म त्याग करने योग्य हैं तो फिर मुक्तिमार्ग के पथिक मुनिराज क्या करेंगे; क्योंकि उन्हें तो करने को कुछ रहा ही नहीं ?

इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी कलश दिया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में।।
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते।।१०४।।

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) – सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीनेवाले मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति –

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम्।।१५१।।

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्।

शुभभाव को ही धर्म माननेवालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जायेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा।

आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेकबार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया।

यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता। यह मनुष्य भव और ये अनुकूल संयोग ही यह बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेकप्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दुःखों का अन्त नहीं आया है। अतः अब एकबार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्तव्य भी वही है।

वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अतः अपना आत्मा ही परमशरण है। जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

अब अगली गाथा में यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली।
इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी।।१५१।।

जो निश्चय से परमार्थ (परम पदार्थ) है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है; उस स्वभाव में स्थित मुनिजन निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ज्ञान मोक्ष का कारण है; क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बंध का कारण नहीं है; इसकारण उसके मोक्ष का कारणपना बनता है। वह ज्ञान कर्म आदि अन्य समस्त जातियों से भिन्न चैतन्यजातिमात्र परमार्थ है, परमपदार्थ है, आत्मा है।

स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्रभावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवन-मात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ।।१५१।।

अथ ज्ञानं विधापयति –

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू।।१५२।।
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।।१५३।।

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः।।१५२।।
व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वंतः।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति।।१५३।।

वह ज्ञान अर्थात् आत्मा एक ही साथ एकरूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से समय है, समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है, केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है, स्व का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्र स्वरूप होने से सद्भाव है। इसप्रकार शब्द भेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है।''

अब आगामी गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि आगम में भी ज्ञान को मुक्ति का कारण बताया है तथा ज्ञान मोक्ष का कारण है और अज्ञान बंध का कारण है – यह नियम है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें।
सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें।।१५२।।
व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें।।१५३।।

परमार्थ में अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सभी तप और व्रतों को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

जो परमार्थ से बाह्य हैं; वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी, शील और तप को करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपः कर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात्।

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति – ज्ञानमेव मोक्षहेतुः तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रततनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बंधहेतुः तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रततनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।।१५२–१५३।।

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्।।१०५।।

''जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित हैं, उनके द्वारा अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि सभी कार्य कर्मबंध के कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं; इसलिए आगम में भी उनके इन कार्यों को बालसंज्ञा देकर उनका निषेध किया गया है और ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

अब यह सुनिश्चित करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का और अज्ञान बंध का कारण है। ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियों के व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। इसीप्रकार अज्ञान ही बंध का कारण है; क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मों का अभाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।''

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अथवा परमार्थ में अस्थित हैं; त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को नहीं जानते हैं; उनके व्रत, नियम, तप, शील – सभी व्यर्थ हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान बिना मात्र इनसे ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से संयुक्त ज्ञानीजन व्रत, तप, शीलादि के बिना भी मुक्त होते देखे जाते हैं और आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से शून्य अज्ञानीजन व्रत–नियमादि का पालन करते हुए भी मुक्त नहीं होते; इसकारण यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप आत्मज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र हेतु है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।

अब आगामी कलश में भी इसी बात को पुष्ट करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है।।
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है।।१०५।।

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति –

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता।।१५४।।

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः।।१५४।।

जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ – परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है।

इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी है, वह बंध का हेतु है; क्योंकि वह स्वयमेव बंधस्वरूप है। इसलिए आगम में ज्ञानस्वरूप होने का, ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का अर्थात् आत्मा की अनुभूति करने का ही विधान है।

इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानानन्दस्वभावी, त्रिकालीध्रुव, अचल, निज भगवान आत्मा का अनुभव ही मुक्तिरूप है, मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी शुभाशुभ भाव और शुभाशुभ आचरण हैं; वे सभी बंधरूप हैं, बंध के कारण हैं। यही कारण है कि जिनागम में आत्मा के अनुभव की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार इस कलश में दो टूक शब्दों में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि मुक्ति का मार्ग एकमात्र आत्मा का अनुभव है, आत्मानुभूति है; शेष सब शुभाशुभभाव पुण्य-पाप बंध के कारण हैं।

वस्तुस्थिति इतनी स्पष्ट होने पर भी अज्ञानीजन पुण्य की कामना करते हैं – इस बात को आगामी गाथा में कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आगामी गाथा में **पुण्य के पक्षपातियों को समझाया जा रहा है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते।।१५४।।

जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, वे मोक्ष के वास्तविक हेतु को न जानते हुए अज्ञान से संसारगमन का हेतु होने पर भी मोक्ष का हेतु समझकर पुण्य को चाहते हैं।

इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं; वे जीव मुक्ति प्राप्त करने का वास्तविक उपाय तो जानते नहीं हैं और जो पुण्य संसार परिभ्रमण का कारण है, उसे ही मुक्ति का मार्ग समझकर चलने लगते हैं, उसे ही अपनाकर यह समझते हैं कि हम मुक्ति के मार्ग में चल रहे हैं – ऐसे जीवों को कभी भी मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभाव-मलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृति शुभकर्म बंधहेतुमप्य-जानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ।।१५४।।

''समस्त कर्मों के पक्ष के क्षय से प्राप्त होनेवाले आत्मलाभरूप मोक्ष की अभिलाषा करके तथा मोक्ष की कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाली तथा परमार्थभूत ज्ञानभवनमात्र एकाग्रता लक्षणवाली समयसारभूत सामायिक की प्रतिज्ञा करके भी जो जीव दुरन्तकषायचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को प्राप्त न होते हुए, अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्मों से निवृत्त होने पर भी अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्मों में प्रवर्त रहे हैं; वे कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्ति मात्र से ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी स्वयं स्थूललक्ष्यवाले होकर संक्लेश परिणामों को छोड़ते हुए भी समस्त कर्मकाण्ड को जड़मूल से नहीं उखाड़ते।

इसप्रकार वे स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभकर्म को बंध का कारण मानकर; व्रत, नियम, शील, तपादि शुभकर्मों को; बंध का कारण होने पर भी, उन्हें बंध कारण न मानकर मोक्ष के कारणरूप से अंगीकार करते हैं अर्थात् मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मक्षय का मूलहेतु तो निज भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप सामायिक या शुद्धोपयोग ही है, शुभाशुभभाव नहीं हैं; क्योंकि शुभाशुभभाव तो कर्मबंध के कारण हैं। अज्ञानी जीव इस बात को गहराई से समझते नहीं और पुण्यभाव को ही कर्मक्षय का हेतु जानकर उसी में मग्न रहते हैं।

आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार को समाप्त मानते हैं। इस गाथा की टीका के अन्त में वे लिखते हैं - **''इसप्रकार इन दस गाथाओं के द्वारा यह पुण्याधिकार समाप्त हुआ।''**

ध्यान रहे, आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार की समाप्ति की सूचना दे रहे हैं, पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति की नहीं; क्योंकि पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति तो वे भी आचार्य अमृतचन्द्र के समान यहाँ से ९ गाथाओं के बाद १६३वीं गाथा पर ही करेंगे।

१५४वीं गाथा में बड़ी दृढ़ता से यह कहा गया है कि शुभाशुभभाव मुक्ति के हेतु नहीं हैं; अतः यह जिज्ञासा जागृत होना स्वाभाविक ही है कि **मुक्ति का वास्तविक हेतु क्या है ? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही १५५वीं गाथा लिखी गई है;** जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति –

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।।१५५।।

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः।।१५५।।

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्।

ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।।१५५।।

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
रागादि का परिहार चारित – यही मुक्तिमार्ग है।।१५५।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों का अधिगम (जानना) ज्ञान है और रागादि का त्याग चारित्र है – यही मोक्ष का मार्ग है।

यह एक सीधी-सादी, सहज, सरल, सुबोध गाथा है; जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप समझाया गया है और इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग बताया गया है।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को ही ज्ञान पर घटित करते हैं; क्योंकि पूर्व में यह कहते आये हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। उक्त कथनों से इस कथन की संगति बैठाने का ही यह सफल प्रयास है।

उनके कथन का भाव इसप्रकार है –

''वस्तुतः मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। उनमें जीवादिपदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमना सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव-रूप ज्ञान का होना – परिणमना सम्यग्ज्ञान है और रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमना सम्यक्चारित्र है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – तीनों ही एक ज्ञान का ही भवन है, परिणमन है; इसलिए ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।''

विगत गाथा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान को मोक्ष का परमार्थ हेतु बताया था; अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि **उक्त निश्चय रत्नत्रय को छोड़कर शेष जो शुभाशुभभाव और बालव्रत, बालतप शुभाशुभ क्रियायें हैं, वे मोक्ष के कारण नहीं हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।१५६।।

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः।।१५६।।

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्षहेतोरेवैक-द्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।।१५६।।

(हरिगीत)

विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के।।१५६।।

विद्वान लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तते हैं; किन्तु कर्मों का नाश तो निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ का आश्रय लेनेवाले यतीश्वरों (मुनिराजों) के ही कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''कुछ लोग मोक्ष के पारमार्थिक हेतु से भिन्न जो व्रत, तपादि शुभकर्म हैं; उन्हें मोक्ष का हेतु मानते हैं। यहाँ उन सभी का निषेध किया गया है; क्योंकि वे व्रतादि अन्य द्रव्य के स्वभाववाले पुद्गलरूप हैं; इसकारण उनके स्वभाव से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता। जो पारमार्थिक मोक्षहेतु है, वही एकद्रव्यस्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) होने से उसके स्वभाव द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।''

एकद्रव्यस्वभाव क्या है और अन्यद्रव्यस्वभाव क्या है ? यह समझना बहुत जरूरी है; क्योंकि इनकी चर्चा आगामी कलशों में भी आनेवाली है।

जिस द्रव्य में जो कार्य होना है, उस कार्य का कारण भी उसी द्रव्य में विद्यमान होना एकद्रव्यस्वभाव है। एकद्रव्यस्वभाववाला कारण ही सच्चा कारण है। मोक्ष भी आत्मा को होना है और आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन भी आत्मा में होना है और आत्मा के सम्मुख होकर होना है; इसकारण मुक्ति का कारण आत्मा और आत्मसम्मुख दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणमन को कहना एकद्रव्यस्वभाववाला हेतु हुआ।

शुभाशुभभाव और शुभाशुभक्रिया पुद्गलस्वभावी है; अतः वे आत्मा को मोक्ष की प्राप्तिरूप कर्म के लिए अन्यद्रव्यस्वभावी हैं; अतः वे शुभाशुभभाव व शुभाशुभक्रिया मोक्ष के हेतु नहीं हो सकते।

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव के पोषक दो कलश तथा आगामी गाथा का सूचक एक कलश – इसप्रकार तीन कलश लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इस-प्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।१०६।।
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।१०७।।
मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ।।१०८।।

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन, ज्ञानभावमय होय।
एकद्रव्यस्वभाव यह, हेतु मुक्ति का होय ।।१०६।।
कर्मभाव का परिणमन, ज्ञानरूप ना होय।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह, इससे मुकति न होय ।।१०७।।
बंधस्वरूपी कर्म यह, शिवमग रोकनहार।
इसीलिए अध्यात्म में, है निषिद्ध शतबार ।।१०८।।

ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होने से ज्ञान के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) बनता है; इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से कर्म के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) नहीं बनता है; इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।

कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है और वह स्वयं ही बंधस्वरूप है तथा मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने के स्वभाववाला होने से उसका निषेध किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों कलशों में यह कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन आत्मस्वभाव होने से मुक्ति का कारण है और शुभाशुभभावरूप कर्म परिणमन पुद्गलस्वभाव होने से मुक्ति का कारण नहीं है, मुक्ति का निरोधक है; अत: उन कर्मों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

अनेक आगम प्रमाणों और युक्तियों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो गई कि ये शुभाशुभ सभी पुण्य-पापरूप परिणाम बंध के ही कारण हैं; फिर भी तीव्र मिथ्यात्व के कारण अज्ञानियों को यह बात जँचती नहीं, रुचती नहीं और पचती नहीं।

१०८वें कलश में यह कहा था कि **मोक्ष के हेतुओं का तिरोधायी होने से मुक्ति के मार्ग में समस्त कर्मों का निषेध किया गया है।** अब उसी बात को आगामी गाथाओं के माध्यम से सोदाहरण सिद्ध करते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति –

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१५९।।

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम्।।१५७।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम्।।१५८।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम्।।१५९।।

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

(हरिगीत)

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से।।१५७।।
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञानमल के लेप से।।१५८।।
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से।।१५९।।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से लिप्त होने पर सम्यक्त्व तिरोहित हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से लिप्त होने पर ज्ञान तिरोभूत हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार कषायरूपी मैल से लिप्त होने पर चारित्र तिरोभूत हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का सम्यक्त्व स्वभाव परभावरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम्।।१५७-१५९।।

अथ कर्मणः स्वयं बन्धत्वं साधयति –

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम्।।१६०।।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का ज्ञानस्वभाव परभावरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का चारित्रस्वभाव परभावरूप कषाय नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

इसलिए मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।''

इसप्रकार गाथा और टीकाओं में सफेद वस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल से ढक जाती है; उसीप्रकार आत्मा का परमपवित्र निर्मल स्वभाव शुभाशुभभावों से ढक जाता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में शुभाशुभभावों का निषेध किया गया है।

अब यह कहते हैं कि **ये शुभाशुभभावरूप कर्म न केवल बंध के कारण हैं, अपितु स्वयं बंधस्वरूप ही हैं।** इसी भाव को व्यक्त करनेवाली आगामी गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः।।१६०।।

यद्यपि वह आत्मा सबको देखने-जानने के स्वभाववाला है; तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ, संसार को प्राप्त होता हुआ; सर्वप्रकार से सबको नहीं जानता।

इस गाथा में यह कह रहे हैं कि यद्यपि इस भगवान आत्मा का स्वभाव तो सभी को देखने-जानने का है; तथापि अपने विकारीभावरूप कर्ममल से लिप्त होने के कारण वर्तमान में सबको देखने-जानने में असमर्थ है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सबको देखने-जानने में असमर्थ होने के साथ-साथ सबको जानने-देखने के स्वभाववाले अपने आत्मा को भी नहीं जानता।

यत: स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमान-कर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वत: सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्ध:। अत: स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।।१६०।।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति –

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।१६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो।।१६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।१६३।।

इस बात को आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''स्वयं ज्ञान होने के कारण विश्व के सर्वपदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला यह ज्ञान (आत्मा) अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल से आच्छन्न होने के कारण ही बंधावस्था में अपने को अर्थात् सर्वप्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाले स्वयं को न जानता हुआ अज्ञानभाव से रह रहा है।

इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बंधस्वरूप है। स्वयं बंधस्वरूप होने से ही कर्म का निषेध किया गया है।''

इसप्रकार यह सुनिश्चित हो गया कि समस्त शुभाशुभभाव कर्मबंधस्वरूप हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा की दुर्दशा के प्रतीक हैं; अत: इन्हें मुक्ति के मार्ग में किसी प्रकार भी उपादेय नहीं माना जा सकता।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि शुभाशुभभाव में उलझा यह आत्मा सबको जानने-देखने के स्वभाववाले निजभगवान आत्मा को नहीं जानता – इसी वजह से कर्ममल से लिप्त होता है और संसार-सागर में परिभ्रमण करता है।

अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि कर्म मोक्षमार्ग के तिरोधायी हैं, मोक्षमार्ग को रोकनेवाले हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सम्यक्त्व प्रतिबंधक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा।।१६१।।
सद्ज्ञान प्रतिबंधक करम अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने – यह जानना।।१६२।।
चारित्र प्रतिबंधक करम जिन ने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो यह जानना।।१६३।।

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः।।१६१।।
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः।।१६२।।
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः।।१६३।।

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्।

ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वम्।

चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्।

सम्यक्त्व का प्रतिबंधक मिथ्यात्व है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है – ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञान का प्रतिबंधक अज्ञान है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है – ऐसा जानना चहिए।

चारित्र की प्रतिबंधक कषाय है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अचारित्रवान होता है – ऐसा जानना चाहिए।

इन सीधी-सरल गाथाओं का सीधा-सरल भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्वस्वभाव का प्रतिबंधक मिथ्यात्व है। वह स्वयं कर्म ही है अ ा ै र उसके उदय से ही ज्ञान (आत्मा) के मिथ्यादृष्टिपना होता है।

मोक्ष के कारणभूत ज्ञानस्वभाव का प्रतिबंधक अज्ञान है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अज्ञानीपना होता है।

मोक्ष के कारणभूत चारित्रस्वभाव की प्रतिबंधक कषाय है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अचारित्रपना होता है।

इसलिए यहाँ मोक्ष का तिरोधायी होने से कर्म का निषेध किया गया है।''

इसप्रकार गाथा और टीकाओं का निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं और इनके प्रतिबंधक मिथ्यात्वादिभाव हैं, जो स्वयं ही कर्मरूप हैं। यही कारण है कि कर्मरूप समस्त शुभाशुभभावों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

अधिकार के समापन के अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र चार कलश लिखते हैं, जिनमें पहले

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ।।१६१–१६३ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ।।१०९।।
यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।।११०।।

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ।।
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ।।१०९।।

मोक्षार्थियों के लिए समस्त ही कर्म त्याग करने योग्य हैं । जब यह सुनिश्चित है, तब फिर पुण्य और पाप कर्मों की चर्चा ही क्या करना; क्योंकि सभी कर्म त्याज्य होने से पुण्य भला और पाप बुरा – यह बात ही कहाँ रह जाती है ? ऐसी स्थिति होने पर सम्यक्त्वादि निजस्वभाव के परिणमन से मोक्ष की कारणभूत निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान स्वयं ही दौड़ा चला आता है ।

इस कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि जब मोक्षार्थियों के लिए सभी कर्म त्याज्य हैं तो फिर इस चर्चा के लिए अवकाश ही कहाँ रह जाता है कि पुण्य भला है और पाप बुरा है । अतः इस चर्चा को विस्तार देने से कोई लाभ नहीं है ।

अरे भाई ! निजभगवान आत्मा के आश्रय से जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते हैं; तब निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान सहज ही प्रगट हो जाता है, उसके लिए अलग से कोई पुरुषार्थ करने की अपेक्षा नहीं रहती ।

उक्त कथनों से यह सुनिश्चित ही है कि एक प्रकार से पुण्य भी पाप ही है, मुक्तिमार्ग में पाप के समान ही हेय है, त्याज्य है और उसे मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है ।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि यद्यपि पुण्यभावरूप कर्म भी मुक्तिमार्ग का विरोधी भाव है; तथापि ज्ञानधारा और कर्मधारा का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है ।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च।।१११।।

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो।।
अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय।।११०।।

जबतक ज्ञान की कर्मविरति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती; तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्रों में कहा है। तात्पर्य यह है कि तबतक ज्ञानधारा और कर्मधारा के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; किन्तु इतना विशेष है कि अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह बंध का कारण है और जो स्वतः विमुक्त परमज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि जबतक शुभाशुभ कर्म पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाते; तबतक शुभाशुभकर्मधारा और सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान एवं आंशिक विरतिरूप ज्ञानधारा एक आत्मा में एकसाथ रहती हैं; क्योंकि उनमें सहावस्थान विरोध नहीं है, एकसाथ में रहने में कोई बाधा नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि उन दोनों धाराओं के एकसाथ रहने पर भी दोनों के कार्य अलग-अलग ही रहते हैं। कर्मधारा बंध करती है और ज्ञानधारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

इसप्रकार इस कलश में यह बात एकदम साफ हो गई है कि भले ही छद्मस्थ ज्ञानी धर्मात्माओं के ज्ञानधारा और कर्मधारा एकसाथ रहती हों; तथापि यह बात तो स्पष्ट ही है कि कर्मधारा बंध का ही कारण है, इसकारण हेय है, त्याज्य है और मुक्ति का कारण होने से ज्ञानधारा उपादेय है, विधेय है, साक्षात् धर्म है।

अब आगामी कलश में कहते हैं कि कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती अज्ञानी जीव संसार-सागर में डूबते हैं और इनका सन्तुलन (बैलेंस) बनाकर चलनेवाले स्याद्वादी संसार-सागर से पार होते हैं।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छन्द हों।।
जो ज्ञानमय हों परिणमित परमाद के वश में न हों।

कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों।।१११।।

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण।।११२।।

कर्मनय के अवलंबन में तत्पर कर्म के पक्षपाती जीव संसार-सागर में डूबे हुए हैं; क्योंकि वे ज्ञान (आत्मा) को नहीं जानते और ज्ञाननय के इच्छुक पक्षपाती जीव भी डूबे हुए हैं; क्योंकि वे स्वच्छंदता से अत्यन्त मंद उद्यमी हैं। तात्पर्य यह है कि वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते और विषय-कषाय में वर्तते हैं; किन्तु जो जीव निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए, ज्ञानरूप परिणमित होते हुए कर्म नहीं करते, शुभाशुभ कर्मों से विरक्त रहते हैं और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते; वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि कुछ लोग आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना, आत्मानुभव किये बिना; व्रत-उपवासादि क्रियायें करके ही अपने को धर्मात्मा मान लेते हैं। ऐसे जीव कर्मनय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इसकारण वे संसार-सागर में डूबनेवाले ही हैं।

दूसरे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो आत्मा की बातें तो बहुत करते हैं, पर आत्मा का अनुभव उन्हें नहीं होता। आत्मा के अनुभव बिना ही स्वयं को ज्ञानी मान लेनेवाले वे लोग स्वच्छन्द हो जाते हैं, प्रमादी हो जाते हैं; भूमिकानुसार होनेवाले सदाचरण की भी उपेक्षा करते हैं। ऐसे लोग ज्ञाननय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इसकारण संसार में ही भटकनेवाले हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा तो आत्मज्ञानी होते हैं, आत्मानुभवी होते हैं और भूमिकानुसार उनका जीवन भी पवित्र होता है, सदाचारी होता है। ऐसा होने पर भी वे अपने उस सदाचरण को, भूमिकानुसार होनेवाले शुभभावों को धर्म नहीं मानते। उनकी दृष्टि में धर्म तो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन ही है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अतः अन्त मंगलाचरण के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र एक कलश लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान से।
पर भेद इनमें है नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से।।
यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से।
जयवंत हो इस जगत में जगमगे आतमज्ञान से।।११२।।

मोहरूपी मदिरा के पान से उत्पन्न भ्रमरस के भार से शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को नचानेवाले समस्त शुभाशुभ कर्मों को अपने ही बल द्वारा जड़मूल से उखाड़कर अज्ञानरूपी अंधकार को नाश करनेवाली सहज विकासशील, परमकला केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करनेवाली

अत्यन्त सामर्थ्य युक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम्।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽङ्कः।

यह कलश पुण्यपापाधिकार का अन्तिम कलश है। इसलिए इसमें अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरण के रूप में उसी ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है, जिसका स्मरण आरंभ से ही मंगलाचरण के रूप में करते आ रहे हैं।

इस कलश में समागत सभी विशेषण ज्ञानज्योति की महिमा बढ़ानेवाले हैं।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अतः आचार्य अमृतचन्द्र अधिकार की समाप्ति का सूचक वाक्य लिखते हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

''पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचनेवाला कर्म अब एक पात्ररूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया।''

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि इस ग्रन्थराज को यहाँ नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुण्यपापाधिकार में कर्मरूपी एक पात्र पुण्य और पाप – ऐसे दो वेष बनाकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुआ था; किन्तु जब वह सम्यग्ज्ञान में यथार्थ भासित हो गया तो वह नकली वेष त्यागकर अपने असली एक रूप में आ गया और रंगभूमि से बाहर निकल गया।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में पुण्य-पाप का प्ररूपक तीसरा अंक समाप्त हुआ।

●●●

आस्रवाधिकार

अथ प्रविशत्यास्रवः।

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः।।११३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

पुण्य-पाप के भाव सब, हैं आस्रव दुःखकार।
यह आतम आस्रव रहित, परम धरम सुखकार।।

इस समयसार ग्रन्थाधिराज में सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार में दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ प्रकार के सभी भावों से भिन्न बताया है और उनके स्वामित्व से भी इन्कार किया गया है, उनसे एकत्व-ममत्व छुड़ाया गया है।

उसके बाद कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं भावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से इन्कार किया गया है, उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व को छुड़ाया गया है।

उसके बाद पुण्यपापाधिकार में पुण्य और पाप भावों में एकता स्थापित की गई है; क्योंकि यह अज्ञानी आत्मा निज भगवान आत्मा से भिन्न शुभाशुभभावरूप पुण्य-पाप भावों को एक समान ही हेय न मानकर पुण्यभावों को उपादेय मान लेता है, उन्हें धर्म समझने लगता है, उन्हें मुक्ति का मार्ग मानने लगता है।

अब इस आस्रवाधिकार में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा जा रहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही भाव आस्रवभाव हैं; अतः बंध के कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं; उन्हें मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है।

इस अधिकार की टीका आचार्य अमृतचन्द्र छोटे से वाक्य से आरंभ करते हैं, जो इसप्रकार है - **'अब आस्रव प्रवेश करता है।'**

तात्पर्य यह है कि नाटक समयसार के रंगमंच पर अब आस्रव प्रवेश करता है।

उक्त आस्रवभाव के स्वांग को पहिचान लेनेवाले, आस्रवभाव को जीत लेनेवाले ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा की जय-जयकार करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र इस अधिकार का मंगलाचरण करते हैं।

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

सारे जगत को मथ रहा उन्मत्त आस्रवभाव यह।
समरांगण में समागत मदमत्त आस्रवभाव यह।।
मर्दन किया रणभूमि में इस भाव को जिस ज्ञान ने।
वह धीर है गंभीर है हम रमें नित उस ज्ञान में।।११३।।

समरांगण में समागत और महामद से मदोन्मत्त इस आस्रवभाव को, महान उदय और महान उदारता है जिसमें - ऐसा गंभीर ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा सहजभाव से जीत लेता है।

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति –

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो।।१६५।।

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः।।१६४।।
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः।।१६५।।

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः।

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः।

यहाँ समरांगण में समागत, मदोन्मत्त आस्रवभावरूपी जगविजयी योद्धा को सहजभाव से जीत लेनेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा का स्मरण किया गया है।

इन गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

'अब आस्रव का स्वरूप कहते हैं।'

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय चेतन-अचेतन।
चितरूप जो हैं वे सभी चैतन्य के परिणाम हैं।।१६४।।
ज्ञानावरण आदिक अचेतन कर्म के कारण बने।
उनका भी तो कारण बने रागादि कारक जीव यह।।१६५।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार आस्रवभाव संज्ञ अर्थात् चेतन के विकाररूप भी हैं और असंज्ञ अर्थात् पुद्गल के विकाररूप भी हैं। जीव में उत्पन्न और अनेक भेदोंवाले संज्ञ आस्रव अर्थात् भावास्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं।

असंज्ञ आस्रव अर्थात् मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में कारण (निमित्त) होते हैं और उन मिथ्यात्वादि भावों के होने में राग-द्वेष करनेवाला जीव कारण (निमित्त) होता है।

उक्त गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अपने परिणामों के निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव जड़ नहीं हैं, चिदाभास हैं, चैतन्य के ही विकार हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये पुद्गल परिणाम ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण में निमित्त होने से वास्तव में आस्रव हैं और उन मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों के आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं, जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम ही हैं।

तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः। ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवा-पद्यते।।१६४-१६५।।

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति –

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो।।१६६।।

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन्।।१६६।।

इसलिए मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। ये राग-द्वेष-मोह अज्ञानी के ही होते हैं – यह बात उक्त कथन के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि मूल गाथाओं में यह बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गई है, तथापि गाथाओं के अर्थ में से ही यह आशय निकलता है।''

यद्यपि पुराने मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का उदय नये ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के बंधन का निमित्त कारण है; तथापि जबतक आत्मा स्वयं राग-द्वेष-मोहरूप न परिणमे, तबतक ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधन नहीं होता; इसकारण पुराने मिथ्यात्वादिरूप द्रव्यकर्मों का उदय नये ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में निमित्त बने – इसके लिए रागादि भावों का निमित्तत्व आवश्यक है।

इसीलिए यह कहा गया है कि मोह-राग-द्वेष भाव पुराने कर्मों के उदय के निमित्तत्व के निमित्त हैं और इसीलिए वे वास्तविक आस्रव हैं।

इसप्रकार यहाँ पुराने द्रव्यमिथ्यात्वादिक के उदय और राग-द्वेष-मोहरूप भावमिथ्यात्वादि को वास्तविक आस्रवपना सिद्ध किया गया है।

यद्यपि कर्मों के नवीन बंध में पुराने द्रव्य मिथ्यात्वादि कर्मों का उदय निमित्त कारण है; तथापि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों के बिना नवीन कर्मों का बंध नहीं होता। इसलिए आत्मा का अहित करनेवाले असली आस्रवभाव तो मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी भाव ही हैं।

अब इस १६६वीं गाथा में यह कहते हैं कि **ज्ञानीजनों के इन आस्रवों का अभाव है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

है नहीं आस्रव बंध क्योंकि आस्रवों का रोध है।
सद्दृष्टि उनको जानता जो कर्म पूर्वनिबद्ध हैं।।१६६।।

सम्यग्दृष्टि के आस्रव जिसका निमित्त है – ऐसा बंध नहीं होता; क्योंकि उसके आस्रवों का निरोध है। नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ वह सम्यग्दृष्टि सत्ता में रहे हुए पूर्वकर्मों को मात्र जानता है।

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यंते, ततोऽज्ञान-मयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः।

अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्, तानि नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति।।१६६।।

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति –

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।।१६७।।

'सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओं को आस्रव-बंध नहीं होते' – यह बतानेवाली इस गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार खोलते हैं –

''परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते, इसकारण ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरोध को प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी के अज्ञानमय मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों का निरोध होता ही है।

इसीलिए ज्ञानी आस्रव जिनका निमित्त है, ऐसे ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता। सदा ही अकर्तृत्वस्वभावी एवं स्वयं ज्ञानस्वभावी होने से ज्ञानी नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों को मात्र जानता ही है।''

अध्यात्म के इस कथन की अपेक्षा तो यह है कि चौथे गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का बंध नहीं होता; वे प्रकृतियाँ ही मूलतः अनन्त संसार के बंध का कारण हैं तथा चतुर्थ गुणस्थान और उनके ऊपर के गुणस्थानों में जिन प्रकृतियों का बंध होता है, एक तो वे अनन्त संसार के बंध का कारण नहीं हैं, दूसरे उनका बंध भी अल्पस्थिति अनुभाग लिये होता है। अतः वह बंध न के बराबर ही है।

इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर यहाँ (अध्यात्म में) यह कहा गया है कि ज्ञानी को बंध नहीं होता।

इस गाथा में समागत विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ज्ञानी के मिथ्यात्व और उसके साथ रहनेवाले रागादि तो हैं ही नहीं, अतः उनका कर्ता-धर्ता होने का तो सवाल ही नहीं है; किन्तु चारित्रमोह संबंधी जो भी रागादिभाव भूमिकानुसार विद्यमान हैं, ज्ञानी आत्मा उनका भी कर्ता-धर्ता नहीं है, उनका तो वह सहज ज्ञाता-दृष्टा मात्र है।

'ज्ञानी को आस्रव-बंध नहीं होता' – इस कथन का तात्पर्य यही है कि ज्ञानी जिस भूमिका में हो, जिस गुणस्थान में हो; उस गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति हो चुकी हो; ज्ञानी को उन प्रकृतियों का आस्रव-बंध नहीं होता। यही अभिप्राय तर्कसंगत है, शास्त्रसम्मत है और अनुभवसिद्ध भी है।

अब इस आगामी गाथा १६७ में यह कहते हैं कि **वास्तविक आस्रव तो मोह-राग-द्वेष ही हैं।**

मूल गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

भावो रागादियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायकः केवलम् ।।१६७।।

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति।

तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायससूचीं, अकर्मकरणोत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति।

ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः। तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ।।१६७।।

(हरिगीत)

जीवकृत रागादि ही बंधक कहे हैं सूत्र में।
रागादि से जो रहित वह ज्ञायक अबंधक जानना।।१६७।।

जीवकृत रागादि भाव ही नवीन कर्मों का बंध करनेवाले कहे गये हैं, रागादि से रहित भाव बंधक नहीं हैं; क्योंकि वे तो मात्र ज्ञायक ही हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में लोहचुम्बक का उदाहरण देकर इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''जिसप्रकार लोहचुम्बकपाषाण के संसर्ग से लोहे की सुई में उत्पन्न हुआ भाव सुई को गति करने के लिए प्रेरित करता है; उसीप्रकार मोह–राग–द्वेष के संपर्क से उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

तथा जिसप्रकार लोहचुम्बकपाषाण के विवेक से अर्थात् असंसर्ग से सुई में उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को गति न करनेरूप स्वभाव में स्थापित करता है; उसीप्रकार मोह–राग–द्वेष और आत्मा के भेद जान लेनेवाले विवेक से उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव किसी भी कर्म को करने के लिए प्रेरित करने की उत्सुकता से रहित होता हुआ आत्मा को स्वभाव में ही स्थापित करता है।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि रागादि भावों से मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व का प्रेरक होने से बंध करनेवाला है, रागादि अमिश्रित ज्ञानभाव तो स्वभाव का प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है, रंचमात्र भी बंध करनेवाला नहीं।''

सीधी–सादी सहज सरल बात भी यही है कि रागादि और आत्मा में अभेद जाननेवाला अज्ञानमयभाव ही बंध करनेवाला है और आत्मा और मोह–राग–द्वेषरूप आस्रव भावों में भेद जाननेवाला ज्ञानभाव ही अबंधक है।

१६७वीं गाथा में यह कहा था कि मोह–राग–द्वेष भाव ही आस्रव हैं और १६६वीं गाथा में यह कहा था कि ज्ञानी के इन आस्रव भावों का अभाव है। अब १६८वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि

ज्ञानी के रागादि भावों से अमिश्रित भाव ही उत्पन्न होता है और इसी कारण उसे बंध नहीं होता।

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति –

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि।।१६८।।

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति।।१६८।।

यथा खलु पक्वं फलं वृन्तात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृन्तसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति।

एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति।।१६८।।

(शालिनी)

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम्।।११४।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पक्वफल जिसतरह गिरकर नहीं जुड़ता वृक्ष से।
बस उसतरह ही कर्म खिरकर नहीं जुड़ते जीव से।।१६८।।

जिसप्रकार पके हुए फल के गिर जाने पर, वह फल फिर उसी डंठल पर नहीं बँधता, उसीप्रकार जीव के कर्मभाव के झड़ जाने पर फिर वह उदय को प्राप्त नहीं होता।

आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार पका हुआ फल एकबार डंठल से गिर जाने पर फिर उसके साथ संबंध को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एकबार अलग हो जाने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि से न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।''

'जीव के कर्मभाव के झड़ जाने पर फिर वह उदय को प्राप्त नहीं होता' – गाथा के इस कथन का आत्मख्यातिकार ने यह अर्थ किया है कि 'कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एकबार अलग हो जाने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि से न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।'

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसी भाव का पोषक एक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सद्ज्ञान निर्मित भाव जो।।
भावास्रवों से रहित वे इस जीव के निजभाव हैं।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं।।११४।।

जीव का जो राग-द्वेष-मोह से रहित, ज्ञान से ही रचित भाव है और जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को रोकनेवाला है; वह ज्ञानमयभाव सर्व भावास्रवों के अभावरूप है।

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति –

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।।१६९।।

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः।।१६९।।

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः।

ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संबद्धा, न तु जीवेन। अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः।।१६९।।

अब इस १६९वीं गाथा में **ज्ञानी जीवों के द्रव्यास्रवों का अभाव है – यह बतलाते हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो बँधे थे भूत में वे कर्म पृथ्वीपिण्ड सम।
वे सभी कर्म शरीर से हैं बद्ध सम्यग्ज्ञानि के।।१६९।।

उस ज्ञानी के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय पृथ्वी (मिट्टी) के ढेले के समान हैं और वे मात्र कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो पहले अज्ञानावस्था में अज्ञान से बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं; वे अन्य द्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गल परिणामवाले होने से ज्ञानी के लिए पृथ्वी (मिट्टी) के ढेले के समान हैं।

वे समस्त द्रव्यकर्म स्वभावतः मात्र कार्मण शरीर के साथ ही बँधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं; इसलिए ज्ञानी के स्वभाव से ही द्रव्यास्रवों का अभाव सिद्ध है।''

प्रश्न – ज्ञानी के मिथ्यात्व है ही कहाँ, जिसे यहाँ पृथ्वी के ढेले के समान बताया जा रहा है?

उत्तर – यह औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा बात है; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तो द्रव्यमिथ्यात्व (पौद्गलिक मिथ्यात्व) की सत्ता नहीं है; किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के तो द्रव्यमिथ्यात्व की सत्ता रहती ही है।

प्रश्न – पृथ्वी के ढेले के समान का क्या अर्थ है ?

उत्तर – जिसप्रकार पृथ्वी का ढेला आत्मा के अहित में निमित्त भी नहीं है; उसीप्रकार सत्ता में पड़ा हुआ द्रव्यमिथ्यात्व आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाने में निमित्त भी नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जहर कितना ही खतरनाक क्यों न हो, जबतक उसे खाया नहीं

जायेगा, खतरा नहीं होगा; क्योंकि मुट्ठी में रखा हुआ जहर अपना असर दिखाने में असमर्थ होता है।

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव।।११५।।

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु।।१७०।।
जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु।।१७०।।
यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः।।१७१।।

उसीप्रकार द्रव्यकर्म जबतक उदय में न आये, तबतक कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि सत्ता में पड़ा हुआ द्रव्यकर्म तो पृथ्वी के पिण्ड के समान अकिंचित्कर ही होता है, अकार्यकारी ही होता है।

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है, भावास्रव को नाश।
सदा ज्ञानमय निरास्रव, ज्ञायकभाव प्रकाश।।११५।।

द्रव्यास्रवों से स्वभाव से भिन्न और भावास्रवों के अभाव को प्राप्त सदा एक ज्ञानमय भाववाला ज्ञानी निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है।

यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञानी द्रव्यास्रवों से तो स्वभावतः ही भिन्न है और उसने भावास्रवों का अभाव कर लिया है। इसप्रकार द्रव्यास्रवों और भावास्रवों के अभाव से ज्ञानी सदा निरास्रव ही है।

विगत गाथा और कलश में कहा था कि ज्ञानी सदा निरास्रव ही है। अतः जिज्ञासुओं के हृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि **बंधनबद्ध ज्ञानी निरास्रव कैसे हो सकता है ?**

इस प्रश्न के उत्तर में ही आगामी गाथाओं का जन्म हुआ है, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

प्रतिसमय विध-विध कर्म को सब ज्ञान-दर्शन गुणों से।
बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ही ज्ञानी अबंधक इसलिए।।१७०।।
ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में।
अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा।।१७१।।

चार प्रकार के द्रव्यास्रव (द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानदर्शन गुणों के द्वारा समय-समय पर अनेकप्रकार

के कर्मों को बाँधते हैं, इसकारण ज्ञानी तो अबंध ही है।

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्यया: प्रति-समयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नंति, तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतु:।

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत् – ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भाव: तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुन: पुनरन्यतयास्ति परिणाम:। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।।१७०-१७१।।

क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर भी अन्यरूप से परिणमन करता है; इसलिए वह ज्ञानगुण कर्मों का बंधक कहा गया है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण निरास्रव ही हैं, परन्तु उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रतिसमय अनेकप्रकार का पुद्गल कर्म बाँधते हैं; उसमें ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुण बंध कारण कैसे है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि – जबतक ज्ञानगुण का जघन्यभाव है, क्षायोपशमिक भाव है; तबतक वह ज्ञानगुण अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है। इसीलिए पुन: पुन: उसका अन्यरूप परिणमन होता है। वह ज्ञानगुण का जघन्यभाव से परिणमन यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।''

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ १७०वीं गाथा और उसकी टीका में – ज्ञानी जीवों के ७७ प्रकृतियों का जो बंध होता है – उसका कारण ज्ञान-दर्शन गुण या उनके परिणमन को कहा गया है।

यह पढ़कर यह शंका होना अत्यन्त स्वाभाविक है कि ज्ञान-दर्शन गुण या उनका परिणमन बंध का कारण कैसे हो सकता है ?

इसका समाधान १७१वीं गाथा में यह कहकर किया गया है कि जबतक ज्ञान-दर्शन गुण का परिणमन जघन्यभाव से होता है, क्षायोपशमिक भाव के रूप में होता है; तबतक यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे राग का सद्भाव अवश्य होता है। वस्तुत: तो वह राग ही बंध का कारण है; पर अविनाभावी संबंध देखकर यहाँ ज्ञान-दर्शन गुण या उसके परिणमन को बंध का कारण कह दिया है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

प्रश्न – यदि जघन्यभाव से परिणमित ज्ञानगुण के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले रागादि भावों से ही बंध होता है तो फिर ज्ञानगुण को बंध का कारण कहना क्या अनुचित नहीं लगता ?

उत्तर – अरे भाई ! इसमें उचित-अनुचित का क्या सवाल है; जो वस्तुस्थिति है, उसे समझना चाहिए; जो अपेक्षा हो, उसे अच्छी तरह समझना चाहिए।

यहाँ फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि **यदि ज्ञानगुण का जघन्यभाव बंध का कारण है तो फिर**

ज्ञानी को निरास्रव कैसे कह सकते हैं ?

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण।।१७२।।

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन।।१७२।।

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात्।

अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात्।।१७२।।

इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी गाथा का जन्म हुआ है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्ञान–दर्शन–चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे।
तब विविध पुद्गल कर्म से इसलोक में ज्ञानी बँधे।।१७२।।

क्योंकि उक्त ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमित होते हैं; इसलिए ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म से बँधता है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग–द्वेष–मोहरूपी आस्रवभावों का अभाव होने से वह निरास्रव ही है; परन्तु वह ज्ञानी जबतक ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त रहता हुआ जघन्यभाव से ज्ञान (आत्मा) को देखता है, जानता है और आचरण करता है; तबतक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति से जिसका अनुभव हो सकता है – ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विधान का सद्भाव होने से, पुद्गलकर्म का बंध होता है।

इसलिए ज्ञान (आत्मा) को तबतक देखना, जानना और आचरण करना चाहिए; जबतक कि ज्ञान का जितना पूर्णभाव है; उतना देखने, जानने और आचरण में भलीभाँति (न) आ जाये। उसके बाद आत्मा साक्षात् ज्ञानी होता हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है।''

इस गाथा की टीका पूरी करते हुए आचार्यदेव इसी भाव का पोषक एक कलशकाव्य लिखते हैं,

जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव–
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ।।११६।।

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से, कर दीना परित्याग।
सम्यग्ज्ञानी जीव ने, बुद्धिपूर्वक राग।।
बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने।
और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने।।
निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को।
रहे निरास्रव सदा उखाड़े परपरिणति को।।११६।।

ज्ञानी आत्मा स्वयं ही अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ और अबुद्धिपूर्वक राग को जीतने के लिए स्वशक्ति को बारंबार स्पर्श करता हुआ तथा समस्त परपरिणति को उखाड़ता हुआ एवं ज्ञान के पूर्णभाव में प्राप्त होता हुआ सदा ही निरास्रव रहता है।

इस कलश में ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को निरास्रव सिद्ध करते हुए यह कहा गया है कि ज्ञानी ने बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादि को तो छोड़ ही दिया है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिभावों का नाश करने के लिए ज्ञानीजन बारम्बार स्वशक्ति का स्पर्श करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वे बारंबार निज आत्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाते हैं, उसका ध्यान करते हैं; क्योंकि राग के नाश का एकमात्र यही उपाय है। इसप्रकार वे सम्पूर्ण आस्रवभावों का अभाव करते हुए सदा ही निरास्रव हैं।

पाण्डे राजमलजी एवं कविवर पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जो हमारे ज्ञान में ज्ञात हो जाये, उस राग को बुद्धिपूर्वक राग कहते हैं और जो ज्ञात न हो, उसे अबुद्धिपूर्वक राग कहते हैं; पर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा उनसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सविकल्प दशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो होते हैं; तथापि वे अबुद्धिपूर्वक ही हैं। उनके अनुसार ज्ञात होने मात्र से वे बुद्धिपूर्वक नहीं हो जाते।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का अर्थ करते समय इस बात को भी स्पष्ट कर देते हैं। वह भावार्थ इसप्रकार है –

''ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग मिटाने के लिए उद्यम किया करता है, उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है – अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप

परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए निजशक्ति को बारंबार

(अनुष्टुभ्)

सर्वस्यामेव जीवंत्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ।।११७।।

स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारंबार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार है – जो रागादि परिणाम इच्छासहित होते हैं, वे बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, वे अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं। सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं; तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना इच्छा के ही होते हैं।''

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि ज्ञानी आत्मा ने बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादि को तो छोड़ ही दिया है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिभावों के त्याग के लिए वह बारंबार आत्मा का स्पर्श करता है, आत्मानुभव करता है। इसप्रकार वह पूर्णतः निरास्रव होने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है तथा उसका यह प्रयास यथासमय सफल भी होता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि रागादिभावों का अभाव आत्मा के स्पर्श से होता है, आत्मानुभव से होता है। अतः आत्मा के कल्याण का मार्ग एकमात्र आत्मानुभव ही है। आत्मानुभव ही सच्चा धर्म है।

अब आगामी चार गाथाओं की उत्थानिकारूप कलशकाव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

द्रव्यास्रव की संतति, विद्यमान सम्पूर्ण।
फिर भी ज्ञानी निरास्रव, कैसे हो परिपूर्ण ।।११७।।

ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रवों की संतति विद्यमान होने पर भी यह क्यों कहा गया है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है – यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है।

इस कलश का भाव एकदम सीधा-सादा है कि जब द्रव्यास्रवों की सम्पूर्ण संतति विद्यमान है तो फिर ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ?

यद्यपि इस कलश में मात्र प्रश्न ही खड़ा किया गया है, आशंका ही प्रस्तुत की गई है; तथापि इस प्रश्न के समर्थन में, इस आशंका के समर्थन में समर्थ तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। कहा गया है कि आपने तो कह दिया कि सम्यग्दृष्टि निरास्रव होते हैं; पर हमें तो उनका सम्पूर्ण आचरण मिथ्यादृष्टियों जैसा ही दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में उन्हें निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ?

इस सशक्त आशंका का सोदाहरण एवं सयुक्ति निराकरण आगामी चार गाथाओं में किया जा

रहा है; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण।।१७३।।
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं।।१७४।।
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स।।१७५।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा।।१७६।।

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन।।१७३।।
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः।।१७४।।
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य।।१७५।।
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः।।१७६।।

(हरिगीत)

पहले बँधे सद्दृष्टिओं के कर्मप्रत्यय सत्त्व में।
उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें।।१७३।।
अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह।
ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म बाँधे उसतरह।।१७४।।
बालवनिता की तरह वे सत्त्व में अनभोग्य हैं।
पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते।।१७५।।
बस इसलिए सद्दृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा।
क्योंकि आस्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सके।।१७६।।

सम्यग्दृष्टिजीव के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (रागादि) के द्वारा नवीन बंध करते हैं।

निरुपभोग्य होकर भी वे प्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य होते हैं, उसीप्रकार सात-आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधते हैं।

जिसप्रकार जगत में बाल स्त्री पुरुष के लिए निरुपभोग्य है और तरुण स्त्री (युवती) पुरुष को बाँध लेती है; उसीप्रकार सत्ता में पड़े हुए वे कर्म निरुपभोग्य हैं और उपभोग्य होने पर, उदय में आने पर बंधन करते हैं।

इसकारण से सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है; क्योंकि आस्रवभाव के अभाव में प्रत्ययों को

बंधक नहीं कहा है।

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्त-यौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति, ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु, तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानाम-बंधहेतुत्वात्।।१७३-१७६।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार तत्काल की विवाहित बाल स्त्री अनुपभोग्य है, भोगने योग्य नहीं; किन्तु वही पहले की परिणीत बाल स्त्री यथासमय यौवनावस्था को प्राप्त होने पर उपभोग्य हो जाती है, भोगने योग्य हो जाती है। वह यौवनावस्था को प्राप्त युवती स्त्री जिसप्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बंधन में डालती है, वश में करती है।

उसीप्रकार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय पूर्व में सत्तावस्था में होने से अनुपभोग्य थे; किन्तु जब विपाक अवस्था में, उदय में आने पर उपभोग के योग्य होते हैं, तब उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् जिसरूप में उपभोग्य हों, तदनुसार कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बंधन करते हैं। इसलिए यदि ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भले रहें; तथापि वह ज्ञानी निरास्रव ही है; क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बंध के कारण नहीं हैं।''

यहाँ उदाहरण में तत्काल की विवाहित बाल स्त्री ली है। यद्यपि लोक में कानूनी और सामाजिक दृष्टि से विवाहित स्त्री को उसके पति द्वारा भोगने योग्य माना जाता है; तथापि यदि वह विवाहित स्त्री बालिका हो, कच्ची उम्र की हो तो विवाहित होने पर भी बाल्यावस्था के कारण भोगने योग्य नहीं होती; किन्तु जब वही विवाहित बालिका जवान हो जाती है तो सहज ही पुरुष (पति) के द्वारा भोगने योग्य हो जाती है।

इस उदाहरण के माध्यम से आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वयं के द्वारा पूर्व में बाँधे गये और जो अभी सत्ता में विद्यमान हैं, वे कर्म जीव के द्वारा अभी बालिका स्त्री के समान भोगने योग्य नहीं हैं; किन्तु जब उनका उदयकाल आयेगा, तब वे जवान स्त्री की भाँति भोगने-योग्य हो जायेंगे।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार पूर्व में विवाहित वह बाल स्त्री जवान हो जाने पर भी पुरुष (पति) को पुरुष के रागभाव के कारण ही वश में करती है, बंधन में डालती है। यदि पुरुष (पति) के हृदय में रागभाव न हो तो वह जवान स्त्री (पत्नी) भी उसे नहीं बाँध सकती; उसीप्रकार पूर्व में बद्ध कर्म उदय में आने पर भी जीव को उसके रागभाव के कारण ही बंध के कारण बनते हैं। यदि जीव की पर्याय में रागभाव न हो तो मात्र द्रव्यकर्मों का उदय कर्मबंध करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ इसी बात पर विशेष वजन दिया गया है कि आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मूलतः बंध के कारण हैं। यदि मोह-राग-द्वेष न हो तो पूर्वबद्ध कर्म का उदय भी बंधन करने में समर्थ

नहीं है।

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया: पूर्वबद्धा:
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपा:।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन: कर्मबन्ध:।।११८।।

(अनुष्टुभ्)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभव:।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम्।।११९।।

इसप्रकार न तो बंधावस्था को प्राप्त कर्म बंधन के कारण हैं, न सत्ता में पड़े हुए कर्म बंधन के कारण हैं और न रागादि के बिना उदय में आये कर्म बंधन के कारण हैं।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म का बंध, सत्त्व और उदय जीव को बंधन में नहीं डालते, आगामी कर्मों का बंध नहीं करते; अपितु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव ही कर्मबंध के मूलकारण हैं। अत: कर्मों के बंध, सत्त्व और उदय के विचार से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है।

अब आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बँधे थे अब वे सभी।
निजकाल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी।।
यद्यपी वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से।
अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं।।११८।।

यद्यपि अपने समय का अनुसरण करनेवाले, अपने-अपने समय में उदय में आनेवाले पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते; तथापि सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मबंध कदापि नहीं होता।

इसप्रकार इन १७३ से १७६ तक की गाथाओं में तथा उनके बाद समागत ११८वें कलश में यही कहा गया है कि द्रव्यकर्मों के सत्ता में विद्यमान रहने पर भी ज्ञानी के भूमिकानुसार राग-द्वेष-मोह के अभाव में तत्संबंधी बंध नहीं होता। इसीकारण उसे अबंधक कहा जाता है।

इसके बाद आगामी दो गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही, केवल बंधकभाव।

ज्ञानी के ये हैं नहीं, तातैं बंध अभाव।।११९।।

ज्ञानियों के राग-द्वेष-मोह भावों का होना असंभव है, इसीलिए उनके बंध भी नहीं होता; क्योंकि वे राग-द्वेष-मोह ही बंध के कारण हैं।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।१७७।।
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।।१७८।।

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति।।१७७।।
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते।।१७८।।

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः। तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात्। ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः।।१७७-१७८।।

१७७-१७८वीं गाथाओं की उत्थानिका के रूप में समागत इस कलश में यह कहा गया है कि बंध के कारणभूत मोह-राग-द्वेषभाव ज्ञानियों के नहीं होते; इसीकारण उन्हें बंध भी नहीं होता।

अब इसी बात को गाथाओं के माध्यम से कहते हैं। मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

रागादि आस्रवभाव जो सद्दृष्टियों के वे नहीं।
इसलिए आस्रवभाव बिन प्रत्यय न हेतु बंध के।।१७७।।
अष्टविध कर्मों के कारण चार प्रत्यय ही कहे।
रागादि उनके हेतु हैं उनके बिना बंधन नहीं।।१७८।।

राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव सम्यग्दृष्टियों के नहीं होते; इसलिए उन्हें आस्रवभाव के बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंध के कारण नहीं होते।

मिथ्यात्वादि चार प्रकार के हेतु आठ प्रकार के कर्मों के बंध के कारण कहे गये हैं और उनके भी कारण जीव के रागादि भाव हैं।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टित्व की अन्यथा अनुपपत्ति है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति ही संभव नहीं है।

राग-द्वेष-मोह के अभाव में सम्यग्दृष्टियों को द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म के बंधन का हेतु नहीं

बनते; क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्म के हेतुत्व के हेतु के अभाव में हेतुमान का अभाव प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि कारण के कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है। अतः ज्ञानी के बंध नहीं है।''

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न–
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम्।।१२०।।

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध–
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्।।१२१।।

ध्यान रहे, यहाँ जो सम्यग्दृष्टियों के मोह–राग–द्वेष का अभाव बताया गया है; उसमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ही लेना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के इनका ही अभाव होता है।

अब शुद्धनय की महिमा बतानेवाले इन १२०–१२१वें कलशों में से प्रथम में शुद्धनय के आश्रय के लाभ से और दूसरे में शुद्धनय से च्युत होने से होनेवाली हानि से परिचित कराते हैं।

दोनों कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिह्न वाले शुद्धनय अभ्यास से।
निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से।।
रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन।
बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते।।१२०।।

च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे।
पहले बँधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो।।
अरे विचित्र विकल्पवाले और विविध प्रकार के।
विपरीतता से भरे विध–विध कर्म का बंधन करें।।१२१।।

उद्धत ज्ञान है चिह्न जिसका, ऐसे शुद्धनय का आश्रय लेकर जो जीव सदा ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं; वे निरन्तर रागादि से मुक्त चित्तवाले ज्ञानीजन बंध से रहित समय के सार को, शुद्धात्मा को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

तथा इस जगत में जो जीव शुद्धनय से च्युत होकर रागादि के संबंध को प्राप्त होते हैं; आत्मज्ञान से रहित वे जीव पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवों के द्वारा अनेकप्रकार के कर्मों को बाँधते हैं।

इन दोनों कलशों का सार यह है कि शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय करनेवाले कर्मबंधनों से मुक्त हो जाते हैं और शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को न जाननेवाले लोग विविध प्रकार के कर्म बंधनों से बँधते हैं।

यह १२१वाँ छन्द वह छन्द है; जिसके भावानुवाद में कविवर बनारसीदासजी ने यह लिखा है कि क्षयोपशम सम्यग्दर्शन तो एक दिन में भी अनेक बार हो सकता है और छूट सकता है।

कविवर बनारसीदासजी कृत भावानुवाद इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्ह की अवस्था ज्यौं लुहार की संडासी है।
खिन आगमाहिं खिन पानीमाहिं तैसैं एऊ,
खिन मैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है।।
जौलैं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह,
जैसैं कीले नाग की सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करैं,
ज्यौं उकीले नाग की सकति परगासी है।।

जितने जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि पंडित हैं; उनकी अवस्था (दशा) तो लुहार की संडासी (संसी) के समान होती है। जिसप्रकार लुहार की संडासी एक क्षण में अग्नि में होती है तो दूसरे क्षण में पानी में होती है; उसीप्रकार औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव भी प्रथम क्षण में मिथ्यादृष्टि हैं तो दूसरे क्षण में सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं तथा फिर तीसरे क्षण मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार लुहार की संडासी क्षण–क्षण में गर्म–ठंडी, ठंडी–गर्म होती रहती है; उसीप्रकार औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं।

जिसप्रकार नाग (सर्प) को मंत्रशक्ति द्वारा कीलित कर देने पर, कील देने पर; उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है और गति (चलना–फिरना) रुक जाती है; किन्तु जब उसी कीलित नाग को उकील देते हैं तो शक्ति प्रकाशित हो जाती है और वह गति (चलना–फिरना) करने लगता है; उसीप्रकार जबतक सम्यग्ज्ञान रहता है, तबतक चारित्रमोह भी शिथिल रहता है; किन्तु जब वही ज्ञानी जीव मिथ्यात्वदशा में आ जाता है, तब अनेकप्रकार के कर्मों का बंध करने लगता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि इस पंचमकाल में यहाँ भरत क्षेत्र में क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो कोई होता नहीं और औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन क्षणस्थाई भी होते हैं। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति इस जीवन में अनेकों बार मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो सकता है; क्योंकि औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, देशव्रत और अनन्तानुबंधी की विसंयोजना – ये चारों असंख्य बार होते हैं और छूट जाते हैं।

अत: विचारने की बात यह है कि अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के आधार पर किसी को सम्यग्दृष्टि और किसी को मिथ्यादृष्टि घोषित करने में क्या दम है; क्योंकि जो अभी मिथ्यादृष्टि है, वह क्षण में

सम्यग्दृष्टि और जो अभी सम्यग्दृष्टि है, वह क्षण में मिथ्यादृष्टि हो सकता है।

इसीप्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने भी कहा था कि अरे भाई ! पर्याय तो क्षण-क्षण में बदलती रहती है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा।।१८०।।

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः।।१७९।।
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः।।१८०।।

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्म बंधं परिणमयंति।

न चैतदप्रसिद्धं, पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात्।।१७९-१८०।।

अब इसी बात को गाथाओं में उदाहरण से समझाते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जगजन ग्रसित आहार ज्यों जठराग्नि के संयोग से।
परिणमित होता वसा में मज्जा रुधिर मांसादि में।।१७९।।
शुद्धनय परिहीन ज्ञानी के बँधे जो पूर्व में।
वे कर्म प्रत्यय ही जगत में बाँधते हैं कर्म को।।१८०।।

जिसप्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार जठराग्नि के संयोग से अनेकप्रकार मांस, चर्बी, रुधिर आदि रूप परिणमित होता है; उसीप्रकार शुद्धनय से च्युत ज्ञानी जीवों के पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव अनेकप्रकार के कर्म बाँधते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जब ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत होता है, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होने से पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय अपने (द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबंध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमान भाव (कार्य) का अनिवार्यत्व होने से ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बंधरूप परिणमित करते हैं और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है; क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस, रुधिर, मांस इत्यादि रूप में परिणमित करती देखी जाती है।''

पुरुष द्वारा किये गये आहार के उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह बताया गया है कि जिसप्रकार गृहीत आहार को जठराग्नि ही खून-मांसादि रूप परिणमित करती है; उसीप्रकार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय (पूर्वकाल में बाँधे गये द्रव्यकर्म) ही कार्मणवर्गणाओं को ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित करते हैं।

यहाँ पर शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ ज्ञानी धर्मात्मा का शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आ जाना

(अनुष्टुभ्)

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बंध एव हि ।।१२२।।

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः।।१२३।।

मात्र नहीं है; अपितु शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा की श्रद्धा से च्युत हो जाना है, मिथ्यात्व की भूमिका में आ जाना है।

आगामी कलश में भी इसी भाव का पोषण किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

इस कथन का सार यह कि शुद्धनय उपादेय है।
अर शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है।।
क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है।
इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है।।१२२।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके त्याग से बंध होता है और उसके अत्याग से बंध नहीं होता।

इस कलश में न केवल इस प्रकरण का निचोड़ दिया गया है, अपितु सम्पूर्ण समयसार का निचोड़ दिया गया है। अरे भाई ! यह बात अकेले समयसार के निचोड़ की ही बात नहीं है; सम्पूर्ण जिनागम का निचोड़ भी यही है, भगवान की दिव्यध्वनि का सार भी यही है।

अब इसी बात को दृढ़ता प्रदान करनेवाला कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

धीर और उदार महिमायुत अनादि-अनंत जो।
उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भाव जो।।
सद्ज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है।
विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है।।१२३।।

धीर और उदार महिमावाले अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता करता हुआ समस्त कर्मों के समूह को नष्ट करनेवाला शुद्धनय धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि शुद्धनय में स्थित पुरुष बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को अल्पकाल में ही समेटकर पूर्ण ज्ञानघन के पुंजरूप, एक अचल शान्त तेजपुंज को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा–
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत्।।१२४।।

इति आस्रवो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः।

इसप्रकार इस कलश में भी यही कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा का आश्रय करनेवाला शुद्धनय किसी भी स्थिति में छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार शुद्धनय की महिमा बताकर, उसे ग्रहण करने की प्रेरणा देकर, उसे नहीं छोड़ने की चेतावनी देकर; अब आचार्य अमृतचन्द्र आस्रव अधिकार के अन्त में आस्रव का अभाव करके प्रगट होनेवाले ज्ञान की महिमा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत

निज आतमा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते।
अर उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते।।
वे आस्रवों का नाश कर नित रहें आतमध्यान में।
वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में।।१२४।।

सदा ही उदित परमात्मवस्तु को अंतरंग में देखनेवाले पुरुष को रागादि आस्रवभावों का शीघ्र ही सर्वप्रकार से नाश होने से सर्व लोकालोक को जाननेवाला अनन्तानन्त विस्तार को प्राप्त ज्ञान सदा अचल रहता है, प्रगट होने के बाद ज्यों का त्यों बना रहता है, चलायमान नहीं होता। उसके समान अन्य कोई न होने से वह ज्ञान अतुल कहा जाता है।

इस अधिकार को समाप्त करते हुए आत्मख्यातिकार अन्तिम वाक्य के रूप में लिखते हैं –

''इसप्रकार आस्रव रंगभूमि से बाहर निकल गया।''

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

●●●

संवराधिकार

अथ प्रविशति संवरः।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसार–विरोधि–संवर–जयैकांतावलिप्तास्रव–
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर–
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।१२५।।

मंगलाचरण

(दोहा)

अपनापन शुद्धात्म में, अपने में ही लीन।
होना ही संवर कहा, जिनवर परम प्रवीण।।

ग्रन्थाधिराज समयसार में सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार में दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को वर्णादि व रागादिभावों से भिन्न बताकर उनसे एकत्व–ममत्व छुड़ाया गया है।

उसके बाद कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं वर्णादि व रागादिभावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से इन्कार किया गया है। उसके बाद पुण्यपापाधिकार में पाप के समान ही पुण्यभाव को भी बंध का कारण बताकर हेय बताया है, भगवान आत्मा से भिन्न बताया गया है।

उसके बाद आस्रवाधिकार में भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए पाप और पुण्य दोनों ही भाव आस्रव हैं, बंध के कारण हैं; इसकारण हेय हैं – यह बताया गया है।

अब इस संवराधिकार में उन सभी भावों से भेदविज्ञान कराया जा रहा है। यद्यपि विगत अधिकारों में भी उक्त भावों से भेदविज्ञान ही कराया गया था; क्योंकि सम्पूर्ण समयसार ही भेदविज्ञान के लिए समर्पित है; तथापि इस संवराधिकार में भेदविज्ञान की विशेष महिमा बताई गई है।

इस अधिकार की आरंभिक गाथाओं की जो उत्थानिका आत्मख्याति टीका में दी गई है, उसमें कहा गया है कि अब इससे पहले सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है; उसका अभिनन्दन करते हैं। एकप्रकार से यह अधिकार भेदविज्ञान के अभिनन्दन का ही अधिकार है।

समयसार नाटक के रंचमंच पर **'अब संवर नामक पात्र प्रवेश करता है।'**

आत्मख्याति टीका में अन्य अधिकारों के समान ही इस अधिकार का आरंभ भी मंगलाचरण के रूप में ज्ञानज्योति के स्मरणपूर्वक होता है।

मंगलाचरण के छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

संवरजयी मदमत्त आस्रवभाव का अपलाप कर।
व्यावृत्य हो पररूप से सद्बोध संवर भास्कर।।
प्रगटा परम आनन्दमय निज आत्म के आधार से।
सद्ज्ञानमय उज्ज्वल धवल परिपूर्ण निजरसभार से।।१२५।।

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनंदति –

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा।।१८३।।

अनादि संसार से अपने विरोधी संवर को जीतने से अत्यन्त मदोन्मत्त आस्रवभाव का तिरस्कार कर नित्यविजय प्राप्त करनेवाले संवर को उत्पन्न करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान हो रही है। निजरस के भार से भरित वह चिन्मय उज्ज्वल ज्ञानज्योति परभावों से भिन्न अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चलता से प्रसारित हो रही है, स्फुरायमान हो रही है।

इस अज्ञानी आत्मा पर अनादिकाल से आस्रव ही छाया हुआ है, संवर तो आजतक प्रगट ही नहीं हुआ। अपने जन्मजात विरोधी संवर को प्रगट नहीं होने देने के कारण आस्रवरूपी योद्धा अत्यन्त मदोन्मत्त हो रहा था। ऐसे आस्रवरूपी योद्धा को जड़मूल से बर्बाद कर नित्यविजय प्राप्त करनेवाले संवर को उत्पन्न करनेवाली ज्ञानज्योति के ही गीत यहाँ गाये गये हैं।

यहाँ 'नित्यविजय' शब्द का प्रयोग किया है; जिसका तात्पर्य यह है कि जिस मिथ्यात्वरूप आस्रवभाव का अभाव करता हुआ जो संवरभाव प्रगट हुआ है; उस संवरभाव का अब कभी भी अभाव नहीं होगा और उस मिथ्यात्वरूप आस्रवभाव का अब कभी भी उदय नहीं होगा।

निष्कर्ष यह है कि यह क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात है या फिर जिस औपशमिक सम्यग्दर्शन से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर नियम से क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है – उसकी बात है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मंगलाचरण के इस कलश में उस ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है कि जिसने अनादिकाल से संवर का उद्भव न होने देनेवाले आस्रवभाव का पराभव करके संवर का ऐसा उदय किया है कि जो कभी भी अस्त नहीं होगा।

अब इस संवर अधिकार की मूल गाथायें आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उत्थानिका में लिखते हैं कि अब कुन्दकुन्दाचार्यदेव **सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसका अभिनन्दन करते हैं**। उन मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना।
बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना।।१८१।।
अष्टविध द्रवकर्म में नोकर्म में उपयोग ना।
इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना।।१८२।।
विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आतमा।।१८३।।

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ।।१८१।।
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति।।१८२।।
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ।।१८३।।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेय-संबंधोऽपि नास्त्येव। ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते।

तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः।

उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में क्रोध नहीं है।

इसीप्रकार आठ प्रकार के कर्मों में और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म व नोकर्म नहीं हैं।

जब जीव को इसप्रकार का अविपरीत ज्ञान होता है, तब यह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।

इन गाथाओं में क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से उपयोग स्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न बताया गया है और कहा गया है कि उपयोग स्वरूप भगवान आत्मा एकमात्र उपयोग का ही कर्ता-भोक्ता है। वह इन भावकर्मों, द्रव्यकर्मों और नोकर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं। इसप्रकार का भेदज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उपाय है, कर्मबंध का निरोधक है।

ये गाथायें ही वे महत्त्वपूर्ण बहुचर्चित गाथायें हैं, जिनकी आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उपयोगस्वरूप ज्ञान एवं क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा शरीरादि नोकर्मों के बीच प्रदेशभेद की चर्चा करते हैं।

इन गाथाओं का मर्म आत्मख्याति में इसप्रकार उद्घाटित किया गया है –

''वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है; क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं; इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है। जब एक वस्तु की दूसरी वस्तु है ही नहीं; तब उनमें परस्पर आधार-आधेय संबंध भी हो ही नहीं सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहने रूप) ही आधार-आधेय संबंध होता है।

जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित वह ज्ञान, ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण क्रोधादि क्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित वे क्रोधादि क्रोधादिक में ही हैं।

न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति, परस्परमत्यंतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्।

न च यथा ज्ञानस्य जानत्ता स्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादि स्वरूपं तथा जानत्तापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम्।

किंच यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति।

एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है; इसलिए ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है; क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान, ज्ञान में ही है।

इसीप्रकार क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं – इसको भी घटित कर लेना चाहिए।

क्रोधादि भावकर्मों में, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों में और शरीरादि नोकर्मों में ज्ञान नहीं है; क्योंकि ज्ञान में और उनमें परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता होने से ज्ञान में और उनमें परस्पर आधार-आधेय संबंध नहीं है।

जिसप्रकार ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, उसीप्रकार क्रोधादिक्रिया भी ज्ञान का स्वरूप हो; अथवा जिसप्रकार क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादिक्रिया है, उसीप्रकार जाननक्रिया भी हो – ऐसा किसी भी विधि से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं। इसप्रकार स्वभावों के भिन्न-भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न ही हैं। इसप्रकार ज्ञान और अज्ञान (क्रोधादि) में आधार-आधेयत्व नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जब एक आकाश को ही अपनी बुद्धि में स्थापित करके उसके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाता है तो आकाश को अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध होने से, आकाश को अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य होने से बुद्धि में अन्य आधार की अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती; इसकारण यह भलीभाँति समझ लिया जाता है कि एक आकाश ही आकाश में प्रतिष्ठित है। ऐसा समझ लेने पर आकाश का पर के साथ आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता।

इसीप्रकार जब एक ज्ञान को ही अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाये तो ज्ञान को अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध होने से, ज्ञान को अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य होने से बुद्धि में अन्य आधार की अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती; इसकारण यह भलीभाँति समझ लिया जाता है कि एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित है। ऐसा समझ लेने पर ज्ञान का पर के साथ आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता।

ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम्।

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः।।१२६।।

इसलिए ज्ञान, ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं। इसप्रकार ज्ञान और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म में भेदविज्ञान भली-भाँति सिद्ध हुआ।''

उक्त सम्पूर्ण कथन पर ध्यान देने पर एक बात स्पष्ट ही भासित होती है कि इन गाथाओं में उन्हीं बातों को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है, जिनकी चर्चा आचार्यदेव आरंभ से करते आ रहे हैं।

आत्मा से भिन्न जिन वस्तुओं को जीवाजीवाधिकार में २९ भेदों में विभाजित किया था; यहाँ उन सभी को भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म में विभाजित करके भेदविज्ञान कराया गया है।

ज्ञानक्रिया को कर्ताकर्माधिकार में भी स्वभावभूत बताकर अनिषिद्ध बताया था और यहाँ भी जाननक्रिया को ज्ञान से अभिन्न ही बताया गया है।

इन गाथाओं की टीका में जो प्रदेशभेद की चर्चा है, वह भी इस सामान्य नियम के अंतर्गत ही है कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होती; क्योंकि दो वस्तुओं के बीच प्रदेशभेद होता है।

कर्म, नोकर्म और भावकर्म को उपयोगस्वरूप आत्मवस्तु से भिन्न सिद्ध करते हुए सामान्यरूप से ही प्रदेशभिन्नत्व का हेतु प्रस्तुत किया गया है।

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीका में - ज्ञानक्रिया से अभिन्न आत्मा और रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म के बीच सशक्त भेदविज्ञान कराकर अब भेदज्ञान से प्राप्त आत्मोपलब्धि प्राप्त होने पर मुदित होने की प्रेरणा आगामी कलश में देते हैं; जो इसप्रकार है-

(हरिगीत)

यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जड़रूप है।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है।।
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ।।१२६।।

अंतरंग में चैतन्यस्वरूप को धारण करनेवाले ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाले राग - इन दोनों के दारुणविदारण द्वारा अर्थात् भेद करने के उग्र अभ्यास के द्वारा सभी ओर से विभाग करके यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए अब हे सत्पुरुषो ! अन्य रागादि से रहित एक शुद्धविज्ञानघन के पुंज आत्मा में स्थित होकर मुदित होओ, प्रसन्न होओ।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति।

ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति। शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति।।१८१-१८३।।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत् -

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं।।१८४।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो।।१८५।।

इस कलश में यह बताया जा रहा है कि ज्ञान और राग में अत्यधिक अन्तर है; क्योंकि ज्ञान चैतन्यस्वरूप है और राग जड़रूप है। उक्त तथ्य का अन्तर में मंथन करने से, उग्र अभ्यास करने से ज्ञान और राग की भिन्नता भली-भाँति ख्याल में आ जाती है और दृष्टि राग पर से हटकर ज्ञानस्वभाव पर स्थिर हो जाती है। यही भेदविज्ञान है। इसके अभ्यास से ही आत्मा, आत्मा में स्थिर होकर अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है। सच्चा सुख प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

आत्मख्याति टीका में कलश लगभग सर्वत्र ही गद्य-टीका के बाद ही आते हैं; किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं कि जहाँ टीका के बीच में भी कलश आ गये हैं। यह कलश भी उन्हीं में से एक है, जो टीका के बीच में आया है।

इस कलश के बाद जो टीका आई है, उसका भाव इसप्रकार है -

''इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी रागादिरूप विपरीतता को प्राप्त न कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब ज्ञान शुद्धोपयोगमयात्मकता के द्वारा ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी मोह-राग-द्वेषरूप भाव को नहीं करता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव का अभाव है लक्षण जिसका, ऐसा संवर होता है।''

टीका के इस अंश में मात्र यही कहा गया है कि स्वभाव और विभाव के बीच हुए भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है, आत्मानुभूति होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से, आत्मानुभूति से आस्रव का निरोध है लक्षण जिसका, ऐसा संवर होता है। अतः यह सहज ही सिद्ध हुआ कि संवर का मूलकारण भेदविज्ञान ही है।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) किसप्रकार होती है ? इसका उत्तर इन गाथाओं में दिया जा रहा है; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम्।।१८४।।
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम्।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन्।।१८५।।

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति। यथा प्रचंड-पावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वम-पोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्; तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात्।

न चास्ति वस्तूच्छेदः, सतो नाशासंभवात्। एवं जानंश्च कर्माकांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति, किंतु शुद्धमात्मानमेवोपलभते।

यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कार-मात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च, न जातु शुद्धमात्मानमुप-लभते। ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः।।१८४-१८५।।

(हरिगीत)

ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे।।१८४।।
जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो।
वे आतमा जानें न मानें राग को ही आतमा।।१८५।।

जिसप्रकार सुवर्ण अग्नि से तप्त होता हुआ भी अपने सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार ज्ञानी कर्मोदय से तप्त होता हुआ भी ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता - ज्ञानी ऐसा जानता है और अज्ञानी अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने से आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसे उपर्युक्त भेदविज्ञान है, वह उस भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है कि जिसप्रकार प्रचण्ड अग्नि से तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार प्रचण्ड कर्मोदय से घिरा हुआ होने पर भी ज्ञानी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता; क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है। स्वभाव को छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा।

चूँकि वस्तु का नाश होता नहीं; क्योंकि सत् का नाश होना असंभव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रान्त होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता और मोही नहीं होता; अपितु वह शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है।

जिसे उपर्युक्त भेदविज्ञान नहीं है; वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने से चैतन्यचमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है और मोही होता है; किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।''

इस टीका में आचार्य अमृतचन्द्र हमारा ध्यान इस महासत्य की ओर आकर्षित कर रहे हैं कि हजारों कारणों के एकत्रित हो जाने पर भी स्वभाव का नाश नहीं होता।

यहाँ हजारों का आशय हजारों ही नहीं है; अपितु लाखों, करोड़ों, असंख्य, अनन्त है; क्योंकि ऐसा नहीं है कि हजारों कारण मिलने पर तो वस्तु अपने स्वभाव को न छोड़े; किन्तु यदि लाखों कारण मिल जायें तो छोड़ दे।

अरे भाई ! वस्तु अपने स्वभाव को अनन्तों कारण मिलने पर भी नहीं छोड़ती – यहाँ यह बताना ही अभीष्ट है। अत: हजारों का अर्थ मात्र हजारों ही नहीं लेना; अपितु अनन्त लेना। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति में वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती।

दूसरी बात यह है कि यहाँ द्रव्यस्वभाव की बात नहीं है, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित पर्याय की बात है। जिसको भेदविज्ञान हो गया, जिसने अपने आत्मा को पर-पदार्थों और रागादि विकारी भावों से भिन्न जान लिया; जिसने क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से भिन्न और जाननक्रिया से अभिन्न अपने आत्मा को जान लिया, मान लिया; उस ज्ञानी आत्मा की बात यहाँ है।

यहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा की नहीं; अपितु सम्यग्ज्ञानरूप परिणत आत्मा की बात है। ज्ञानी माने ज्ञानस्वभावी नहीं; अपितु ज्ञानी माने सम्यग्ज्ञानपरिणति से परिणत ज्ञानी – यह बात है यहाँ।

'हजारों कारण मिलने पर भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ता' का आशय यह है कि वह पर को निज जानने-माननेरूप परिणमित नहीं होता। इसीप्रकार 'वह रागी, द्वेषी और मोही नहीं होता' का आशय भी यह है कि वह अनन्तानुबंधी राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता, पर को निज माननेरूप मिथ्यात्व नामक मोहरूप परिणमित नहीं होता।

यह बात चौथे गुणस्थानवाले ज्ञानी की अपेक्षा है। यदि हम पंचम गुणस्थानवाले ज्ञानी की अपेक्षा बात करें तो फिर वे अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण राग-द्वेषरूप और मिथ्यात्वरूप परिणत नहीं होते – ऐसा अर्थ करना होगा।

इसीप्रकार छठे-सातवें गुणस्थानवाले मुनिराजों की अपेक्षा बात करें तो फिर वे अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण राग-द्वेषरूप और मिथ्यात्वरूप परिणमित नहीं होते – ऐसा अर्थ करना होगा और यदि केवलज्ञानी की बात करें तो फिर यह कहा जा सकता है कि वे किसी भी प्रकार के राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित नहीं होते।

ज्ञानी जीव जिस भूमिका में हो, उसे उस भूमिका में नहीं होनेवाले राग-द्वेष-मोह नहीं होते – यह अर्थ करना ही यहाँ शास्त्रसम्मत और युक्तिसंगत है।

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात एकदम स्पष्ट है कि भूमिका के योग्य चारित्रमोह संबंधी राग-द्वेष होने पर भी भूमिका के अयोग्य राग-द्वेष नहीं होते – इसी बात को यहाँ ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह नहीं होते – इस भाषा में व्यक्त किया जाता है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत् –

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।१८६।।

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते।।१८६।।

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति; यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति। अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः।।१८६।।

की उपलब्धि से संवर होता है। १८४-१८५वीं गाथाओं में इस बात को समझाया गया है कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि किसप्रकार होती है और अब इस १८६वीं गाथा में यह समझाया जा रहा है कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर किसप्रकार होता है। यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जिस भाषा में प्रस्तुत करते हैं; उसका भाव इसप्रकार है –

शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर किसप्रकार होता है ? – यदि ऐसा पूछे तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि –

(हरिगीत)

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो।
जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो।।१८६।।

शुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो अविछिन्नधारावाही ज्ञान से सदा शुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह 'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है' – इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध होने से शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और जो अज्ञान से सदा ही अशुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह 'अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होता है' – इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत मोह-राग-द्वेष की संतति का निरोध न होने से अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) से ही संवर होता है।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि जो जीव अपने आत्मा को परपदार्थों और उनके लक्ष्य से होनेवाले रागादि से भिन्न अनुभव करते हैं, उसे निज जानते-मानते हैं; उसी में अपनापन स्थापित कर जहाँ तक संभव हो, उसी में रमण करते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं; वे जीव स्वयं

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदय–मुदय–दात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।।

शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणमित हो जाते हैं, अनन्तसुखी हो जाते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु जो जीव आत्मा को अशुद्ध अनुभव करते हैं, उसे रागी–द्वेषी–मोही मानते हैं, जानते हैं; गोरा–भूरा मानते हैं, जानते हैं; वे जीव अशुद्धता को प्राप्त होते हैं, राग–द्वेष–मोहरूप परिणमित होते रहते हैं।

अतः आत्मार्थी भाई–बहिनों का यह परम कर्तव्य है कि वे अपने आत्मा को सही रूप में, शुद्धरूप में जानें–पहिचानें, उसी में अपनापन स्थापित करें, जिससे शुद्धात्मा को प्राप्त कर शुद्धतारूप परिणमित होकर अनन्त सुख–शान्ति प्राप्त कर सकें।

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धाराप्रवाह से।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धातम को।।
और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे।
पर परिणति को त्याग निरंतर शुध हो जावे।।१२७।।

यदि किसी भी प्रकार से अर्थात् काललब्धि आने पर तीव्र पुरुषार्थ करके धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा परपरिणति के निरोध होने से नित्य वृद्धिंगत आनन्दवाले आत्मा को शुद्ध ही प्राप्त करता है।

इस कलश में आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि निरंतर धारावाहिकरूप से प्रवर्तित ज्ञान ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय है। देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र पुरुषार्थ ज्ञान की यह धारावाहिक प्रवृत्ति ही है।

सर्वप्रथम जब यह आत्मा देव–शास्त्र–गुरु के माध्यम से देशनालब्धि को प्राप्त होता है; उनकी वाणी में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को विशेषकर आत्मवस्तु को विकल्पात्मक ज्ञान में समझपूर्वक सम्यक्निर्णय करता है और अपने ज्ञानोपयोग को उसी में लगाता है; तब इसी पुरुषार्थ के बल से काललब्धि आने पर प्रायोग्यलब्धि से गुजरता हुआ करणलब्धि को प्राप्त होता है, तदुपरांत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है, सम्यक्त्वाचरणचारित्ररूप परिणमित होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पूर्व जो धारावाहिकज्ञान देशनाधारित था, आगमानुसार था, विकल्पात्मक था; सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद वह अनुभवजन्य हो जाता है, साक्षात् हो जाता है, प्रत्यक्ष हो जाता है, सम्यक् हो जाता है। यह सम्यग्ज्ञान आगे धारावाहीरूप से विद्यमान रहता है तो चारित्रमोह को

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत् –

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयो:।
दर्शनज्ञाने स्थित: इच्छाविरतश्चान्यस्मिन्।।१८७।।

शिथिल करता हुआ आगे बढ़ता है और नित्य वृद्धिंगत यह धारावाही ज्ञान ही एक दिन केवलज्ञान के रूप में परिणमित हो जाता है।

अत: यह कहना अनुचित नहीं है कि देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ ज्ञान की यह धारावाहिकता ही है। सम्यग्दर्शन के पूर्व यह धारा देशनाधारित होती है और सम्यग्दर्शन के बाद आत्मानुभवाधारित हो जाती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद की यह ज्ञानधारा लब्धिरूप भी हो सकती है और उपयोगरूप भी। लब्धिरूप ज्ञानधारा तो सम्यग्दर्शन होने के बाद अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से आगे जबतक क्षायोपशमिकज्ञान है, तबतक निरंतर ही बनी रहती है और उसके बल से साधक आत्मा निरंतर आगे बढ़ता रहता है; किन्तु उपयोगरूप ज्ञानधारा नीचे के गुणस्थानों में भूमिकानुसार कभी-कभी ही होती है और उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में निरंतर बनी रहती है।

यदि हम गहराई से ध्यान दें तो इस कलश में आत्मा से परमात्मा बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी गई है। इस एक ही कलश में – छन्द में आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास सम्पूर्णत: दर्शा दिया गया है।

यदि अति संक्षेप में कहें तो हम कह सकते हैं कि परभावों से भिन्न निजस्वभाव को जानना और उसी में जम जाना, रम जाना ही धर्म है, संवर है, निर्जरा है और मोक्ष भी यही है।

विगत गाथा में कहा था कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है और अब इन गाथाओं की उत्थानिका में कहा जा रहा है कि **संवर किसप्रकार होता है ?**

इस प्रश्न का उत्तर देनेवाली गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पुण्य एवं पाप से निज आतमा को रोककर।
अन्य आशा से विरत हो ज्ञान-दर्शन में रहें।।१८७।।

यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वम्।।१८८।।
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम्।।१८९।।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढतरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्ध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं

विरहित करम नोकरम से निज आत्म के एकत्व को।
निज आतमा को स्वयं ध्यावें सर्व संग विमुक्त हो।।१८८।।
ज्ञान-दर्शन मय निजातम को सदा जो ध्यावते।
अत्यल्पकाल स्वकाल में वे सर्व कर्म विमुक्त हों।।१८९।।

आत्मा को आत्मा के ही द्वारा पुण्य-पाप इन दोनों योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुओं की इच्छा से विरत होता हुआ जो आत्मा सर्वसंग से रहित होता हुआ, अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता एवं स्वयं चेतयितापन होने से एकत्व का चिन्तवन करता है, अनुभव करता है; वह आत्मा, आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और आनन्दमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जो आत्मा स्वयं के ही पुरुषार्थ से अपने उपयोग को पुण्य-पाप भावों और उनके फल से विरत कर ज्ञानदर्शनस्वभावी अपने आत्मा में लगाता है, अपने आत्मा को ही ध्याता है, उसमें ही अपनापन स्थापित करता है; मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से एकत्व-ममत्व तोड़कर उनसे विरत होता है; वह आत्मा अल्पकाल में ही आतमा को ध्याता हुआ सर्वकर्मों से रहित आत्मा को पाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''राग-द्वेष-मोहमूलक शुभाशुभयोग में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा को आत्मा के ही द्वारा रोककर स्वयं को शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भली-भाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्वसंग रहित होकर निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्म का किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्मा को ही अपने आत्मा द्वारा ध्याता हुआ, स्वयं सहज चेतयितापन होने से स्वयं के एकत्व को ही चेतता है, अनुभव करता है, ज्ञान चेतनारूप ही रहता है; वह जीव वास्तव में एकत्व में किये गये संचेतन के द्वारा, एकत्व के अनुभवन के द्वारा, परद्रव्यों से अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कार

चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन्, शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः, शुद्धात्मोपलंभे सति समस्त-परद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन्, अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति।

एष संवरप्रकारः ।।१८७-१८९।।

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ।।१२८।।

मात्र निज आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ, अल्पकाल में ही सर्वकर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है - यह संवर का प्रकार है, संवर करने की विधि है।''

संवर होने की इस रीति में भी यही बताया गया है कि पहले भेदविज्ञान द्वारा पर-पदार्थों और विकारीभावों से भिन्न अपने आत्मा को जाने, उसमें ही अपनापन स्थापित करे और फिर भेदाभ्यास के द्वारा अपने आत्मा में ही स्थिर हो जाये। कर्मों से मुक्त होने का एकमात्र यही उपाय है।

अब इसी भाव को पुष्ट करनेवाला कलश काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे।।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके।
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे।।१२८।।

जो भेदज्ञान की शक्ति से अपनी महिमा में लीन रहते हैं; उन्हें नियम से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होती है। शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर अचलितरूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर रहनेवाले जीवों के कर्मों का अक्षय नाश होता है। तात्पर्य यह है कि उन्हें पुनः कर्मबंध नहीं होता।

इस कलश में यह कहा जा रहा है कि भेदविज्ञान के बल से आत्मा को प्राप्त करनेवाले आत्मा की महिमा में लीन पुरुषों के कर्मों का ऐसा नाश होता है कि वे दोबारा बंधन को प्राप्त नहीं होते। यथापदवी कर्मों का न बँधना ही संवर है। इसप्रकार उन जीवों को संवरपूर्वक मोक्ष हो जाता है।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में ऐसी दो गाथायें हैं, जो आत्मख्याति में नहीं हैं। वे गाथायें इसप्रकार हैं -

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।।
को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं।।

(हरिगीत)

हो ज्ञान परोक्ष पदार्थ का बस जिसतरह उपदेश से।
बस उसतरह ही जीव को भी जानते उपदेश से।।
परोक्षज्ञानी कौन बुध ऐसा कहे नादान सम।
मैं आतमा को जानता हूँ केवली भगवान सम।।

जिसप्रकार किसी परोक्ष पदार्थ को उपदेश से सुनकर या देखकर (पढ़कर) जाना जाता है; उसीप्रकार जीव को भी उपदेश से सुनकर या देखकर (शास्त्रों से पढ़कर) ग्रहण किया जाता है। इसी को 'आत्मा को देखा – आत्मा को जाना' – ऐसा कहा जाता है।

वर्तमानकाल में परोक्षज्ञान में प्रवर्तित होने पर भी कौन बुद्धिमान साधु यह कहेगा कि मैंने आत्मा को केवली भगवान के समान प्रत्यक्ष जान लिया है?

तात्पर्य यह है कि मति–श्रुत ज्ञान के परोक्ष होने से पंचमकाल के मति–श्रुतज्ञानधारी मुनिराज ऐसा कैसे कह सकते हैं कि उन्होंने आत्मा को केवली भगवान के समान प्रत्यक्ष जान लिया है।

मति–श्रुतज्ञान में आत्मा को जानने की प्रक्रिया यह है कि सबसे पहले देशनालब्धि के माध्यम से आत्मा जाना जाता है, गुरुमुख से सुनकर या परमागम को पढ़कर आत्मा का स्वरूप समझा जाता है। उसके बाद अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। यह अनुभव प्रत्यक्ष केवली भगवान के समान प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि मति–श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं और यह अनुभव भी मति–श्रुतज्ञान में ही हुआ है। जिसप्रकार केवलज्ञान में आत्मप्रदेशों का साक्षात्कार होता है, उसप्रकार अनुभवज्ञान में आत्मप्रदेशों का साक्षात्कार नहीं होता।

आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अनन्तगुणवाला है; मति–श्रुतज्ञान में यह तो गुरु के उपदेश या फिर शास्त्रों को पढ़कर ही जाना जाता है। अनुभवप्रत्यक्ष में आत्मानंद का निर्विकल्प वेदन ही होता है, अनन्तगुण या असंख्यप्रदेश गिनने में नहीं आते। इसीकारण मति–श्रुतज्ञानवाले ज्ञानियों का आत्मा को जानना अनुभवप्रत्यक्ष कहा जाता है।

आत्माश्रित होने से और आनन्द का निर्विकल्प विशद (निर्मल) वेदन होने से इसे अनुभवप्रत्यक्ष कहा जाता है; किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा अविशद (अनिर्मल) होने से परोक्ष भी कहा जाता है। दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ समझना ही समझदारी है।

इन गाथाओं में से दूसरी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन **'किंच विस्तरः'** लिखकर जो बात लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है –

''यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा रागादिविकल्परहित भावश्रुतज्ञान को शुद्धनिश्चयनय से परोक्ष कहा जाता है; तथापि इन्द्रियमनोजनित सविकल्पज्ञान की अपेक्षा उसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि चतुर्थकाल में केवली भगवान क्या आत्मा को हाथ में ग्रहण करके दिखाते हैं? वे भी दिव्यध्वनि के द्वारा कहकर ही जाते हैं। दिव्यध्वनि सुनने के काल में श्रोताओं

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत् –

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य।।१९०।।

को आत्मा परोक्ष ही होता है; किन्तु बाद में परमसमाधि के काल में प्रत्यक्ष होता है। इसीप्रकार वर्तमानकाल में भी समझना चाहिए।

इसप्रकार 'परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे करें' – इस शंका के समाधान के रूप में ये दो गाथायें लिखी गई हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन पर गहरी दृष्टि डालने पर शंका का समाधान सहज ही हो जाता है कि अनुभूति में आत्मा प्रत्यक्ष है या परोक्ष ? अथवा यों कहिए कि अनुभूति में आत्मा को प्रत्यक्ष या परोक्ष कहने की अपेक्षायें भली-भाँति ख्याल में आ जाती हैं।

देखो, यहाँ आचार्यदेव प्रेरणा दे रहे हैं कि भगवान के समवशरण में भी तो आत्मा की बात सुनने को ही मिलती है; यदि तुम्हें यहाँ भी वही आत्मा की बात उसी रूप में सुनने को मिल रही है तो फिर तुम आत्मकल्याण में प्रवृत्त क्यों नहीं होते ?

'यह तो पंचमकाल है, भगवान का सत्समागम नहीं है; ऐसी स्थिति में धर्म कैसे किया जा सकता है' – पुरुषार्थहीनता की ऐसी बातें करने से क्या लाभ है ? अरे भाई ! आत्मा का अनुभव तो तुझे ही करना है; ज्ञानीजन तो मात्र समझा ही सकते हैं।'

अरहंत भगवान भी समवशरण में दिव्यध्वनि के माध्यम से मात्र समझाते ही हैं। समवशरण में भी देशना ही प्राप्त होती है और देशना तो यहाँ भी मिल रही है, अभी भी मिल रही है। हमें उसका लाभ लेकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

ध्यान रहे, यहाँ ज्ञानी की वाणी की तुलना अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि से करके भगवान की महिमा घटाई नहीं जा रही है; अपितु यह कहा जा रहा है कि ज्ञानियों के वचन भी तो उसी दिव्यध्वनि का अनुसरण करते हैं।

यद्यपि दुर्भाग्य से अभी हमें अरहंत भगवान का सत्समागम प्राप्त नहीं है; तथापि हमारा इतना सद्भाग्योदय अभी भी है कि हमें उनकी वाणी प्राप्त है, जिनवाणी प्राप्त है; उसके प्रतिपादक प्रवक्ता भी उपलब्ध हैं। अत: हमें उनका लाभ लेकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना ही चाहिए।

इसप्रकार आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में विशेषरूप से समागत इन दो गाथाओं में यह बताया गया है कि आत्मा पहले गुरूपदेश से सुनकर या परमागम में पढ़कर परोक्षरूप से जाना जाता है और फिर अनुभूति में प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है।

यद्यपि यह अनुभव केवलज्ञान के समान प्रत्यक्ष तो नहीं है; तथापि स्वानुभवप्रत्यक्ष तो है ही।

संवर की विधि बताने के बाद अब आगामी गाथाओं में **संवर होने का क्रम बताते हैं।**

संवर का क्रम बतानेवाली गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ।।१९१।।
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ।।१९२।।

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ।।१९०।।
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ।।१९१।।
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ।।१९२।।

(हरिगीत)

बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही।
मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरत-भाव एवं योग भी ।।१९०।।
इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के।
अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है ।।१९१।।
कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो।
नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो ।।१९२ ।।

पूर्वकथित मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभावों के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग – ये चार अध्यवसान हैं – ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है।

हेतुओं का अभाव होने से ज्ञानियों के नियम से आस्रवभावों का निरोध होता है और आस्रवभावों के अभाव से कर्मों का भी निरोध होता है।

कर्म के निरोध से नोकर्मों का निरोध होता है और नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध होता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग – ये चार अध्यवसान मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों के हेतु हैं। चूँकि ये अध्यवसान ज्ञानियों के होते नहीं; इसकारण ज्ञानियों के रागादिभावरूप आस्रवभावों का निरोध होता है। रागादिरूप भावास्रवों के निरोध से कर्मरूप द्रव्यास्रवों का निरोध हो जाता है। जब द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं होते तो फिर शरीरादि नोकर्म कैसे रह सकते हैं ? जब शरीरादि का संयोग ही नहीं रहा तो संसार का भी अभाव हो जाता है।

आस्रवों के निरोध का यही क्रम है। आस्रवों का निरोध ही संवर है। इसप्रकार संवर संसार के अभाव का कारण है, मोक्ष का कारण है।

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः। कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः इति। ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति। ततो नोकर्म भवति। ततः संसारः प्रभवति।

यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावे भवति कर्माभावः। तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः। तदभावेऽपि भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः।।१९०-१९२।।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्रथम तो इस जीव के विद्यमान आत्मा और कर्म के एकत्वमूलक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ही मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव के कारण हैं; आस्रवभाव कर्म का कारण है; कर्म नोकर्म का कारण है और नोकर्म संसार का कारण है।

इसकारण यह आत्मा सदा ही आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से आत्मा को मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगमय मानता है अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है। इसलिए मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव को भाता है; उससे कर्मास्रव होता है, कर्मास्रव से नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार उत्पन्न होता है।

किन्तु जब यह आत्मा, आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है, आत्मा का अनुभव करता है; तब आस्रवभाव के कारणभूत मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान का अभाव होता है; अध्यवसान के अभाव होने पर मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों का अभाव होता है; आस्रवभावों का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है; कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इसप्रकार यह संवर का क्रम है।''

मूल गाथाओं और उनकी इस टीका में मात्र इतना ही अन्तर है कि गाथाओं में तो अकेले आस्रव के निरोध का ही क्रम बताया था; पर टीका में आस्रव का भी क्रम बता दिया गया है।

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में आत्मख्याति का ही अनुसरण करते हैं; तथापि उन्होंने कुछ नया प्रमेय भी प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है –

''शंका – अध्यवसान तो भावकर्मरूप होते हैं, वे तो जीवगत ही होते हैं। उन्हें आप यहाँ उदयप्राप्त पुद्गल द्रव्यप्रत्ययगत क्यों बता रहे हैं ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि भावकर्म दो प्रकार के होते हैं – जीवगत भावकर्म और पुद्गलकर्मगत भावकर्म।

(उपजाति)

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।१२९।।

भावक्रोधादि जीवरूप को जीवभावगत भावकर्म कहते हैं और पुद्गलपिण्डशक्तिरूप को पुद्गलद्रव्यगतभावकर्म कहते हैं। कहा भी है –

पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादि भावदव्वंत तु – इसे जीवभावगत कहते हैं और पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मंतु – इसे पुद्गलद्रव्यगत कहते हैं।

उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि मधुर या कड़वे को खाते समय उसके मधुर या कड़वे स्वाद को चखने रूप जो जीव का विकल्प होता है, उसे जीव भावगत कहते हैं और उसकी अभिव्यक्ति के कारणभूत मधुर या कड़वे पदार्थ में रहनेवाले शक्ति के अंशविशेष को पुद्गलगत कहते हैं।

इसप्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत दो प्रकार का है – ऐसा भावकर्म के व्याख्यान के समय सर्वत्र समझना चाहिए।''

अब भेदविज्ञान की महिमा का निरूपक संवराधिकार समाप्त हो रहा है। अत: अब भेदविज्ञान की भावना भाने की प्रेरणा देने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र तीन कलश काव्य लिखते हैं और उसके बाद अधिकार की समाप्ति पर जिसप्रकार प्रत्येक अधिकार के आदि व अन्त में ज्ञानज्योति का स्मरण करते आ रहे हैं; उसीप्रकार इस अधिकार के अंत में भी ज्ञानज्योति का स्मरण करेंगे।

उक्त कलशों में से भेदविज्ञान की भावना भाने की प्रेरणा देनेवाले प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से।
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता।।
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना।
अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की।।१२९।।

वस्तुत: बात यह है कि इस संवर का साक्षात्कार अथवा साक्षात् संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही होता है और शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि एकमात्र भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

यह अत्यन्त सरल, सहज एवं प्रेरक छन्द है। इसमें दो टूक शब्दों में यह कहा गया है कि भवदु:खों से छूटने रूप संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही होता; धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य क्रियाकाण्डों या शुभभावरूप व्यवहारधर्म से नहीं होता। शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भी बाह्यक्रियाकाण्डों या दया, दानादि के शुभभावों से नहीं होती। शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि एकमात्र भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए भेदविज्ञान की भावना ही निरन्तर भाने योग्य है।

(अनुष्टुभ्)

भावयेद्भेद–विज्ञान–मिदमच्छिन्न–धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।।१३०।।
भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।१३१।।

'भेदविज्ञान कब तक भाना चाहिए' – इस बात को बतानेवाले कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(रोला)

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना।।
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में।
ही थिर ना हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ।।१३०।।

यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारा से, अखण्डरूप से तबतक भाना चाहिए; जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान (आत्मा) में ही प्रतिष्ठित न हो जाये।

इस कलश में यह कहा गया है कि भेदविज्ञान की भावना तबतक भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जाये।

ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित दो प्रकार से होता है –

१. मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न हो।

२. जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर विकाररूप परिणमित न हो।

जबतक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये; तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।

भेदविज्ञान की अकाट्य महिमा प्रदर्शित करनेवाले कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।।
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं।।१३१।।

आजतक जो कोई भी सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

भेदविज्ञान की महिमा इससे अधिक और क्या बताई जा सकती है कि आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बँधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दु:ख उठा रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही उठा रहे हैं।

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा–
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परममम्लालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्।।१३२।।

इति संवरो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽङ्कः।

संवराधिकार की समाप्ति पर आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र अन्तमंगल के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण इसप्रकार करते हैं –

(रोला)

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो।।
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे।।१३२।।

भेदविज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हुई; शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह प्रलय हुआ, रागसमूह के विलय करने से कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से ज्ञान में ही निश्चल हुआ ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ। निर्मल प्रकाश और शाश्वत उद्योतवाला वह एक अम्लान ज्ञान परमसन्तोष को धारण करता है।

इस कलश में यह बताया गया है कि भेदविज्ञान के बल से संवरपूर्वक परमसन्तोष को धारण करनेवाला निर्मल शाश्वत ज्ञान प्रगट होता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि भेदविज्ञान से ही आस्रवों का अभाव होकर संवर प्रगट होता है, परिपूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द भी प्राप्त होता है।

इसप्रकार संवर रंगभूमि से बाहर निकल गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में संवर का प्ररूपक पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ।

●●●

निर्जराधिकार

अथ प्रविशति निर्जरा।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ।।१३३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

शुद्धातम में रत रहो, यही श्रेष्ठ आचार।
शुद्धातम की साधना, कही निर्जरा सार।।

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया और अब निर्जराधिकार में संवरदशा को प्राप्त सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, आत्मा की आराधना करके विकारी भावों रूप भावकर्मों एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की निर्जरा कैसे करता है – यह बताते हैं।

वास्तविक निर्जरा तो निजात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि की वृद्धि ही है; किन्तु उसके निमित्त से जो सत्ता में विद्यमान कर्मों का अभाव होता है, उसे भी निर्जरा कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों के दोनों प्रकार की निर्जरा निरंतर होती ही रहती है।

धर्म की उत्पत्ति संवर, धर्म की वृद्धि निर्जरा और धर्म की पूर्णता मोक्ष है। आत्मशुद्धि ही धर्म है; अतः इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि निज भगवान आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक होनेवाले आत्मध्यान से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह संवर है; उसी आत्मध्यान से उक्त शुद्धता में जो वृद्धि होती है, वह निर्जरा है और उसी विधि से पूर्ण शुद्धता का प्रगट हो जाना मोक्ष है।

इस अधिकार की आत्मख्याति टीका का आरंभ आचार्य अमृतचन्द्र इस नाटक समयसार के रंगमंच पर **अब निर्जरा प्रवेश करती है'** – इस वाक्य से करते हैं।

अधिकार के आरंभ में मंगलाचरण के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आगामि बंधन रोकने संवर सजग सन्नद्ध हो।
रागादि के अवरोध से जब कमर कस के खड़ा हो।।
अर पूर्वबद्ध करम दहन को निरजरा तैयार हो।
तब ज्ञानज्योति यह अरे नित ही अमूर्छित क्यों न हो।।१३३।।

परमसंवर रागादि आस्रवभावों के रोकने से अपनी कार्यधुरा को धारण करके समस्त आगामी कर्मों को परिपूर्ण दूरी से ही रोके खड़ा है और अब पूर्वबद्ध कर्मों को जलाने के लिए निर्जरारूपी

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्।।१९३।।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव। रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात्। स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्।

एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम्।।१९३।।

अग्नि फैल रही है। इसकारण निरावरण होती हुई ज्ञानज्योति फिर कभी भी रागादि भावों के द्वारा मूर्छित नहीं होगी, सदा अमूर्छित ही रहेगी।

इस कलश में यह बताया गया है कि आगामी कर्मों को तो संवर ने रोक दिया और पूर्वबद्धकर्मों को निर्जरा निर्मूल कर रही है। इसप्रकार समस्त कर्मों का अभाव हो जाने से ज्ञानज्योति ऐसी प्रकाशित हो रही है कि वह फिर कभी भी मूर्छित नहीं होगी, सदा जाग्रत ही रहेगी।

देखो, यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि संवर अपनी कार्यधुरा को पूरी तरह सँभाल कर खड़ा है। तात्पर्य यह है कि संवर अपना कार्य करने के लिए कमर कस कर तैयार है। संवर का कार्य आगामी कर्मों को बँधने से रोकना है। संवर अपने इस कार्य को सँभल कर सम्पन्न कर रहा है। इसीप्रकार निर्जरा भी पुराने कर्मों को काटने में जमकर लगी हुई है। इसप्रकार जब नये कर्म तो बँधेंगे नहीं और पुराने सब नष्ट हो जायेंगे तो मोक्ष होना निश्चित ही है। मोक्ष होने पर ज्ञानज्योति सदा अमूर्छित ही रहेगी; क्योंकि अब उसके मूर्छित होने का कोई कारण ही नहीं रहा।

इसप्रकार मंगलाचरण के इस कलश में यही कहा गया है कि संवर ने आगामी कर्मों के आस्रव (आने) को रोक दिया है और निर्जरा पुराने कर्मों को नष्ट कर रही है – इसकारण अब ज्ञानज्योति सदा ही अखण्डरूप से प्रकाशित रहेगी।

मंगलाचरण के कलश के उपरान्त अब निर्जराधिकार की मूल गाथायें आरंभ करते हैं। उसमें **सर्वप्रथम द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप बताते हैं –**

(हरिगीत)

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन।
जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है।।१९३।।

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सभी निर्जरा का निमित्त है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''विरागी का उपभोग निर्जरा के लिए ही है। यद्यपि रागादिभावों के सद्भाव से चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग मिथ्यादृष्टि के लिए बंध का निमित्त होता है; तथापि वही उपभोग रागादिभावों के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टियों के लिए निर्जरा का निमित्त होता है।

इसप्रकार यह द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।''

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति –

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि।।१९४।।

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति।।१९४।।

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो वा दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति।

स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्य-निर्जीर्णः सन् बंध एव स्यात्; सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीयमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जर एव स्यात्।।१९४।।

विगत गाथा में द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप स्पष्ट किया गया था और अब इस गाथा में **भावनिर्जरा का स्वरूप समझाते हैं।**

भावनिर्जरा का स्वरूप समझानेवाली उस गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

सुख–दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से।
अर भोगने के बाद सुख–दुख निर्जरा को प्राप्त हों।।१९४।।

परद्रव्य का उपभोग होने पर सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है। उदय को प्राप्त उन सुख–दुःखों का अनुभव होने के बाद वे सुख–दुःख निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''परद्रव्य भोगने में आने पर उसके निमित्त से जीव के सुखरूप या दुःखरूप भाव नियम से ही उदित होता है; क्योंकि वेदन साता और असाता – इन विकल्पों (प्रकारों) का अतिक्रम (उल्लंघन) नहीं करता।

उक्त सुखरूप या दुःखरूप भाव के वेदन होने पर मिथ्यादृष्टि को रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर वह भाव निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी वस्तुतः निर्जरित न होता हुआ बंध को ही प्राप्त होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादिभावों के अभाव से बंध का निमित्त हुए बिना मात्र निर्जरित होने से वस्तुतः निर्जरित होता हुआ निर्जरित ही होता है।''

इस गाथा और टीका में यह कहा जा रहा है कि चाहे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि – दोनों के ही परद्रव्य भोगने में आने पर सुख–दुःखरूप भाव तो होते ही हैं; क्योंकि इनके बिना वेदन संभव ही नहीं है; किन्तु भोग और वेदन समान होने पर भी सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि के बंध; क्योंकि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी संबंधी राग–द्वेष विद्यमान होने से वे भोग और वेदन बंध करके निर्जरित होते हैं; इसकारण उसके बंध ही है और सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी राग–द्वेष के अभाव से वे भोग और वेदन बिना बंध किये ही निर्जरित हो जाते हैं;

(अनुष्टुभ्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते।।१३४।।

अथ ज्ञानवैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति –

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भंजुदि णेव बज्झदे णाणी।।१९५।।
जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।।१९६।।

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी।।१९५।।
यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव।।१९६।।

अतः उसके निर्जरा ही है। इसप्रकार भोग और वेदन समान होने पर भी मिथ्यादृष्टि के बंध और सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है।

अब आगामी कलश में कहते हैं कि यह ज्ञान और वैराग्य की ही महिमा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से बँधता नहीं है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्ञानी बँधे ना कर्म से सब कर्म करते–भोगते।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये।।१३४।।

यह एकमात्र ज्ञान और वैराग्य की ही सामर्थ्य है कि ज्ञानी कर्मों को करते हुए और उनके फल को भोगते हुए भी कर्मों से बँधता नहीं है।

जिन ज्ञान और वैराग्य की चर्चा विगत कलश में की गई है; उन्हीं **ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य का स्वरूप** आगामी दो गाथाओं में सोदाहरण स्पष्ट किया जा रहा है।

ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य को बतानेवाली उन गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं जहर के उपभोग से।
त्यों ज्ञानिजन बँधते नहीं हैं कर्म के उपभोग से।।१९५।।
ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्त जन होते नहीं।
त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बँधते नहीं।।१९६।।

जिसप्रकार वैद्यपुरुष विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानीपुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बँधता नहीं है।

जिसप्रकार कोई पुरुष मदिरा को अरतिभाव (अप्रीति) से पीता हुआ मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग के प्रति अरत वर्तता हुआ बंध को प्राप्त नहीं होता।

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्ध-तच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुप-भुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी।

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुप-भुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी।।१९५-१९६।।

(रथोद्धता)

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः।।१३५।।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''जिसप्रकार कोई विषवैद्य दूसरों के मरण के कारणभूत विष को भोगता (खाता) हुआ भी अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से विष की शक्ति रुक गई होने से मरता नहीं है; उसीप्रकार अज्ञानियों को रागादिभावों के सद्भाव होने से बंध का कारण जो पुद्गल कर्म का उदय उसको भोगता हुआ भी ज्ञानी अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से कर्मोदय की शक्ति रुक गई होने से बंध को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव से प्रवर्तित कोई पुरुष मदिरा पीने पर भी उसके प्रति अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला (मदोन्मत्त) नहीं होता है; उसीप्रकार रागादिभावों के अभाव से सर्वद्रव्यों के उपभोग के प्रति तीव्र वैराग्यभाव से ज्ञानी विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण बंध को प्राप्त नहीं होता है।''

प्रश्न - मूल गाथाओं में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें साफ-साफ कहा गया है कि जिसप्रकार विष को खाते हुए भी वैद्य मरता नहीं है और अरतिभाव से मद्य (शराब) पीनेवाले को नशा नहीं चढ़ता; किन्तु यह बात एकदम अटपटी लगती है। अरे भाई ! जहर खाने पर वैद्य कैसे बच सकता है तथा अरतिभाव के कारण शराब का नशा भी कैसे नहीं होगा ? क्या जहर और शराब भी ऐसा पक्षपात कर सकते हैं कि वे किसी पर तो असर दिखायें और किसी पर नहीं ?

उत्तर - यह बात आचार्य अमृतचन्द्र के ध्यान में भी आई थी। यही कारण है कि उन्होंने आत्मख्याति टीका में स्पष्ट किया है कि **अमोघ विद्या की सामर्थ्य के कारण विषवैद्य नहीं मरता और शराब पीनेवाले के अरतिभाव के कारण नशा नहीं चढ़ता।**

इसप्रकार इन गाथाओं में सोदाहरण यह बात सिद्ध की गई है कि ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य के कारण भोगों को भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्मबंध नहीं होता।

अब आत्मख्याति में इसी भाव को पुष्ट करनेवाला एवं आगामी गाथा की सूचना देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

बँधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अर ज्ञान।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान।।१३५।।

अथैतदेव दर्शयति –

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि।।१९७।।

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति।।१९७।।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः, तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसंचितकर्मोदयसंपन्नान्

ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी, सेवक होने पर भी असेवक ही है; क्योंकि वह विषयों का सेवन करते हुए भी ज्ञान के वैभव और वैराग्य के बल से विषय सेवन के फल को नहीं भोगता और रंजित परिणाम को प्राप्त नहीं होता।

यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि विषय-सेवन का फल रंजित परिणाम है और ज्ञानी उस रंजित परिणाम को नहीं भोगते; इसकारण वे न तो कर्मों के कर्ता हैं और न भोक्ता। यही कारण है कि उन्हें भोगों को भोगते हुए भी बंध नहीं होता।

अब उक्त १३५ वें कलश में कही गई बात को इस १९७वीं गाथा के माध्यम से स्पष्ट करते हैं–

(हरिगीत)

ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बनें।
त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषय सेवक नहीं बनें।।१९७।।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के किसी प्रकरण की चेष्टा होने पर भी वह प्राकरणिक नहीं होता और चेष्टा से रहित व्यक्ति प्राकरणिक होता है; उसीप्रकार कोई व्यक्ति विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवक नहीं होता है और कोई व्यक्ति सेवन नहीं करता हुआ भी सेवक होता है।

इस गाथा में प्रकरणचेष्टा और प्राकरणिक – ये दो शब्द आये हैं। प्रकरणचेष्टा का अर्थ है – कोई कार्य और प्राकरणिक का अर्थ है – उस कार्य का कर्ता। मालिक की आज्ञा से उसके लाभ के लिए सेवक जो कार्य करता है; यद्यपि उस कार्य को करता हुआ तो सेवक ही दिखाई देता है; तथापि उसका असली कर्ता सेवक नहीं, मालिक ही होता है। सेवक कार्य करते हुए भी अकर्ता है और मालिक कार्य न करते हुए भी कर्ता है। इसप्रकार यहाँ वह कार्य प्रकरणचेष्टा है और मालिक प्राकरणिक है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव बिना किसी लाग-लपेट के अत्यन्त सीधी-सादी सरल भाषा में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष उक्त क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी

प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संचित कर्मोदय से विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव।।१९७।।

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्ति:
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वत: स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।।१३६।।

प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवक ही है।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि भोगों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि भोगों को न भोगते हुए भी भोक्ता है तथा भोगों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि भोगों को भोगता हुआ भी अभोक्ता है।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा।
परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा।।
वे आतमा सद्दृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल।
हो नियम से-यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल।।१३६।।

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है; क्योंकि वह स्व के ग्रहण और पर के त्याग करने की विधि द्वारा स्वयं के वस्तुत्व (यथार्थ स्वरूप) का अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है और यह पर है' - इसप्रकार के भेद को परमार्थ से जानकर स्व में स्थिर होता है और पर से, राग के योग से सम्पूर्णत: विराम लेता है।

तात्पर्य यह है कि स्व और पर का यथार्थ भेद जानकर पर से विरक्त हो स्व में लीन होनेवाले सम्यग्दृष्टियों के आत्मज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है।

इस कलश में यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्ज्ञान और भूमिकानुसार वैराग्य अवश्य होता है; क्योंकि श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन के साथ-साथ ही ज्ञान का परिणमन भी सम्यक् हो जाता है और आत्मानुभूतिपूर्वक होनेवाले चतुर्थ गुणस्थान में ही अनंतानुबंधी कषाय का अभाव हो जाने से तत्संबंधी राग-द्वेष का भी अभाव हो जाता है; इसकारण तत्संबंधी वैराग्य भी हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य शक्ति नियम से

होती ही है।

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च स्वपरावेवं तावज्जानाति –

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को।।१९८।।
पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्ज भावो जाणगभावो हु अहमेक्को।।१९९।।
एवं सम्माद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः।।१९८।।
पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः।।१९९।।
एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम्।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन्।।२००।।

अब आगामी (१९८ से २००) तीन गाथाओं में यह बताते हैं कि **सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को सामान्यरूप से और विशेषरूप से परभावों से भिन्न जानता हुआ नियम से ज्ञान–वैराग्य सम्पन्न किसप्रकार होता है ?** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उदय कर्मों के विविध–विध सूत्र में जिनवर कहें।
किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९८।।
पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं।
किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९९।।
इसतरह ज्ञानी जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा।
कर्मोदयों को छोड़ते निजतत्त्व को पहिचान कर।।२००।।

जिनेन्द्र भगवान ने कर्मों के उदय का विपाक (फल) अनेकप्रकार का कहा है; किन्तु वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय मेरा नहीं है; क्योंकि मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्व (वस्तु के वास्तविक

स्वरूप) को जानता हुआ कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है।

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राण–रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि।

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति –

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति। तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति।

ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति।।१९८–२००।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए ये अनेकप्रकार के भाव और रागनामक पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न ये रागभाव मेरे स्वभाव नहीं हैं; क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

राग के स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन – ये पद रखकर सोलह सूत्र बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। इसीप्रकार और भी अनेक सूत्र बनाये जा सकते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान–वैराग्य सम्पन्न होता है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि १९८वीं गाथा में सामान्यतया और १९९वीं गाथा में विशेषतया बताये गये परभावस्वरूप सब भावों से स्वयं को भिन्न जानकर टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व को भलीभाँति जानता है।

इसप्रकार तत्त्व को जानता हुआ तथा स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (प्रसिद्ध) करता हुआ वह सम्यग्दृष्टि कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों को छोड़ता है।

इसलिए वह नियम से ज्ञान–वैराग्य सम्पन्न होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब आत्मा समस्त परभावों एवं रागादिभावों से अपने आत्मा को सामान्यरूप से और विशेषरूप से भिन्न जान लेगा; तब वह नियम से ज्ञानरूप रहेगा और वैराग्य से सम्पन्न होगा। यह बात अनुभव से भी पुष्ट होती है और यही सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का चिह्न भी है।

उक्त तीनों गाथाओं में से आरंभ की दो गाथाओं में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य

अमृतचन्द्र की आत्मख्याति से कुछ अन्तर पाया जाता है।

तात्पर्यवृत्ति में पाई जानेवाली वे गाथायें इसप्रकार हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या–
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ।।१३७।।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को।।
कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी।।

(हरिगीत)

पुद्गलकरम है क्रोध उसके उदय ये परिणाम हैं।
किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।
विविध कर्मोदयी फल किसतरह तेरे हैं नहीं।
क्योंकि तन अज्ञानिजन स्वभाव मेरे हैं नहीं।।

यह क्रोध पुद्गलकर्म है। उसके विपाक का उदय मेरा भाव नहीं है; मैं तो एक ज्ञायक–भाव हूँ।

यह विविध कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम तेरा स्वभाव कैसे नहीं है ? परद्रव्य के उदय में उत्पन्न होनेवाले अज्ञानभाव और शरीरादि मेरा स्वभाव नहीं है।

इन गाथाओं के उपरान्त तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा और आती है, जो आत्मख्याति की १९८वीं गाथा के समान ही है। इसकी चर्चा पहले हो ही चुकी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि १९८ से २०० तक की उक्त तीन गाथाओं में यह सतर्क सिद्ध किया गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य नियम से होता है। यद्यपि वह बाहर से भोगों में लिप्त दिखाई देता है; तथापि अंतरंग में वह भोगों से विरक्त ही रहता है।

इन गाथाओं के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में एक कलश लिखते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि जो जीव परद्रव्यों में आसक्त हों, आकण्ठ डूबे हों या आत्मा को समझे बिना ही महाव्रतधारी बन गये हों; समितियों का पालन करने लगे हों और स्वयं को सम्यग्दृष्टि मान बैठे हों; वे सभी अज्ञानी ही हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं और उनकी यह मान्यता एकदम गलत है; क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के अनर्गल प्रवृत्ति तो होती ही नहीं है; साथ ही सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे अणुव्रत–

महाव्रत भी नहीं होते, सच्ची समितियाँ भी नहीं होतीं।

उस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित सदा।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा।।
जो समिति आलंबें महाव्रत आचरें पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय।।१३७।।

'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बंध नहीं होता; क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता' – ऐसा मानकर जिनका मुख ऊँचा और पुलकित हो रहा है – ऐसे रागी (मिथ्यात्वसहित रागवाले) जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करें; तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं।

स्थिति यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्ज्ञान तो होता ही है; अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव के कारण तत्संबंधी रागभाव का भी अभाव होता है। अत: सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न कहा गया है, फिर भी उसके अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदयानुसार रागभाव पाया जाता है और तदनुसार भोगों में प्रवृत्ति भी देखी जाती है। वह प्रवृत्ति चक्रवर्तियों जैसी भी हो सकती है।

यह तो आप जानते ही हैं कि चक्रवर्ती की पट्टरानी को मासिकधर्म नहीं होता; उसके कोई सन्तान भी नहीं होती। इसकारण चक्रवर्ती के भोग निरन्तराय होते हैं। यदि पट्टरानी मासिकधर्म से हो या उसके सन्तान हो तो चक्रवर्ती के भोगों में अंतराय होने की संभावना बनी रहती है। युद्धादि में भी वे प्रवृत्त होते ही हैं। ऐसे होने पर भी सम्यग्दर्शन होने के कारण उनका उन भोगों में और रागादि भावों में एकत्व-ममत्व नहीं होता, कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं होता; इसकारण उनके भोगों को निर्जरा का कारण कहा जाता है।

इस बात का आधार लेकर कोई मूढ़जीव आत्मानुभूति के बिना ही अपने को सम्यग्दृष्टि मान ले और 'सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता' शास्त्र के इस वचन के आधार पर यह मानकर कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ; अत: मुझे तो बंध हो ही नहीं सकता; इसलिए मुझे विषयभोगों से विरक्त होने की क्या आवश्यकता है – ऐसी विपरीत मान्यता के कारण भोगों में लिप्त रहे, अनर्गल प्रवृत्ति करे अथवा 'आत्मानुभव के बिना ही, सम्यग्दर्शन के बिना ही बाह्य भोगों के त्याग देने मात्र से धर्म हो जाता है' – ऐसा मानकर भोगों को त्याग कर महाव्रतों का कठोरतापूर्वक आचरण करे, समितियों का आलम्बन करे – इन दोनों ही स्थितियों में वह पापी ही है, मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भोगों में अनर्गलप्रवृत्ति करनेवालों को आप भले ही पापी कहें; पर महाव्रतों के पालन करनेवालों को, समितियों का आचरण करनेवालों को पापी क्यों कहते हो ?

उत्तर यह है कि पर में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप

है और यह सबसे बड़ा पाप दोनों के ही सदा एक-सा विद्यमान रहता है; इसलिए वे दोनों ही समानरूप से पापी हैं। यही बात इस कलश में कही गई है।

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत् –

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।२०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।।

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि।।२०१।।

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन्।।२०२।।

अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि आत्मा और अनात्मा को नहीं जाननेवाला **रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ?**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के।
वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को।।२०१।।
जो न जाने जीव को वे अजीव भी जानें नहीं।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जानें नहीं?।।२०२।।

जिन जीवों के परमाणुमात्र (लेशमात्र) भी रागादि वर्तते हैं, वे जीव समस्त आगम के पाठी होकर भी आत्मा को नहीं जानते।

आत्मा को नहीं जाननेवाले वे लोग अनात्मा को भी नहीं जानते। इसप्रकार जो जीव और अजीव (आत्मा और अनात्मा) दोनों को ही नहीं जानते; वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?

यहाँ **'परमाणुमात्र राग'** और **'सर्व आगमधर'** – ये दोनों पद विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि एक बात तो यह है कि सम्पूर्ण आगम को जाननेवाला आत्मा को नहीं जाने – यह कैसे हो सकता है ? द्वादशांग के पाठी तो सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी ही होते हैं। दूसरे राग का अंश तो दशवें गुणस्थान तक रहता है; तो क्या दशवें गुणस्थान तक भी आत्मज्ञान नहीं होता ? आत्मज्ञान तो चतुर्थगुणस्थान में ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में उक्त पदों का अर्थ कुछ विशिष्ट होना चाहिए; तदर्थ स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपर-रूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः।।२०१-२०२।।

(मन्दाक्रान्ता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।१३८।।

''जिसके अज्ञानमय रागादिभावों का लेशमात्र भी सद्भाव है; वह भले ही श्रुतकेवलीकल्प अर्थात् श्रुतकेवली के समान हो, तो भी ज्ञानमयभावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता और जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा को भी नहीं जानता; क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता – इन दोनों के द्वारा ही एक वस्तु का निश्चय होता है।

इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता; वह जीव और अजीव को नहीं जानता तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिए रागीजीव ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।''

देखो, यहाँ **'परमाणुमात्र राग'** का अर्थ अज्ञानमय रागादिभावों का लेशमात्र किया है; जिसका आशय यह है कि मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के साथ होनेवाले रागादिभावों का लेशमात्र भी हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसीप्रकार **'सर्व आगमधर'** का अर्थ श्रुतकेवली न करके श्रुतकेवलीकल्प किया है; क्योंकि श्रुतकेवली तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही होते हैं। यद्यपि **'सर्व आगमधर'** का अर्थ श्रुतकेवली ही होता है; तथापि इसप्रकार के प्रयोगों में वही अर्थ अभीष्ट होता है; जो आगम और परमागम की परम्परा से मेल खाता हो।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि रागादि भावों में उपादेयबुद्धिवाले जीव सर्व आगम को जानकर भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते।

अब आत्मख्याति में इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र-अनादिकाल से मोहनींद में सोये हुए जीवों को झकझोर कर जगा रहे हैं।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे।।

जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय।।१३८।।

किं नाम तत्पदमित्याह –

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

आत्मनि द्रव्यभावानपादानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन।।२०३।।

आचार्यदेव संसार में मग्न जीवों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे जगत के अन्धे प्राणियो! अनादि संसार से लेकर आजतक पर्याय-पर्याय में ये रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं; वह पद अपद है, अपद है – ऐसा तुम जानो।

हे भव्यजीवो ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ; क्योंकि तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु स्वयं के रस से भरी हुई है और स्थाई भावत्व को प्राप्त है, स्थिर है, अविनाशी है।

उक्त कलश में तीन पद दो-दो बार आये हैं – अपद है, अपद है; इस ओर आओ, इस ओर आओ; और शुद्ध है, शुद्ध है। इन पदों की पुनरावृत्ति मात्र छन्दानुरोध से नहीं हुई है; अपितु इस पुनरावृत्ति से कुछ विशेष भाव अभिप्रेत है। 'इनमें शुद्ध है, शुद्ध है' पद की पुनरावृत्ति से द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता की ओर संकेत किया गया है। 'अपद है, अपद है और इधर आओ, इधर आओ' पदों से अत्यधिक करुणाभाव सूचित होता है।

गाथा २०२ के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तीन गाथायें आई हैं, जो आत्मख्याति में आगे क्रमश: २१६, २१७ एवं २१८ के रूप में आनेवाली हैं। दोनों टीकाओं में यह क्रम भेद है। उक्त गाथाओं की चर्चा आगे यथास्थान होगी ही; अत: यहाँ उनके बारे में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

इस २०३वीं गाथा के पूर्व समागत कलश में यह कहा गया है कि हे जगत के अन्धे प्राणियो ! जिस पद में तुम अपनापन करके सो रहे हो, वह पद अपद है, वह पद तुम्हारा पद नहीं है; अत: तुम उसे छोड़कर स्वपद में आओ।

अत: अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यदि यह पद हमारा नहीं है तो फिर **हमारा पद क्या है, कौन-सा है?**

इसी प्रश्न के उत्तर में यह २०३वीं गाथा लिखी गई है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वानुभूतिगम्य है जो नियत थिर निजभाव ही।
अपद पद सब छोड़ ग्रह वह एक नित्यस्वभाव ही।।२०३।।

हे भव्यजीवो ! आत्मा में अपदभूत द्रव्य-भावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर एवं एकरूप

तथा स्वभावरूप से उपलब्ध प्रत्यक्ष अनुभवगोचर इस ज्ञानभाव को जैसा का तैसा ग्रहण करो; क्योंकि यही तुम्हारा पद है।

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः; ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः।

ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।।२०३।।

(अनुष्टुभ्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पादान्यन्यानि यत्पुरः ।।१३९।।

उक्त २०३वीं गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''वास्तव में इस भगवान आत्मा में द्रव्य-भावभूत बहुत से भावों के मध्य में से जो भाव अतत्स्वभावरूप अर्थात् परभावरूप अनुभव में आते हुए अनियत अवस्थावाले अनेकरूप क्षणिक व्यभिचारी भाव हैं; वे सभी स्वयं अस्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं ले सकने योग्य होने से अपदभूत हैं और जो भाव तत्स्वभावरूप से अर्थात् आत्मस्वभावरूप से अनुभव में आता हुआ नियत अवस्थावाला एकरूप नित्य अव्यभिचारी भाव है; वह एक ही स्वयं स्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने के योग्य होने से पदभूत है।

इसलिए समस्त अस्थाई भावों को छोड़कर परमार्थरसरूप से स्वाद में आनेवाला स्थाई भावरूप यह एक ज्ञान ही आस्वादन के योग्य है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जीवाजीवाधिकार में जो वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ प्रकार के भाव बताये गये थे; वे सभी भाव आत्मा के लिए अपद हैं; अपनाने योग्य नहीं हैं, आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे आत्मस्वभाव न होने से अतत्स्वभाव हैं, अनियत हैं, असंख्यप्रकार के होने के कारण अनेक हैं, नाशवान होने से क्षणिक हैं और संयोगजनित होने से व्यभिचारी भाव हैं।

एकमात्र ज्ञानभाव ही आत्मा का स्वपद है, आत्मा है; क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव होने से तत्स्वभाव है, नियत है, एक है, नित्य है और स्वभावभाव होने से अव्यभिचारी है।

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद।
सब आपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञानपद।।१३९।।

जिसके सामने सभी अन्य पद अपद भासित होते हैं, विपत्तियों का अपदभूत एवं एक

ज्ञानभावरूप वह पद ही आस्वादन करने के योग्य है।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्।।१४०।।

तथाहि –

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृत्तिं याति।।२०४।।

इस कलश में यही कहा गया है कि जिसमें एकत्व स्थापित करने से, जिसे अपना जानने-मानने से, जिसमें जमने-रमने से सभी विपत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, अनन्त दुःख दूर हो जाते हैं और जिसकी तुलना में जगत के अन्य सभी पद अपद भासित होते हैं, तुच्छ भासित होते हैं; वह ज्ञानपद ही एकमात्र आस्वादन करने योग्य है, आराधना के योग्य है, साधना के योग्य है।

इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम एकमात्र इस ज्ञानपद की आराधना में अपने जीवन को लगा दो।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उस ज्ञान के आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा।
अर द्वन्द्वमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा।।
आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा।
सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा।।१४०।।

द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ तथा आत्मानुभव के अनुभाव से विवश निज वस्तुवृत्ति को जानता हुआ यह आत्मा ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ और मात्र सामान्यज्ञान का अभ्यास करता हुआ सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है, एक रूप में प्राप्त करता है।

उक्त कलश में आत्मानुभव की प्रक्रिया दिखाते हुए यह बताया गया है कि आत्मानुभव में विशेषज्ञान का तिरोभाव और सामान्यज्ञान का आविर्भाव होता है तथा आत्मानुभव के रस के सामने अन्य सभी रस फीके पड़ जाते हैं।

जो बात १४०वें कलश में कही गई है, अब वही बात इस २०४वीं गाथा में कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मतिश्रुतावधिमनःपर्यय और केवलज्ञान भी।

सब एक पद परमार्थ हैं पा इसे जन शिवपद लहें ।।२०४।।

आत्मा किल परमार्थः, तत्तु ज्ञानम्; आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिंदन्ति तेऽपीदमेवैकं पदमभिनंदन्ति।

तथाहि – यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः, किंतु प्रत्युत तमभिनंदेयुः।

ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्।

तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्म परिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।।२०४।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान – यह एक ही पद है; क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं। इसप्रकार यह सामान्य ज्ञानपद ही परमार्थ है, जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''वास्तव में आत्मा ही परमार्थ है, परम पदार्थ है और वह ज्ञान ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिए ज्ञान भी एक पद है। यह ज्ञान नामक पद ही परमार्थ स्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। मतिज्ञानादि ज्ञान के भेद इस एक पद को नहीं भेदते; किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं।

अब इसी बात को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं – जिसप्रकार इस जगत में बादलों से ढका हुआ सूर्य बादलों के विघटन के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है और उस सूर्य के प्रकाश करने की हीनाधिकतारूप भेद, उसके सामान्य प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते; उसीप्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा, कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है और उस ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद उसके सामान्य ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, प्रत्युत अभिनन्दन करते हैं।

इसलिए समस्त भेदों से पार आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए।

उस ज्ञान के अवलम्बन से निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ और अनात्मा का परिहार होता है। ऐसा होने पर कर्म मूर्च्छित नहीं करते, राग–द्वेष–मोह उत्पन्न नहीं होते। राग–द्वेष–मोह के बिना कर्मों का आस्रव नहीं होता। आस्रव न होने से फिर कर्मबन्ध भी नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म उपभुक्त होते हुए निर्जरित हो जाते हैं; तब सभी कर्मों का अभाव हो जाने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है।''

इस टीका में इस बात पर जोर दिया गया है कि सामान्यज्ञान मतिज्ञानादि भेदोंरूप परिणमित होने पर भी उनके द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होता; अभेद-अखण्ड-सामान्य ही रहता है और उक्त

(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ।।१४१।।

किंच –

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ।।१४२।।

सामान्यज्ञानरूप निज भगवान आत्मा के आश्रय से निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, राग-द्वेष-मोह का अभाव होता है, आस्रव-बंध रुकते हैं, संवर-निर्जरा होकर साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार यहाँ स्पष्ट किया गया है कि सामान्यज्ञानरूप आत्मा के आश्रय से इतना लाभ प्राप्त होता है।

यद्यपि यह भगवान आत्मा मोक्षरूप ही है; तथापि पर्याय में मुक्ति प्राप्त होने के कारण यहाँ मोक्ष के साथ साक्षात् विशेषण का उपयोग किया गया है।

अब इसी अर्थ को व्यक्त करनेवाला कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(हरिगीत)

सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही।
हों उछलती जिस भाव में अद्भुतनिधि वह आतमा।।
भगवान वह चैतन्य रत्नाकर सदा ही एक है।
फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता।।१४१।।

जिसकी निर्मल से भी निर्मल संवेदन व्यक्तियाँ अर्थात् ज्ञानपर्यायें समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने से मानो मदोन्मत्त होती हुई अपने आप उछलती हैं; वह यह अद्भुतनिधिवाला, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों से अभिन्न भगवान चैतन्यरत्नाकर (आत्मा) एक होने पर भी अनेक होता हुआ ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा उछलता है, दोलायमान होता है।

इस कलश में भगवान आत्मा को चैतन्यरत्नाकर कहा है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा की तुलना रत्नाकर (समुद्र) से की है।

अब आगे के कलश में कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना कुछ भी करो, सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।२०५।।

ज्ञानगुणेण विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ।।२०५।।

यतो हि सकलेनापि कर्मणा, कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात्, ज्ञानस्यानुपलंभः। केवलेन ज्ञानेनैव, ज्ञानम् एव ज्ञानस्य प्रकाशनात्, ज्ञानस्योपलंभः। ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेद–

(हरिगीत)

पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं।
जाने बिना निज आतमा जिनवर कहें सब व्यर्थ हैं।।
मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो।
निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं ।।१४२।।

स्वयं की कल्पना से जिनमत अस्वीकार्य करके और मोक्षमार्ग के विरुद्ध कठिनतर प्रवृत्ति करके दुःख पाओ तो पाओ अथवा आत्मज्ञान बिना किये गये जिनागम कथित महाव्रतादि और तप के भार से भग्न होते हुए चिरकाल तक क्लेश भोगो तो भोगो; किन्तु साक्षात् मोक्षस्वरूप, स्वयं संवेद्यमान, निरामय इस ज्ञानपद को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

साक्षात् मोक्षस्वरूप जो यह ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा है, उसे आत्मोन्मुखी ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसे प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इस कलश में तो यहाँ तक कहा है कि चाहे जिनागम में कथित व्रतादि पालो, तपश्चरण आदि करो; चाहे जैनेतरों के यहाँ प्रचलित क्रियाकाण्ड करो, तपादि तपो; किन्तु आत्मज्ञान के बिना आत्मोपलब्धि सम्भव नहीं है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, उसी बात को अब मूल गाथा में कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इस ज्ञानगुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें।
यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो ।।२०५।।

ज्ञानगुण (आत्मानुभव) से रहित बहुत से लोग अनेकप्रकार के क्रियाकाण्ड करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्यजीवो ! यदि तुम कर्म से पूर्ण मुक्ति चाहते हो तो इस नियत ज्ञान को ग्रहण करो।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''समस्त कर्मों (क्रियाकाण्डों) में प्रकाशन का अभाव होने से कर्मों (क्रियाकाण्डों) से ज्ञान (आत्मा) की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु ज्ञान (आत्मानुभव) से ही ज्ञान (आत्मा) का

प्रकाशन होता है; इसलिए मात्र ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसकारण बहुत से ज्ञानशून्य मुपलभंते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभि र्न मुच्यंते।

ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयम्।।२०५।।

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
ततइदंनिजबोधकलाबलात् कलयितुं यततांसततंजगत्।।१४३।।

जीव अनेकप्रकार के कर्म (क्रियाकाण्ड) करने पर भी इस ज्ञानपद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते और इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाने से वे कर्मों से मुक्त भी नहीं होते।

इसलिए जो जीव कर्मों से मुक्त होना चाहते हैं; उन्हें एकमात्र इस ज्ञान (आत्मज्ञान) के अवलम्बन से इस नियत एकपद (आत्मा) को प्राप्त करना चाहिए।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिन्हें आत्मकल्याण करना हो, वे आत्मज्ञान की दिशा में सक्रिय हों; मात्र क्रियाकाण्ड में उलझे रहने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

भूमिकानुसार सदाचरण तो होना ही चाहिए और सज्जनों के होता भी है; तथापि उस सदाचार से आत्मोपलब्धि होनेवाली नहीं है।

इस कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि यहाँ ज्ञानगुण का आशय निर्विकार परमात्मतत्त्व की उपलब्धि से है और इसके बिना हम चाहे जितना दुर्धर तप करें, तब भी हमें आत्मोपलब्धि नहीं होगी। अब इसी भाव का पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम।
ज्ञानकला से सहज ही, सुलभ आतमाराम।।
अतः जगत के प्राणियो! छोड़ जगत की आश।
ज्ञानकला का ही अरे! करो नित्य अभ्यास।।१४३।।

इस ज्ञानस्वरूप पद को कर्मों (क्रियाकाण्डों) से प्राप्त करना दुरासद है, संभव नहीं है; यह तो सहज ज्ञानकला से ही सुलभ है। इसलिए हे जगत के प्राणियो ! तुम इस ज्ञानपद को निजात्मज्ञान की कला के बल से प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करो, अभ्यास करो।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि किसी भी कर्म से धर्म नहीं होता। कर्म का आशय यहाँ सभीप्रकार के शुभाशुभभाव और धर्म के नाम पर होनेवाले सभीप्रकार के क्रियाकाण्ड से है। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार के शुभाशुभभाव या किसी भी प्रकार के धार्मिक क्रियाकाण्ड से आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि क्रियाकाण्ड तो जड़ की परिणति है और

शुभाशुभभाव आत्मा के विकारी परिणाम होने से बंध के कारण हैं।

किंच –

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्।।२०६।।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशी: यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति।

जो बंध का कारण हो, वह धर्म कैसे हो सकता है और उससे आत्मोपलब्धि भी कैसे हो सकती है ? इसीप्रकार क्रियाकाण्डरूप जड़ की क्रिया से आत्मा के धर्म का क्या संबंध ?

यही कारण है कि आचार्यदेव यहाँ सहज-बोध-कला का अभ्यास करने की प्रेरणा दे रहे हैं; क्योंकि आत्मा की प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मानुभूति ही है।

अबतक यह कहा गया है कि एक ज्ञानपद ही स्वपद है, प्राप्त करने योग्य है, आश्रय करने योग्य है और उसकी प्राप्ति ज्ञान के ही माध्यम से होगी, अन्य किसी क्रियाकाण्ड या शुभाशुभभाव से नहीं।

अब आगामी गाथा २०६ में यह कह रहे हैं कि तुम एक ज्ञानमय पद को प्राप्त करके उसमें ही सन्तुष्ट हो जाओ; उससे तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो।
बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो।।२०६।।

हे भव्यप्राणी ! तू इस ज्ञानपद को प्राप्त करके इसमें ही लीन हो जा, इसमें ही निरन्तर सन्तुष्ट रह और इसमें ही पूर्णत: तृप्त हो जा; इससे ही तुझे उत्तम सुख (अतीन्द्रिय-आनन्द) की प्राप्ति होगी।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य आत्मा है – ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा रति कर, रुचि कर, प्रीति कर।

जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य आशीष (कल्याण) है – ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा सन्तुष्ट रह, सन्तोष को प्राप्त कर।

जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है – ऐसा निश्चय करके उस ज्ञानमात्र में सदा तृप्त हो जा, तृप्ति का अनुभव कर।

इसप्रकार सदा आत्मा में ही रत, आत्मा में ही सन्तुष्ट और आत्मा में तृप्त तुझको वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा।

तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि, मा अन्यान् प्राक्षी: ।।२०६।।

(उपजाति)

अचिंत्यशक्ति: स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ।।१४४।।

उस सुख को तू उसी क्षण स्वयं ही देखेगा; इसलिए दूसरों से मत पूछ अथवा दूसरों से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। 'अति प्रश्न मत कर' – पाठान्तर में ऐसा भी प्राप्त होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही ज्ञानपद से अभिहित किया जाता है और वह ही एकमात्र परमार्थ आत्मा है, कल्याणकारी आत्मा है, अनुभव करने योग्य आत्मा है; अत: प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र परमकर्तव्य उस आत्मा को प्राप्त कर, उसी में लीन होना है, उसी में संतुष्ट रहना है और उसी में सम्पूर्णत: तृप्त भी रहना है; क्योंकि उत्तम सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय वही है।

आत्मख्याति के अन्तिम अंश में एक अति महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि जब तू इस भगवान आत्मा को जानेगा, उसी में जमेगा, रमेगा, संतुष्ट होगा, तृप्त होगा; तब जो उत्तम सुख प्राप्त होगा; वह तेरे अनुभव में स्वयं ही आ जायेगा, किसी अन्य से पूछने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

अत: अधिक प्रश्न करने से विराम ले; अधिक विकल्प करने से विराम ले और सम्पूर्ण शक्ति से हमारे बताये उक्त मार्ग में लग जा।

अब उक्त ज्ञानानुभव की ही महिमा बताते हुए आगामी गाथा की विषयवस्तु की सूचना देने वाला कलशकाव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

अचिंत्यशक्ति धारक अरे, चिन्तामणि चैतन्य।
सिद्धारथ यह आतमा, ही है कोई न अन्य।।
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, फिर क्यों पर की आश।
ज्ञानी जाने यह रहस, करे न पर की आश।।१४४।।

यह ज्ञानी आत्मा स्वयं ही चिन्मात्रचिन्तामणि है और अचिन्त्यशक्तिवाला देव है; इसकारण इसके सर्व प्रयोजन स्वयं ही सिद्ध हैं। इसलिए अब इसे अन्य किसी पदार्थ के परिग्रह (संग्रह) से क्या प्रयोजन है ?

यद्यपि इस कलश में समागत अचिन्त्यशक्ति, चिन्मात्रचिन्तामणिदेव एवं सर्वार्थसिद्धात्मा – ये विशेषण त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के हैं; तथापि जब ज्ञानी आत्मा उक्त त्रिकाली ध्रुव आत्मा

में ही अपनापन स्थापित कर लेता है, तब वह स्वयं ही ऐसा अनुभव करने लगता है कि मैं स्वयं ही

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत् –

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।।२०७।।

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम् ।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ।।२०७।।

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामी इति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टंभात्, आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं, नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिग्रह्णाति ।।२०७।।

अचिन्त्यशक्ति का धारक देवाधिदेव हूँ, चिन्मात्रचिन्तामणि हूँ और मेरे सभी प्रयोजन सिद्ध ही हैं अथवा ऐसी श्रद्धा होने से, ऐसा ज्ञान होने से मेरा अनन्तसुखी होने का प्रयोजन सहज ही सिद्ध हो गया है। इसप्रकार की अनुभूति करनेवाले ज्ञानी जीवों को अन्य पर-पदार्थों के परिग्रह से क्या प्रयोजन रह जाता है, शुभाशुभ भावों और शुभाशुभ क्रियाकाण्डों से भी क्या प्रयोजन रह जाता है ?

इस २०७वीं गाथा की उत्थानिका के रूप में समागत इस १४४वें कलश में यह कहा गया था कि ज्ञानी को अन्य परिग्रह से क्या प्रयोजन है ?

अब इस गाथा में उसी बात की पुष्टि करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आतमा ही आतमा का परिग्रह – यह जानकर।
'पर द्रव्य मेरा है' – बताओ कौन बुध ऐसा कहे? ।।२०७।।

अपने आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता हुआ कौन-सा ज्ञानी यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ?

लौकिक सज्जन पुरुष भी लोक में परपदार्थ को अपना नहीं कहता, उस पर अधिकार करने की चेष्टा नहीं करता; तो फिर अलौकिक आत्मज्ञानी पुरुष पर को अपना कैसे मान सकता है, जान सकता है और उनसे चिपटा भी कैसे रह सकता है ?

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो जिसका स्वभाव है, वह स्वभाव उसका 'स्व' है और वह उस स्वभाव का स्वामी है – इसप्रकार तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से ज्ञानी अपने आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह (सर्वस्व) जानता है; इसलिए 'यह मेरा स्व नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' – ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता अर्थात् परद्रव्य को अपना नहीं मानता।''

इस गाथा के सन्दर्भ में दो बातें विशेष जानने योग्य हैं –

पहली बात तो यह है कि यहाँ पर परिग्रह का अर्थ मूर्च्छा या संयोगी पदार्थ नहीं है; क्योंकि

अपना आत्मा स्वयं के लिए न तो संयोगी पदार्थ ही है और न ज्ञानी को उसमें मूर्च्छा ही होती है।

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि –

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।
छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम।।२०८।।
छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्मात् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम।।२०९।।

यहाँ तो 'परि' माने चारों ओर से 'ग्रह' माने ग्रहण करना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी वस्तु को चारों ओर से ग्रहण करना ही परिग्रह है। यह आत्मा अपने आत्मा को चारों ओर से ग्रहण करता है, ग्रहण किये रहता है; इसीलिए यह कहा गया है कि निज आत्मा ही आत्मा का परिग्रह है। अपने आत्मा को ही निजरूप जानना-मानना ही चारों ओर से ग्रहण करना है।

और दूसरी बात यह है कि यहाँ 'स्व' की सीमा में अपना आत्मद्रव्य, उसमें विद्यमान अनन्त गुण और उन गुणों की आत्मोन्मुखी निर्मल पर्यायें ही आती हैं; विकारी पर्यायें या संयोगी पदार्थ नहीं आते।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि ज्ञानी जीव अपने आत्मा को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ या विकारी भावों को अपना नहीं जानते, अपना नहीं मानते।

जो बात विगत गाथा में कही गई है; अब उसी बात को सयुक्ति सिद्ध करते हुए आचार्यदेव ज्ञानी की भावना को, ज्ञानी के निश्चय को व्यक्त करते हैं –

(हरिगीत)

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं।।२०८।।
छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो।
जावे चला चाहे जहाँ पर परिग्रह मेरा नहीं।।२०९।।

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। चूँकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।

यह परद्रव्यरूप परिग्रह छिद जाये, भिद जाये, कोई इसे ले जाये अथवा नष्ट हो जाये, प्रलय को प्राप्त हो जाये; अधिक क्या कहें – चाहे जहाँ चला जाये; – इससे मुझे क्या ? क्योंकि यह

परिग्रह वास्तव में मेरा है ही नहीं।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्, अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्याम्। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्व–मापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि, न परद्रव्यं परिगृह्णामि।

अयं च मे निश्चयः – छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा, विप्रलयं यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम, स्वं अहमेव मम स्वामी इति जानामि।।२०८–२०९।।

(वसन्ततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः।।१४५।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''यदि अजीव परद्रव्यरूप परिग्रह को मैं अपना मानूँ तो वह अवश्य ही मेरा स्व होगा और मैं उसका स्वामी हो जाऊँगा तथा जो अजीव का स्वामी होगा, वह वास्तव में अजीव ही होगा। इसप्रकार अवशतः (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़ेगा।

मेरा स्व तो एक ज्ञायकभाव ही है और मैं उसी का स्वामी हूँ; इसलिए मुझको अजीवत्व न हो। मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा और परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।

मेरा यह निश्चय है कि परद्रव्य छिदे अथवा भिदे अथवा कोई उसे ले जाये अथवा प्रलय को प्राप्त हो जाये अथवा चाहे जहाँ जाये; जो भी हो मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता; क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है और मैं उसका स्वामी नहीं हूँ; परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है और परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है तथा मैं ही मेरा स्व हूँ और मैं ही मेरा स्वामी हूँ – ऐसा मैं जानता हूँ।''

उक्त गाथाओं में चौबीसों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ने की बात सामान्यतः कही गई है और अब आगामी गाथाओं में उन्हीं परिग्रहों को छोड़ने की बात विशेषरूप से कहेंगे। इस बात का संकेत इन गाथाओं के बाद आनेवाले कलश में किया गया है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

सभी परिग्रह त्याग, इसप्रकार सामान्य से।
विविध वस्तु परित्याग, अब आगे विस्तार से।।१४५।।

इसप्रकार समस्त परिग्रह को सामान्यतः छोड़कर अब स्व–पर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने के मनवाला ज्ञानी जीव पुनः उसी परिग्रह को विशेष रूप से छोड़ने के लिए

प्रवृत्त हुआ है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१०।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२११।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१२।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१३।।
एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

इस छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया जा सकता है – **इसप्रकार स्वपर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को सामान्यत: छोड़कर अब अज्ञान को छोड़ने का मनवाला जीव पुन: उस परिग्रह को ही विशेष रूप से छोड़ने के लिए प्रवृत्त हुआ है।**

इस कलश में मात्र यही कहा है कि अबतक सभी परिग्रह के त्याग की चर्चा बिना किसी परिग्रह के नामोल्लेख किये सामान्यरूप से की गई है और अब उसी बात को दृढ़ करने के लिए विशेष नामोल्लेखपूर्वक विस्तार से कहते हैं, जिससे परिग्रह त्याग की भावना बलवती हो।

सामान्य त्याग की बात कहने के उपरान्त अब इन गाथाओं में नामोल्लेखपूर्वक विशेष त्याग की बात कह रहे हैं –

(हरिगीत)

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को।
है परीग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे।।२१०।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को।
है परिग्रह ना अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे।।२११।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को।
है परिग्रह ना असन का वह असन का ज्ञायक रहे।।२१२।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को।
है परिग्रह ना पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे।।२१३।।
इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को।

सर्वत्र ही वह निरालम्बी नियत ज्ञायकभाव है।।२१४।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम्।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१०।।
अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२११।।
अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१२।।
अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१३।।
एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंबस्तु सर्वत्र।।२१४।।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पुण्यरूप धर्म को नहीं चाहता; इसलिए वह पुण्यरूप धर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पापरूप अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए वह पापरूप अधर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता है; इसलिए वह भोजन का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पेय को नहीं चाहता; इसलिए वह पेय का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

इसीप्रकार और भी अनेकप्रकार के सभी भावों को ज्ञानी नहीं चाहता; क्योंकि वह तो सभी भावों से निरालम्ब एवं निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

ये सभी गाथायें लगभग एक-सी ही हैं। २१० से २१३ तक की गाथाओं में मात्र इतना ही अन्तर है कि २१०वीं गाथा की पहली पंक्ति में समागत **धम्मं** पद के स्थान २११वीं गाथा में **अधम्मं,** २१२वीं गाथा में **असणं** और २१३वीं गाथा में **पाणं** हो गया है। इसीप्रकार २१०वीं गाथा की दूसरी पंक्ति में समागत **धम्मस्स** पद के स्थान पर २११वीं गाथा में **अधम्मस्स,** २१२वीं गाथा में **असणस्स** और २१३वीं गाथा में **पाणस्स** हो गया है।

इन गाथाओं के बाद समागत २१४वीं गाथा में कहा गया है कि जिसप्रकार ज्ञानी आत्मा पुण्य-पाप और खान-पान की वांछा नहीं रखने से इनका परिग्रही नहीं, ज्ञायक ही है; उसीप्रकार अन्य सभी प्रकार के भावों का भी इच्छुक नहीं होने से परिग्रही नहीं, ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार की एकरूपता उक्त गाथाओं में पाई जाती है; उसीप्रकार की एकरूपता आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति और आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति में भी पाई जाती है।

यही कारण है कि हम यहाँ आत्मख्याति का अर्थ करते समय चारों गाथाओं का अर्थ पुनरुक्ति

से बचते हुए कर रहे हैं; जो इसप्रकार है –

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राण–रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येनानि। अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभाववादनंनेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशन–स्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात्।

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति। इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वम्। अथैवमयमशेष–भावांतरपरिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैक–ज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति।।२१०–२१४।।

''इच्छा परिग्रह है; जिसको इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह भी नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही होता है; अतः ज्ञानी के अज्ञानमयभाव रूप इच्छा का अभाव होने से ज्ञानी पुण्य को नहीं चाहता, पाप को नहीं चाहता, भोजन को नहीं चाहता, पेय पदार्थ को नहीं चाहता तथा अनेक प्रकार के अन्य सभी भावों को भी नहीं चाहता; इसकारण ज्ञानी के पुण्य–पाप और खान–पान तथा अन्य सभी भावों का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण पुण्य–पाप, खान–पान और अन्य सभी भावों का ज्ञायक ही है।

गाथा में समागत धर्म, अधर्म, असन और पान पदों के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन – ये सोलह पद लगाकर सोलह गाथायें बनाकर उनका व्याख्यान करना चाहिए। इस उपदेश से और दूसरे भी विचार कर लेना चाहिए। इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब इसप्रकार समस्त अन्य भावों के परिग्रह से शून्यत्व के कारण जिसने समस्त अज्ञान का

वमन कर डाला है, ऐसा ज्ञानी सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरूप रहता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।''

(स्वागता)

पूर्वबद्धकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ।।१४६।।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि ज्ञानी पुण्य-पाप, खान-पान, आकाशादि द्रव्यों और रागादिभावों को अपना नहीं जानता, अपना नहीं मानता और उनरूप परिणमित भी नहीं होता; इसकारण उसे इनका परिग्रह नहीं है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ गाथा में समागत धर्म और अधर्म पदों का अर्थ यहाँ धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न करके पुण्य और पाप किया गया है।

आत्मख्याति में समागत २११वीं गाथा के बाद एक गाथा आचार्य जयसेन की टीका में आई है, जो आत्मख्याति में नहीं है, वह गाथा इसप्रकार है –

धम्मच्छि अधम्मच्छि आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइयं।।

(हरिगीत)

आकाश धर्माधर्म ग्यारह अंग चौदह पूर्व अर।
तिर्यंच नर अर देव नारक ज्ञानियों के ज्ञेय हैं।।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के सूत्र तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकादि पर्यायें एवं सभी प्रकार के परिग्रह – ये सब ज्ञेय हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी इन ज्ञेयों की इच्छा नहीं करता, इनका मात्र ज्ञायक ही रहता है।

जो बात २१० एवं २११वीं गाथा में पुण्य और पाप के संबंध में कही गई है, वही बात इस गाथा में धर्मद्रव्यादि के बारे में कही गई है।

अब इन गाथाओं में समागत भाव का पोषक कलश काव्य कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग।
परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग।।१४६।।

पहले बँधे कर्मों के उदय के कारण यदि ज्ञानी के उपभोग हो तो हो; परन्तु राग के वियोग के कारण वे भोग उसके लिए परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि बंध तो आत्मा

के रागादिभावों से होता है। पूर्वबद्ध कर्मोदयवशात् यदि ज्ञानी को भोग देखने में आयें; तो भी रागादिभावों के अभाव के कारण उसे बंध नहीं होता।

उप्पण्णोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।२१५।।

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी।।२१५।।

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात्। तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात्। प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्धया प्रवर्तमान एव तथा स्यात्।

न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्धया प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात्। वियोगबुद्धयैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी के पूर्वकर्मोदयानुसार कदाचित् भूमिकानुसार भोग भी दिखाई दें; तो भी मिथ्यामान्यतारूप राग के अभाव के कारण उसे तत्संबंधी बंध नहीं होता; वे भोग उसके लिए परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होते।

अब इस गाथा में युक्ति से इसी बात को सिद्ध कर रहे हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उदयगत जो भोग हैं उनमें वियोगीबुद्धि है।
अर अनागत भोग की सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं।।२१५।।

जो वर्तमान में उत्पन्न उदय का भोग है, वह ज्ञानी के सदा ही वियोगबुद्धिपूर्वक होता है और ज्ञानी आगामी उदय की वांछा नहीं करता।

आचार्यदेव इस गाथा में यही बताना चाहते हैं कि भूतकाल के भोग तो गये, काल के गाल में समा गये और वर्तमान के भोगों में वियोगबुद्धि होने से तथा आगामी भोगों की चाह न होने से ज्ञानी तीनों कालों के भोगों से ही विरक्त है; इसकारण उसे न तो इनका परिग्रह ही होता है और न इनसे होनेवाला बंध ही होता है।

इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''कर्मोदय से होनेवाला उपभोग अतीत, वर्तमान और अनागत के भेद से तीन प्रकार का होता है। अतीत का उपभोग तो अतीत (समाप्त) हो जाने से परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। अनागत (भविष्य का) उपभोग वांछित होने पर ही और वर्तमान का उपभोग रागबुद्धिपूर्वक प्रवर्तमान होने पर ही परिग्रह भाव को धारण करता है।

वर्तमानकालिक कर्मोदयजन्य उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धिपूर्वक होता दिखाई नहीं देता; क्योंकि उसके अज्ञानमयभावरूप रागबुद्धि का अभाव है। केवल वियोगबुद्धिपूर्वक राग होने से उसके परिग्रह नहीं है। इसकारण ज्ञानी के वर्तमान कर्मोदयजन्य उपभोग परिग्रहरूप नहीं है।

अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।।२१५।।

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत् –

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि।।२१६।।

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि।।२१६।।

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः कांक्षमाणं

अनागत उपभोग तो वस्तुतः ज्ञानी के वांछित ही नहीं है; क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभावरूप वांछा का अभाव है। इसलिए अनागत कर्मोदयजन्य उपभोग ज्ञानी के परिग्रहरूप नहीं है।''

इसप्रकार इस गाथा में सतर्क यही कहा गया है कि ज्ञानी के तीनों काल के भोग परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होते।

विगत गाथा में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था कि ज्ञानी अनागत (भावी) कर्मोदय के उपभोग की वांछा नहीं करता। अतः अब इस गाथा में उसी बात को युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं कि **ज्ञानी अनागत कर्मोदय के उपभोग की वांछा क्यों नहीं करता ?**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वेद्य-वेदक भाव दोनों नष्ट होते प्रतिसमय।
ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना उभय की कांक्षा करे।।२१६।।

वेदन करनेवाला भाव और वेदन में आनेवाला भाव – दोनों ही समय-समय पर नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार जाननेवाला ज्ञानी उन दोनों भावों को कभी भी नहीं चाहता।

वेदन करनेवाले भाव को वेदकभाव कहते हैं और जिस भाव का वेदन किया जाता है, उसे वेद्यभाव कहा जाता है। ये दोनों ही भाव उत्पन्न होते ही एक समय में नाश को प्राप्त हो जाते हैं; इसकारण इनका मेल बैठना सम्भव नहीं होता; क्योंकि जब जीव किसी पदार्थ को भोगने का भाव करता है, तब वह पदार्थ उपलब्ध नहीं होता और जब वह पदार्थ उपलब्ध होता है, तबतक जीव को उसे भोगने का भाव समाप्त हो जाता है। इसप्रकार विनाशशील होने से वेद्य-वेदक भाव का मेल नहीं बैठता। यही कारण है कि ज्ञानी इन दोनों भावों की ही कामना नहीं करता।

इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार सतर्क सिद्ध करते हैं –

''स्वभाव के ध्रुव होने से ज्ञानी तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावस्वरूप नित्य है और विभावभावों के उत्पाद-व्ययरूप होने से वेद्यवेदकभाव क्षणिक हैं। यहाँ कांक्षमाण (जिसकी वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति; तस्मिन् विनष्टे वेदको भाव: किं वेदयते ?

यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; किं स वेदयते ? इति कांक्षमाणभाववेदनानवस्था।

तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति ।।२१६।।

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

कांक्षा की जावे, उस) वेद्यभाव का वेदन करनेवाला वेदकभाव जबतक उत्पन्न होता है, तबतक कांक्षमाण वेद्यभाव नष्ट हो जाता है। उस वेद्यभाव के नष्ट हो जाने पर वेदकभाव किसका वेदन करे ?

यदि यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद होनेवाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है तो यह बात भी संभव नहीं है; क्योंकि उस अन्य वेद्यभाव के उत्पन्न होने के पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस अन्य वेद्यभाव का वेदन कौन करता है ?

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि उस वेदकभाव के बाद होनेवाला अन्य वेदकभाव उसका वेदन करता है तो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि उस अन्य वेदकभाव के उत्पन्न होने के पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करता है? इसप्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन में अनवस्था दोष आता है। उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यहाँ जो यह कहा गया है कि ज्ञानी के इच्छा नहीं, राग नहीं है, भोगों की आकांक्षा नहीं है; इसकारण भोग भोगते हुए भी उसे बंध नहीं होता; उसका आशय दर्शनमोह संबंधी इच्छा से है, तत्संबंधित राग से है, राग के प्रति होनेवाले राग से है, राग के प्रति होनेवाले एकत्व-ममत्व से है, राग के प्रति उपादेय बुद्धि से है, राग में सुख बुद्धि से है।

इसीप्रकार बंध के संबंध में भी समझना चाहिए; क्योंकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के दर्शनमोह संबंधी बंध का ही अभाव होता है, चारित्रमोह संबंधी बंध का नहीं।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं।
क्योंकि पल-पल प्रलय पावें वेद्य-वेदक भाव सब।।

बस इसलिए सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा।
चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ।।१४७।।

तथाहि –

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः।।२१७।।

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसार-विषयाः ततरे बंधनिमित्ताः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः। अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ।।२१७।।

वेद्य-वेदकभाव विभाव भावों की अस्थिरता होने से कांक्षित भोगों (जिसे भोगना चाहते हैं, उन) का वेदन नहीं होता; इसलिए विद्वानजन (ज्ञानी) कुछ भी वांछा नहीं करते, सबके प्रति अत्यन्त विरक्त ही रहते हैं।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को निर्वांछक कहने की अपेक्षा क्या है ?

अब इसी बात को गाथा में स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

बंध-भोग-निमित्त में अर देह में संसार में।
सद्ज्ञानियों को राग होता नहीं अध्यवसान में।।२१७।।

बंध और उपभोग के निमित्तभूत संसारसंबंधी और देहसंबंधी अध्यवसान के उदयों में ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता।

उक्त गाथा की उत्थानिका आत्मख्याति में **'तथाहि'** लिखकर दी गई है, जिसका आशय यही है कि जो बात विगत कलश में कही गई है, उसी को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''इस लोक में जो भी अध्यवसान के उदय हैं, उनमें कुछ तो संसारसंबंधी हैं और कुछ शरीर संबंधी। उनमें से जो संसारसंबंधी हैं, वे तो बंध के निमित्त हैं और जो शरीरसंबंधी हैं, वे उपभोग के निमित्त हैं। जो बंध के निमित्त हैं, वे राग-द्वेष-मोहादिरूप हैं और जो उपभोग के निमित्त हैं, वे सुख-दुःखादिरूप हैं। इन सभी में ज्ञानी को राग नहीं है; क्योंकि उनके नाना द्रव्यस्वभाववाले होने से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव वाले ज्ञानी के उनका निषेध है।''

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मोह-राग-द्वेष को संसारसंबंधी अध्यवसान

बताकर बंध का कारण बताया गया है और सांसारिक सुख-दु:खों को शरीरसंबंधी अध्यवसान बताकर उपभोग का कारण बताया गया है; क्योंकि बंध के कारण मोह-राग-द्वेष ही हैं, सुख-दु:खादि नहीं।

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत: स्यात् सर्वरागरसवर्जनशील:।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष: कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१४९।।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।
~~**अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।**~~
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।।

सुख-दु:खादि भोगने तो पड़ते हैं, पर उनके भोगने मात्र से बंध नहीं होता। बंध तो जब मोह-राग-द्वेष होते हैं; तभी होता है, मोह-राग-द्वेष से ही होता है।

अब इसी भाव के पोषक और आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश काव्य लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

जबतक कषायित ना करें सर्वांग फिटकरि आदि से।
तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं।।
बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन।
सब कर्म करते पर परिग्रहभाव को ना प्राप्त हों।।१४८।।
रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं।।१४९।।

जिसप्रकार जो वस्त्र नमक और फिटकरी आदि से कषायला नहीं किया गया हो, उस वस्त्र पर रंग सर्वांग नहीं चढ़ता है, रंग उस वस्त्र के बाहर ही लोटता रहता है; उसीप्रकार रागरस से अकषायित ज्ञानियों के भी कर्म परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते, बाहर ही लोटते रहते हैं।

क्योंकि ज्ञानी जीव निजरस से सम्पूर्ण रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला होता है; इसकारण वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ होने पर भी सभी प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि कर्मों के मध्य में पड़े हुए भी ज्ञानीजन कर्मों से लिप्त नहीं होते, परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब वही बात आगामी गाथाओं में कहते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्।।२१८।।
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम्।।२१९।।

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदलेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्।
यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्य गतः सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्।।२१८–२१९।।

(हरिगीत)

पंकगत ज्यों कनक निर्मल कर्मगत त्यों ज्ञानिजन।
राग विरहित कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं।।२१८।।
पंकगत ज्यों लोह त्यों ही कर्मगत अज्ञानिजन।
रक्त हों परद्रव्य में अर कर्मरज से लिप्त हों।।२१९।।

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ भी सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के प्रति राग छोड़नेवाला ज्ञानी कर्मों के मध्य में रहा हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता।

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों के प्रति रागी और कर्मरज के मध्य स्थित अज्ञानी कर्मरज से लिप्त हो जाता है।

यहाँ कीचड़ में पड़े हुए सोने और लोहे का उदाहरण देकर ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति और उसके फल को बताया गया है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र भी इसी बात को मात्र दुहरा देते हैं; जो इसप्रकार है –

''जिसप्रकार अपने अलेपस्वभाव के कारण कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों के प्रति होनेवाले राग के त्यागस्वभावी अलेपस्वभाववाला होने से ज्ञानी कर्मों के मध्यगत होने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता।

जिसप्रकार अपने लेपस्वभाव के कारण कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है; उसीप्रकार सर्व परद्रव्यों के प्रति होनेवाले राग के ग्रहणस्वभावी लेपस्वभाववाला होने से अज्ञानी कर्मों के मध्यगत होने पर कर्मों से लिप्त हो जाता है।''

अब विगत गाथाओं के भाव का पोषक और आगामी गाथाओं के कथन का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्य परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ।।१५०।।

(हरिगीत)

स्वयं ही हों परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें।
अर अन्य के द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें।।
जिम परजनित अपराध से बँधते नहीं जन जगत में।
तिम भोग भोगें किन्तु ज्ञानीजन कभी बँधते नहीं।।१५०।।

इस जगत में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वह उसके ही कारण है, पूर्णतः स्वाधीन है; उसे अन्य वस्तुओं के द्वारा किसी भी रूप में अन्यरूप नहीं किया जा सकता, उसे बदला नहीं जा सकता। इसकारण जो ज्ञानी जीव निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होते हैं, वे कभी भी अज्ञानरूप नहीं होते। इसलिए हे ज्ञानी ! तू कर्मोदयजनित उपभोग को भोग; क्योंकि पर के अपराध से उत्पन्न होनेवाला बंध तुझे नहीं है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक जड़क्रिया से तुझे बंध नहीं होता।

ध्यान रहे, यहाँ भोगने की पुष्टि नहीं है; अपितु इस महासत्य का उद्घाटन किया गया है कि परद्रव्य की क्रिया के कारण आत्मा को किसी भी प्रकार का बंध नहीं होता।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में तीन गाथायें आती हैं; जो आत्मख्याति टीका में नहीं हैं। वे गाथायें इसप्रकार हैं –

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंत्तं भच्छवाएण।।
कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि।।
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं।।

(हरिगीत)

ज्यों नागफणि जड़ मूत्र अर सिन्दूर सीसा धातु में।
धौंकनी से धोंकानल में तपाने से स्वर्ण हो।।
कर्म ही है कीट अर रागादि ही हैं कालिमा।
औषधि है रतनत्रय अर ध्यान अग्नि जानना।।

यदि चाहते हो मुक्ति तो तुम जीव लोहा जानिये।
अर बार तप की धौंकनी को दिल लगाकर धौंकिये।।

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं।।२२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।२२३।।

नागफणी की जड़, हथिनी का मूत्र, सिन्दूर एवं सीसा नामक धातु को धौंकनी से धौंक कर अग्नि पर तपाने से सुवर्ण बन जाता है।

कर्म कीट है, रागादि कालिमा है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परम औषधि है, ध्यान अग्नि है, बारह प्रकार का तप धौंकनी है, जीव लोहा है।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए उक्त धौंकनी को परमयोगियों को धौंकना चाहिए।

इन गाथाओं की टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में सोना बनाने की प्रक्रिया में अति महत्त्वपूर्ण एक बात और जोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि उक्त विधि से भी सोना तभी बनता है, जब हमारे उस जाति का पुण्योदय हो। पुण्योदय के अभाव में सोना बनना संभव नहीं है।

जिसप्रकार उक्त विधि से सोना बन जाता है; उसीप्रकार आसन्न भव्यजीव तपश्चरणरूपी धौंकनी से ध्यानरूपी अग्नि को धौंककर, जीवरूपी लोहे की द्रव्यकर्मरूपी किट्टिमा और रागादिविकार रूपी कालिमा को जलाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी परमौषधि को प्राप्त कर अनन्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। अत: परमयोगियों को तपश्चरणरूपी धौंकनी से ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए - यही भाव है उक्त गाथाओं का।

जो बात १५०वें कलश में कही गई थी, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहे हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

ज्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
भी शंख के शुक्लत्व को ना कृष्ण कोई कर सके।।२२०।।
त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके।।२२१।।
जब स्वयं शुक्लत्व तज वह कृष्ण होकर परिणमे।
तब स्वयं ही हो कृष्ण एवं शुक्ल भाव परित्यजे।।२२२।।

इस ही तरह जब ज्ञानिजन निजभाव को परित्याग कर।
अज्ञानमय हों परिणमित तब स्वयं अज्ञानी बनें।।२२३।।

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम्।।२२०।।
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुंजानस्याऽपि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम्।।२२१।।
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्।।२२२।।
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत्।।२२३।।

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णः कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः।

यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन

जिसप्रकार अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगते हुए, खाते हुए भी शंख का श्वेतभाव कृष्णभाव को प्राप्त नहीं होता, शंख की सफेदी को कोई कालेपन में नहीं बदल सकता; उसीप्रकार ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगे तो भी उसके ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

जिसप्रकार जब वही शंख स्वयं उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर कृष्णभाव (कालेपन) को प्राप्त होता है; तब काला हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञानी भी जब स्वयं ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानता को प्राप्त हो जाता है।

उक्त गाथाओं में शंख नामक द्वीन्द्रिय जीव का उदाहरण देकर यही स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार श्वेत शंख काले पदार्थों को खाने से काला नहीं होता; अपितु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है, तब ही काला होता है।

उसीप्रकार ज्ञानी परद्रव्यों के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता, बंध को प्राप्त नहीं होता; किन्तु जब वह स्वयं अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानी हो जाता है और तभी उसे बंध भी होता है।

आत्मख्याति में इसी बात को जरा विस्तार से स्पष्ट किया गया है; जो इसप्रकार है –

''जिसप्रकार परद्रव्य के भोगने पर, परपदार्थों को खाने पर भी वे परपदार्थ शंख के श्वेतपन को कालेपन में नहीं बदल सकते; क्योंकि परद्रव्य किसी भी अन्यद्रव्य को परभावरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता; उसीप्रकार परद्रव्यरूप भोगों के भोगे जाने पर भी ज्ञानी के ज्ञान को वे परद्रव्य अज्ञानरूप नहीं कर सकते; क्योंकि परद्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य को परभावरूप करने का कारण नहीं हो सकता; इसीलिए ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त (कारण) से बंध नहीं होता।

और जब वही शंख परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ स्वयं ही श्वेतभाव को छोड़कर कृष्णभावरूप (कालेपनरूप) परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानो-ऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्।

ततो ज्ञानिनो यदि (बन्धः) स्वापराधनिमित्तो बंधः ।।२२०-२२३।।

कृष्णभाव को प्राप्त होता है। इसीप्रकार जब वही ज्ञानी परद्रव्यों को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ ज्ञानभाव को छोड़कर स्वयं ही अज्ञानभावरूप परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञानभावरूप हो जाता है।

इसीलिए ज्ञानी के यदि बंध हो तो वह स्वयंकृत ही होता है, परकृत नहीं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार शंख किसी अन्य पदार्थ के उपभोग के कारण कालेपन को प्राप्त नहीं होता, अपितु स्वयं ही होता है; उसीप्रकार ज्ञानी भी परपदार्थों के उपभोग के कारण बंध को प्राप्त नहीं होता, अपितु स्वयं के अपराध से बंध को प्राप्त होता है।

आत्मख्याति में समागत उक्त चार गाथाओं में से तीसरी गाथा के बाद एक गाथा तात्पर्यवृत्ति में आई है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा लगभग उक्त तीसरी गाथा के समान ही है। नीचे की पंक्ति तो दोनों में समान ही है, परन्तु ऊपर की पंक्ति में थोड़ा अन्तर है; जो इसप्रकार है -

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण

के स्थान पर नवीन गाथा में

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण

पद पाया जाता है।

उक्त दोनों गाथाओं का अर्थ लगभग समान होने से आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में शंख के सजीव शंख और निर्जीव शंख - ऐसे दो भेद कर संगति बैठाई है।

जिसप्रकार सजीव शंख अनेक प्रकार के परपदार्थों का भक्षण करता है, पर उन भक्ष्य पदार्थों के कारण श्वेत शंख का रंग बदलकर उन पदार्थों के रंग रूप नहीं हो जाता; उसीप्रकार अजीव श्वेत शंख पर भी चाहे जैसे पदार्थों का लेप हो, पर वह श्वेत शंख उन लेपवाले पदार्थों के कारण उनके रंग रूप नहीं हो जाता। इसप्रकार सजीव और अजीव शंखों को उदाहरण बनाकर वे एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं होता - इस महासिद्धान्त को समझाते हैं।

इसके अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति में समागत दो बातें और भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि चतुर्थादि गुणस्थानों के योग्य सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को उपभोग करनेवाले ज्ञानी के स्वानुभूतिमय भेदविज्ञान को अज्ञानमय करने के लिए कोई भी शक्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि भोगों को चाहे जैसे भोगने की बात नहीं है, भूमिकानुसार उचित भोग भोगने की ही बात है और दूसरी बात यह है कि ज्ञानी के अज्ञानरूप परिणमन में स्वकीय उपादानरूप

अन्तरंग कारण ही समर्थ कारण है, निमित्तरूप बाह्य कारण नहीं।

उक्त दोनों बातों को उन्होंने पर्याप्त वजन के साथ प्रस्तुत किया है।

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ।।१५१।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ज्ञानीजन अपनी भूमिकानुसार जो भी भोग भोगते हैं; उन्हें उन भोगों के कारण कोई बंध नहीं होता। मिथ्यात्व की भूमिका में होनेवाला अनन्त संसार का कारणरूप बंध तो ज्ञानी को होता ही नहीं है; चतुर्थादि गुणस्थानों की भूमिका में होनेवाला जो भी अल्पबंध होता है, एक तो यहाँ उसे बंध के रूप में गिनते ही नहीं हैं और यदि गिनें भी तो वह भोगों के भोगने के कारण नहीं होता; तत्संबंधी रागादिभावों के कारण ही होता है, ज्ञानी की उपादानगत योग्यता के कारण ही होता है; परद्रव्यों के उपभोग के निमित्त से नहीं।

उक्त कथन का मर्म समझे बिना उसे ही आधार बनाकर भोगों में रत रहनेवाले लोगों को सावधान करने की भावना से आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओं की टीका लिखने के उपरान्त एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं।
फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये।।
हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से।
तो बंध है बस इसलिए निज आतमा में रत रहो।।१५१।।

हे ज्ञानी ! तुझे कभी भी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है; फिर भी यदि तू यह कहे कि 'परद्रव्य मेरा है ही नहीं और मैं उसे भोगता हूँ' – तो तू दुर्भुक्त ही है और यह महाखेद की बात है।

यदि तू यह कहे कि 'सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता; इसलिए भोगता हूँ' तो क्या तू भोगने की इच्छावाला है?

अरे भाई ! तू ज्ञानरूप होकर शुद्धस्वरूप में निवास कर; अन्यथा यदि भोगने की इच्छा करेगा, अज्ञानरूप परिणमित होगा तो अवश्य ही अपने अपराध से ही बंध को प्राप्त होगा।

यदि यह बात परमसत्य है कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता तो यह भी तो परमसत्य ही है कि भोगने की भावना से, इच्छा से, कामना से बंध होता है। अरे भाई ! तू भोगों की भावना रखे, कामना रखे और स्वयं को निर्बंध माने – यह तो उचित नहीं है, युक्तिसंगत नहीं है, शास्त्रसम्मत

नहीं है। अत: अब तू भोगने की भावना से विरत हो और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में निवास कर, उसी को जान, उसी का श्रद्धान कर और उसी का ध्यान कर; इससे ही तेरा कल्याण होगा।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि भोगों को भोगनेरूप जड़ की क्रिया से बंध

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाण: फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मण:।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनि:।।१५२।।

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२४।।
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२५।।
जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२६।।
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२७।।

नहीं होता; तथापि भोगने की भावना और भोगों में सुखबुद्धि से बंध अवश्य होता है; अत: ज्ञानियों को भोगों से विरत ही रहना चाहिए।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को।
फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता।।
फलाभिलाषाविरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें।
सब कर्म करते हुए भी वे कर्मबंधन ना करें।।१५२।।

कर्म (कार्य) उसके कर्ता को फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता अर्थात् कर्म कर्ता से यह नहीं कहता कि तू मेरे फल को भोग; अपितु फल की इच्छावाला व्यक्ति ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को प्राप्त करता है। कर्म के प्रति राग नहीं रखनेवाले और ज्ञानरूप रहनेवाले मुनिराज कर्मफल के त्यागरूप स्वभाववाले होने से कर्म करते हुए भी कर्म से नहीं बँधते।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि भोगरूप कर्म तो कर्ता आत्मा से यह नहीं कहते कि तुम हमें भोगो; किन्तु भोगों की वांछावाला अज्ञानी जीव स्वयं उनसे जुड़कर उन्हें भोगता है

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२४।।
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान्
सुखाेत्पादकान्।।२२५।।

यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२६।।
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२७।।

और कर्मबंधन को प्राप्त होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मुनि कर्मफल की वांछा से रहित होने के कारण, ज्ञानरूप रहने के कारण भोगरूप कर्म में प्रवर्तित होते हुए भी कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होते।

जो बात उत्थानिकारूप विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथाओं में सोदाहरण समझाते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

आजीविका के हेतु नर ज्यों नृपति की सेवा करे।
तो नरपती भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे।।२२४।।
इस ही तरह जब जीव सुख के हेतु सेवे कर्मरज।
तो कर्मरज भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे।।२२५।।
आजीविका के हेतु जब नर नृपति सेवा ना करे।
तब नृपति भी उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे।।२२६।।
त्यों कर्मरज सेवे नहीं जब जीव सुख के हेतु से।
तो कर्मरज उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे।।२२७।।

जिसप्रकार इस जगत में कोई भी पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है; उसीप्रकार जीवरूपी पुरुष सुख के लिए कर्मरज का सेवन करता है तो वह कर्म भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है।

जिसप्रकार वही पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री नहीं देता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयभोगों के

लिए कर्मरज का सेवन नहीं करता तो वह कर्म भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री नहीं देता।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में उक्त चार गाथाओं का चार पंक्तियों में सीधा-सादा सा अर्थ कर दिया है; जो इसप्रकार है –

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते तत: स राजा तस्य फलं ददाति, तथा जीव: फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति।

यथा च स एव पुरुष: फलार्थं राजानं न सेवते तत: स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा सम्यग्दृष्टि: फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम्।।२२४-२२७।।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क:।।१५३।।

''जिसप्रकार कोई पुरुष फल के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उसे फल देता है; उसीप्रकार जीव फल के लिए कर्म का सेवन करता है तो कर्म उसे फल देता है तथा जिसप्रकार वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे फल नहीं देता; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म का सेवन नहीं करता तो वह कर्म भी उसे फल नहीं देता – यह तात्पर्य है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि अज्ञानी भोगों की आकांक्षा से कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक शुभाशुभभावों में प्रवर्तता है; इसकारण वह अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों से बँधता है और ज्ञानी जीव भोगों की आकांक्षा से कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक शुभाशुभभावों में नहीं प्रवर्तता। यद्यपि उसके भी चारित्रमोह के उदय में भूमिकानुसार शुभाशुभभाव पाये जाते हैं; तथापि वह उनमें रत नहीं होता; इसकारण वह अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों से नहीं बँधता; अपितु उसके पूर्वकर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य कहते हैं; जिसमें कहा गया है कि जो फल की वांछा नहीं रखता, उसे कर्ता कहना भी ठीक नहीं है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जिसे फल की चाह ना वह करे – यह जँचता नहीं।
यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है।।
अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानिजन।
सब कर्म करते या नहीं – यह कौन जाने विज्ञजन।।१५३।।

जिसने कर्म का फल छोड़ दिया, वह कर्म करता है – ऐसी प्रतीति तो हमें नहीं होती; किन्तु

यदि ज्ञानी को ऐसा कर्म अवशता से आ पड़ता है तो भी जो ज्ञानी अपने अकंप परमज्ञानस्वभाव में स्थित है; वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं – यह कौन जानता है ?

यहाँ 'यह कौन जानता है' – कहकर ज्ञानीजन या सर्वज्ञ परमात्मा भी यह बात नहीं जानते – यह नहीं कहना चाहते हैं; बल्कि यह कहना चाहते हैं कि इस बात की गहराई को अज्ञानीजन नहीं जानते।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंत: स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ।।१५४।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मफल की वांछा से रहित ज्ञानी जीवों के प्रत्याख्यानावरणादि कर्मों के उदय के अनुसार जो भी रागादिभाव और उन भावों के अनुसार जो भी बाह्य क्रियायें देखी जाती हैं; उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व से वे ज्ञानीजन भिन्न ही रहते हैं; उनका कर्ता-भोक्ता वे स्वयं को नहीं मानते; इसकारण उन्हें तत्संबंधी बंध भी नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है।

अब इसके बाद आगामी गाथाओं में आचार्यदेव सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विवेचन आठ गाथाओं में करने जा रहे हैं; जिनमें सर्वप्रथम नि:शंकित अंग है, जो जिनोपदिष्ट तत्त्वज्ञान के संबंध में शंका-आशंकाओं के अभावरूप तथा सप्तभयों के अभावरूप होता है।

अब यहाँ नि:शंकित अंग संबंधी गाथा की उत्थानिकारूप एक कलश काव्य आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे।
फिर भी अरे अतिसाहसी सद्दृष्टिजन निश्चल रहें।।
निश्चल रहें निर्भय रहें नि:शंक निज में ही रहें।
नि:सर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें।।१५४।।

जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपना मार्ग छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी ये सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव से ही निर्भय होने से समस्त शंकाओं-आशंकाओं को छोड़कर ज्ञानशरीरी अपने आत्मा को अवध्य जानकर ज्ञान से च्युत नहीं होते।

ऐसा परम साहस करने में मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ होते हैं।

लोक में कितनी ही विपरीत परिस्थितियाँ क्यों न आवें, मरण का अवसर भी उपस्थित क्यों न हो जाये; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव आकुलित नहीं होते, भयाक्रान्त नहीं होते; क्योंकि वे अच्छीतरह जानते हैं कि भौतिक देह का वियोग तो स्वाभाविक ही है; परन्तु मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ, मेरे इस

ज्ञानशरीर का वियोग तो संभव ही नहीं है; क्योंकि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप ही हूँ और अनादि-अनंत अविनाशी परमपदार्थ हूँ। ज्ञानी जीवों को इस दृढ़ श्रद्धा के कारण उन्हें बंध नहीं होता है, अपितु निर्जरा ही होती है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि चाहे जैसी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आवें, फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव आत्मश्रद्धान से च्युत नहीं होते और न किसी भी प्रकार से भयाक्रान्त होते हैं।

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।२२८।।

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ।।२२८।।

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतोऽत्यंतकर्मनिरपेक्षतया वर्तंते, तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते ।।२२८।।

इसप्रकार सम्यक्त्व की महिमा बताकर अब आचार्यदेव सम्यक्त्व के आठ अंगों की चर्चा गाथाओं के माध्यम से करते हैं।

अब सर्वप्रथम नि:शंकित अंग का स्वरूप बतानेवाली गाथा लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

नि:शंक हों सद्दृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें।
वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही नि:शंक हैं।।२२८।।

सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंक होते हैं, इसीकारण निर्भय भी होते हैं। चूँकि वे सप्तभयों से रहित होते हैं; इसलिए नि:शंक होते हैं।

उक्त सीधी-सरल गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र दो पंक्तियों में ही स्पष्ट कर देते हैं; जो इसप्रकार है -

''चूँकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्वकर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं; इसलिए वे कर्मों के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं।

अत्यन्त सुदृढ़ निश्चयवाले होने से वे अत्यन्त निर्भय होते हैं।''

इस गाथा की विशेषता यह है कि इसमें शंका शब्द का अर्थ भय किया गया है और सप्तभयों से रहित सम्यग्दृष्टि को नि:शंक अथवा नि:शंकित अंग का धारी कहा गया है; जबकि समन्तभद्रादि आचार्यों ने शंका का अर्थ संदेह किया है और आत्मा-परमात्मा, सप्ततत्त्व एवं देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को भली-भाँति समझकर नि:संदेह होने को ही नि:शंकित अंग बताया है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि जैनतत्त्वज्ञान के प्रति नि:संदेह दृढ़ श्रद्धान होना और सप्तभयों से

रहित होना ही सम्यग्दर्शन का नि:शंकित अंग है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि की निर्भयता का आधार भी तो जिनदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान ही है; जिसमें यह बताया गया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और अपने परिणमन का कर्ता-धर्ता स्वयं ही है।

प्रत्येक आत्मा अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का जिम्मेवार स्वयं ही है; उसके इस परिणमन में इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोक: शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येकक:।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी: कुतो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५५।।

उक्त सप्तभयों में से इहलोकभय और परलोकभय संबंधी प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(हरिगीत)

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है।
अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है।।
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।
वे तो सतत नि:शंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।१५५।।

पर से भिन्न आत्मा का यह चित्स्वरूप लोक ही एक शाश्वत और सदा व्यक्त लोक है; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है, अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही मेरा लोक है - ऐसा अनुभव करनेवाले ज्ञानी को इहलोक और परलोक का भय कैसे हो; क्योंकि ज्ञानीजन तो स्वयं निरन्तर नि:शंक वर्तते हुए सहजज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

वर्तमान भव को इहलोक और आगामी भवों को परलोक कहते हैं। इस भव में जो अनुकूलता प्राप्त है, वह जीवनपर्यन्त बनी रहेगी या नहीं ? इसप्रकार की चिन्ता बनी रहना इहलोकभय है और मरने के बाद परलोक में न मालूम क्या होगा - ऐसी चिन्ता का रहना परलोकभय है।

नि:शंकित अंग के धनी सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में तो अपना ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही अपना लोक है। इस भव संबंधी या परभव संबंधी संयोगों को वह अपना लोक नहीं मानता; इसलिए उसे इस लोक संबंधी या परलोक संबंधी संयोगों के वियोग की आशंका नहीं होती। उसे न तो इष्ट संयोगों के वियोग का भय होता और न ही अनिष्ट संयोगों के संयोग का भय होता है; क्योंकि उनमें उसका अपनापन ही नहीं होता। स्वयं के चैतन्यलोक में तो किसी पर का हस्तक्षेप संभव ही नहीं है; अत: वह ज्ञानी जीव निर्भय होकर, नि:शंक होकर निरन्तर उस चैतन्यलोक का ही अनुभव करता है, उसमें ही अपनेपन का अनुभव करता है और निराकुल रहता है, नि:शंक रहता है, निर्भय रहता है।

इस क्षणभंगुर लोक में संयोगों का वियोग तो निरन्तर होता ही रहता है; इसकारण अनुकूल संयोगों का सदा बना रहना तो संभव है ही नहीं। ऐसी स्थिति में यदि संयोगों में अपनापन रखा जायेगा तो इहलोकभय और परलोकभय अवश्यंभावी हैं; पर वस्तुस्थिति तो यही है कि पुण्य-पाप के उदय में होनेवाले संयोग अपने हैं ही नहीं; अत: उनके आने-जाने से अपना कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। अपना चैतन्यलोक तो नित्य है, ध्रुव है; उसमें कुछ बिगाड़-सुधार होता ही नहीं है, इसकारण चिन्ता करने की कोई बात ही नहीं है।

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलै:।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५६।।

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरै:।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५७।।

ज्ञानी जीवों का इसप्रकार का चिन्तन ही उन्हें निर्भय और नि:शंक रखता है।

इसप्रकार १५५वें कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी जीवों को इहलोकभय और परलोकभय नहीं होता; क्योंकि वे इहलोक और परलोक को अपना लोक ही नहीं मानते हैं। वे तो चैतन्यलोक को ही अपना लोक जानते हैं, मानते हैं और सदा ही नि:शंक रहते हैं, निर्भय रहते हैं।

अब आगामी कलश में वेदनाभय के संबंध में चर्चा करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

चूँकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों।
अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें।।
अन वेदना कोइ है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे।
वे तो सतत नि:शंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।१५६।।

वेद्य-वेदकभाव अभेद ही होते हैं, एक ही वस्तु में घटित होते हैं; इसकारण एक अचलज्ञान ही निराकुल ज्ञानियों के वेदन में आता है; यह एक वेदना ही ज्ञानियों के होती है, कोई दूसरी वेदना ज्ञानियों के होती ही नहीं है। अत: उन्हें वेदनाभय कैसे हो सकता है ? वे तो निरन्तर स्वयं नि:शंक वर्तते हुए सहज ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नि:शंकित अंग के धनी सम्यग्दृष्टि जीवों के वेदनाभय भी नहीं होता और वे निरन्तर नि:शंक और निर्भय रहते हुए अपने ज्ञानस्वभाव का ही वेदन करते हैं।

अब आगामी कलश में अरक्षाभय की चर्चा करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज आतमा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं।
है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं।।
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।१५७।।

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य–
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५८।।

जो सत् है, उसका नाश नहीं होता – ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् है; इसलिए यह भी नाश को प्राप्त नहीं होता। इसकारण पर के द्वारा उसके रक्षण की बात ही कहाँ उठती है ? अरे भाई! जब ज्ञान का किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं है, तब ज्ञानी को अरक्षाभय कैसे हो सकता है ? अतः ज्ञानी तो सहजज्ञान का वेदन करता हुआ निरन्तर निःशंक ही रहता है।

उक्त कलश में इस बात को वजन देकर कहा गया है कि जो वस्तु सत्तास्वरूप है, अस्तित्वमयी है; उसका नाश होना संभव नहीं है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता। आत्मा भी एक वस्तु है; अतः उसका भी नाश संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसकी सुरक्षा की चिन्ता करना, उसका नाश न हो जाये – ऐसी आशंका से भयाक्रान्त रहना, सशंकित रहना कहाँ की समझदारी है।

इस बात को ज्ञानीजन भली–भाँति जानते हैं; इसकारण उन्हें अरक्षाभय नहीं होता।

यह तत्त्वज्ञान और तत्त्वचिंतन ज्ञानी जीवों को अरक्षाभय से मुक्त रखता है।

अब अगुप्तिभय संबंधी कलश काव्य लिखते है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं।
सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं।।
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।१५८।।

वास्तव में तो वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है; क्योंकि स्वरूप में पर का प्रवेश ही संभव नहीं है। अरे भाई ! अकृतज्ञान, स्वाभाविक ज्ञान, सहजज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है; इसकारण आत्मा की किंचित्मात्र भी अगुप्तता नहीं है तो फिर आत्मा को अगुप्तिभय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो निःशंक वर्तता हुआ निरन्तर सहजज्ञान का ही वेदन करता है।

प्रत्येक संसारी प्राणी स्वयं सुरक्षित स्थान पर रहना चाहता है और अपनी संपत्ति को भी सुरक्षित रखने के लिए गुप्त रखना चाहता है। इसकारण निरन्तर ऐसे गुप्त स्थान की खोज में रहता है कि जहाँ उसे या उसकी संपत्ति को कोई खतरा न हो। ऐसा स्थान प्राप्त होना तो संभव ही नहीं है; दूसरे यदि कहीं-कोई स्थान अपेक्षाकृत सुरक्षित मिल भी जाये; तो भी वहाँ भी कोई प्रवेश न कर जाये - इस बात का भय सदा बना ही रहता है।

इसप्रकार अज्ञानी प्राणी निरन्तर अगुप्तिभय से पीड़ित रहते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५९।।

किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव यह अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु में नास्तित्व नाम का एक गुण है, शक्ति है; जिसका कार्य ही यह है कि स्ववस्तु में परवस्तु का प्रवेश ही न हो। आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी आजतक न पर का प्रवेश ही हुआ है और न कभी होगा ही। इसकारण वह परमगुप्त ही है। उसे अन्य किसी गुप्त स्थान की आवश्यकता ही नहीं है, वह स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप अभेद्य किला है।

इसप्रकार का चिन्तन और पक्के निर्णय के कारण ज्ञानी जीवों को अगुप्तिभय नहीं होता।

अब मरणभय संबंधी कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को।
ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो।।
तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों।
वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें।।१५९।।

प्राणों के उच्छेद को मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान ही हैं और उस ज्ञान के स्वयं शाश्वत होने से उसका नाश कभी भी संभव नहीं है। इसकारण आत्मा का मरण संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी को मरणभय कैसे हो सकता है ?

ज्ञानी तो निरन्तर स्वयं निःशंक रहकर सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण - ये पाँच इन्द्रियाँ; मन, वचन और काय - ये तीन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास - ये दस प्राण कहे गये हैं। व्यवहारनय से संसारी जीव इन प्राणों से जीता है और उनका वियोग होने से उसका मरण माना जाता है; किन्तु निश्चयनय से तो ज्ञानदर्शनरूप चेतना ही जीव के वास्तविक प्राण हैं। अनादि से अनन्तकाल तक रहनेवाले इन ज्ञान-दर्शन गुणों

का नाश संभव ही नहीं है; इसकारण आत्मा को स्वयं के नाशरूप मरण का भय कैसे हो सकता है? इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर ज्ञानीजन मरणभय से रहित होते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा को अमर जाननेवाले ज्ञानीजीव मरणभय से आक्रान्त नहीं होते, आकुलित नहीं होते, अशान्त नहीं होते; वे तो निरन्तर नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

अब आकस्मिकभय संबंधी कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय:।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१६०।।

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्ण–स्वरस–निचितज्ञान–सर्वस्वभाज:
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंध:
पूर्वापात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।१६१।।

(हरिगीत)

इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है।
यह है सदा ही एक–सा एवं अनादि–अनंत है।।
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।
वे तो सतत नि:शंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें।।१६०।।

यह स्वत:सिद्ध ज्ञान ही अनादि है, अनन्त है, अचल है और एक है; इसमें पर का उदय नहीं है; इसलिए इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिकभय कैसे हो सकता है ? वह ज्ञानी तो स्वयं नि:शंक रहता हुआ सदा सहज ज्ञान का ही वेदन करता है।

जिसकी संभावना ही नहीं हो, जिसके होने की हमने कभी कल्पना ही न की हो; ऐसी कोई प्रतिकूलता न आ जाये, विपत्ति न आ जाये – ऐसी आशंका का नाम, ऐसी आकुलता का नाम, ऐसी अशान्ति का नाम आकस्मिकभय है। अज्ञानी जीवों को इसप्रकार का भय सदा ही बना रहता है।

दुर्घटना बीमा कराना या जीवन बीमा कराना आदि प्रयास इसीप्रकार के भय के परिणाम हैं।

ज्ञानी जीव इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मेरा यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा तो अनादि–अनंत त्रिकालीध्रुव अचल पदार्थ है। इसमें कुछ भी आकस्मिक संभव नहीं है; क्योंकि एक तो इसमें पर का प्रवेश ही नहीं है, इसमें कुछ घटित ही नहीं होता है तो फिर कुछ भी दुर्घटित कैसे होगा ? दूसरे जब सबकुछ स्वयं की पर्यायगत योग्यता के अनुसार सुनिश्चित ही है तो फिर अचानक कुछ हो जाने की बात ही कहाँ रहती है ? इसप्रकार स्वयं के नित्यस्वभाव और पर्यायों के

क्रमनियमित प्रवाह पर अडिग आस्था रखनेवाले ज्ञानियों को आकस्मिकभय कैसे हो सकता है ?

सात भयों संबंधी कलश समाप्त होने के बाद आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

नित नि:शंक सद्दृष्टि को, कर्मबंध न होय।
पूर्वोदय को भोगते, सतत निर्जरा होय।।१६१।।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२२९।।

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य:।।२२९।।

यतो हि सम्यग्दृष्टि: टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावा–न्निश्शंक:, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंध:, किंतु निर्जरैव।।२२९।।

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३०।।

टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यग्दृष्टियों के नि:शंकित आदि चिह्न (अंग) समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं; इसकारण कर्मोदय होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को पुन: किंचित्मात्र भी कर्म का बंध नहीं होता; किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोदय को भोगने पर उस कर्म की नियम से निर्जरा ही होती है।

यह तो पहले कहा ही था कि नि:शंकित अंग संबंधी दो गाथायें हैं, जिनमें पहली की व्याख्या तो हो चुकी, जिसमें सप्तभयों को ही शंका दोष बताया गया है और उक्त सप्तभयों से रहित सम्यग्दृष्टि जीवों को नि:शंकित अंग का धारी कहा गया है।

अब इस गाथा में कर्मबंध के कारणरूप मिथ्यात्वादि चार भावों के अभावरूप भाव को नि:शंकित अंग बताया जा रहा है; जो इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो कर्मबंधन मोह कर्ता चार पाये छेदते।
वे आतमा नि:शंक सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना।।२२९।।

जो आत्मा कर्मबंध संबंधी मोह करनेवाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को छेदता है; उसको नि:शंक अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

आत्मख्याति में इस गाथा की टीका अतिसंक्षेप में लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एकज्ञायकभावमय होने के कारण कर्मबंध की शंका करनेवाले (जीव निश्चय से भी कर्मों से बँधा है, आदि रूप संदेह या भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावों का अभाव होने से नि:शंक है, इसलिए उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही

होती है।''

उक्त कथन का भाव यह है कि जब ज्ञानी की दृष्टि में बंध के चारों कारणों में अपनापन नहीं रहा तो आत्मा में तो उनका अभाव ही हो गया। कदाचित् लोक में उनकी सत्ता हो भी तो ज्ञानी को उससे क्या अन्तर पड़ता है; जब उसका अपनापन टूट गया तो उसके लिए तो अभाव ही हो गया।

अब नि:कांक्षित अंग संबंधी गाथा कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२३०।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षः, ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव ।।२३०।।

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३१।।
जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३२।।

(हरिगीत)

सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा।
वे आतमा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना ।।२३०।।

जो चेतयिता आत्मा कर्मों के फलों के प्रति और सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता; उसको नि:कांक्षित अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र नि:शंकित अंग के समान ही अति संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। शब्दावली भी बहुत कुछ नि:शंकित के समान ही है।

आत्मख्याति का कथन इसप्रकार है –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सभी कर्मफलों एवं वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से नि:कांक्षित अंग सहित होते हैं; इसलिए उन्हें कांक्षाकृत बंध नहीं होता; किन्तु निर्जरा ही होती है।''

गाथा में सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मफलों के साथ-साथ सर्वधर्मों के प्रति भी निर्वांच्छक बताया गया है तथा गाथा में समागत धर्म शब्द का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में वस्तुधर्म कहकर किया है।

अब निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तुधर्मों के प्रति।
वे आतमा ही निर्जुगुप्सक समकिती हैं जानना ।।२३१।।
सर्व भावों के प्रति सद्दृष्टि हैं असंमूढ़ हैं।
अमूढ़दृष्टि समकिती वे आतमा ही जानना ।।२३२।।

जो चेतयिता आत्मा सभी धर्मों के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता; उसको निर्विचिकित्सा अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता आत्मा समस्त भावों में अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिवाला है; उसको निश्चय से अमूढ़ –दृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३१।।
यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३२।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावा–न्निर्विचिकित्सः, ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढदृष्टिः, ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।।२३१–२३२।।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३३।।
उम्मग्गं गच्छतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३४।।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से निर्विचिकित्सा अंग का धारी और सभी भावों में मोह का अभाव होने से अमूढ़दृष्टि अंग का धारी है। इसलिए उसे निश्चय से विचिकित्साकृत एवं मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।''

ध्यान रहे, यहाँ उक्त दोनों गाथाओं की टीका बहुत–कुछ समान होने के कारण पुनरावृत्ति से बचने के लिए दोनों गाथाओं की टीकाओं का अर्थ एकसाथ किया गया है। इसीप्रकार का प्रयोग आगे के अंगों में भी किया जायेगा।

यहाँ निर्विचिकित्सा अंग में सभी धर्मों में ग्लानि नहीं होने की एवं अमूढ़दृष्टि अंग में सभी भावों में मूढ़ता नहीं होने की बात कही गई है।

इसप्रकार मलिनपदार्थों और मलिनभावों में ग्लानि नहीं होना निर्विचिकित्सा अंग है तथा देव–शास्त्र–गुरु व जीवादि तत्त्वों की सच्ची समझ होना, इनके सन्दर्भ में मूढ़ता नहीं होना ही अमूढ़दृष्टि अंग है।

अब उपगूहन अंग एवं स्थितिकरण अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

जो सिद्धभक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें।
वे आतमा गोपनकरी सद्दृष्टि हैं यह जानना।।२३३।।
उन्मार्गगत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में।
वे आतमा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना।।२३४।।

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३३।।
उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३४।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।।२३३-२३४।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी, ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः, किन्तु निर्जरैव।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३५।।
विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३६।।

जो चेतयिता सिद्धों की भक्ति से युक्त हैं और परवस्तुओं के सभी धर्मों को गोपनेवाला है; उसको उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को सन्मार्ग में स्थापित करता है, वह स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करनेवाला होने से उपबृंहक है, आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, उपगूहन या उपबृंहण अंग का धारी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से च्युत होने पर स्वयं को मोक्षमार्ग में स्थापित कर देने से स्थितिकरण अंग का धारी है। इसलिए उसे शक्ति की दुर्बलता से होनेवाला और मार्ग से च्युत होने से होनेवाला बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।''

इसप्रकार साधर्मियों के दोषों को उजागर न करना तथा अपने गुणों में निरंतर वृद्धि करना उपगूहन या उपबृंहण अंग है और स्व और पर को मुक्ति के मार्ग में दृढ़ता से स्थापित करना स्थितिकरण अंग है।

अब वात्सल्य अंग और प्रभावना अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(हरिगीत)

मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति रखें वत्सल भाव जो।
वे आतमा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना।।२३५।।
सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हो जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।
वे प्रभावक जिनमार्ग के सद्दृष्टि उनको जानना।।२३६।।

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३५।।
विद्यारथमारूढ़ः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३६।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेद-बुद्धय़ा सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः, किन्तु निर्जरैव।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजन-नात्प्रभावनाकरः, ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।।२३५-२३६।।

(मन्दाक्रान्ता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य।।१६२।।

जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र – इन साधनों के प्रति अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन साधुओं के प्रति वात्सल्य करता है; वह वात्सल्य अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ, मनरूपी रथ के पथ में भ्रमण करता है; वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला अर्थात् प्रभावना अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता है, अनुभव करता है; इसकारण मार्गवत्सल है, मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, वात्सल्य अंग का धारी है और ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करके, विकसित करके स्वयं में प्रभाव उत्पन्न करता है, प्रभावना करता है; इसकारण प्रभावना अंग का धारी है। इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला और ज्ञान की प्रभावना के अपकर्ष से होनेवाला बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।''

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के सन्दर्भ में निश्चय अंग और व्यवहार अंग का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है; किन्तु इस समयसार ग्रंथ में निश्चय की मुख्यता से ही इन अंगों का कथन है। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है।

अब इस निर्जरा अधिकार का समापन करते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा व्यक्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अन्तिम कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

इति निर्जरा निष्क्रांता।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यामात्मख्यातौ निर्जराप्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः।

(दोहा)

बंध न हो नव कर्म का, पूर्व कर्म का नाश।
नृत्य करें अष्टांग में, सम्यग्ज्ञान प्रकाश।।१६२।।

इसप्रकार नवीन बंध रोकता हुआ और अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्धकर्मों का नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं निजात्मा के अतिरस से आदि, मध्य और अंतरहित ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके नाचता है।

उक्त कलश में नवीन बंध को रोकनेवाले और पुराने कर्मों की निर्जरा करनेवाले अष्ट अंगों से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव आनन्द में मग्न होकर नाचते हैं – ऐसा कहकर सम्यक्त्व की महिमा बताई गई है।

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के निरंतर होनेवाली निर्जरा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

प्रत्येक अधिकार के समान इस अधिकार के अन्त में भी आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि इसप्रकार रंगभूमि से निर्जरातत्त्व निकल गया।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में निर्जरा का प्ररूपक छठवाँ अंक समाप्त हुआ।

●●●

बंधाधिकार

अथ प्रविशति बंधः।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्–
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति।।१६३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

करम–योग–हिंसा–विषय, न कर्मबंध के हेतु।
मोह, राग अर द्वेष हैं, कर्मबंध के हेतु।।

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारी भावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया है और निर्जराधिकार में भेदविज्ञान सम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों को भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है – इस बात को सयुक्ति समझाया है।

अब बंधाधिकार में बंध का मूलकारण क्या है ? – इस बात पर गंभीरता से विचार करते हैं।

इस अधिकार की आत्मख्याति टीका आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अन्य अधिकारों के समान यहाँ भी आरंभिक वाक्य इसप्रकार लिखते हैं –

'अब बंध प्रवेश करता है।' तात्पर्य यह है कि अब रंगमंच पर बंधतत्त्व प्रवेश करता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि इस ग्रन्थाधिराज को आत्मख्याति टीका में नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र सर्वप्रथम बंध का अभाव करनेवाले निरुपधि सम्यग्ज्ञान को स्मरण करते हुए मंगलाचरण करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया।।
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने।
अति ही अनाकुलभाव से उस बंध का मर्दन किया।।१६३।।

नित्य ही आनन्दामृत का भोजन करनेवाला धीर, उदार, अनाकुल और निरुपधि ज्ञान राग के उदयरूपी महारस के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त करके रसभाव से भरे हुए, नृत्य करते हुए, खेलते हुए बंध को धुनता (नष्ट करता) हुआ उदय को प्राप्त होता है।

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं।।२३७।।
छिंदति भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं।।२३८।।
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण।।२४१।।

इस मंगलाचरण के कलश में बंध को धुननेवाले उदितज्ञान को स्मरण किया गया है।

सम्पूर्ण जगत को मोहरूपी मदिरा पिलाकर मदोन्मत्त करके यह बंधरूपी सुभट महानृत्य करते हुए खेल रहा था। ऐसे बंधरूपी सुभट को पराजित करके ज्ञानरूपी सुभट उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञानरूपी सुभट धीर है, उदार है, अनाकुल है और सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है।

इसप्रकार इस कलश में बंध का अभाव करनेवाले सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान को नमस्कार किया गया है।

मंगलाचरण के उपरान्त अब मूल गाथायें आरंभ करते हैं। सर्वप्रथम अज्ञानी जीव रागादि से लिप्त होने के कारण बंध को प्राप्त होता है – इस बात को पाँच गाथाओं के द्वारा सोदाहरण समझाते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से।।२३७।।
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे।।२३८।।
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किस कारण हुआ।।२३९।।
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से।।२४०।।
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
सब कर्मरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन।।२४१।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम्।।२३७।।
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिण्डीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम्।।२३८।।
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः।।२३९।।
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः।।२४०।।
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा।।२४१।।

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः, शस्त्र-व्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते।

जिसप्रकार कोई पुरुष अपने शरीर में तेल आदि चिकने पदार्थ लगाकर बहुत धूलवाले स्थान में रहकर शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़, तमाल, केला, बाँस, अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात (नाश) करता है।

इसप्रकार नानाप्रकार के साधनों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष के धूलि का बंध किसकारण से होता है ? – निश्चय से इस बात का विचार करो।

उस पुरुष के जो तेलादि की चिकनाहट है; उससे ही उसे धूलि का बंध होता है, शेष शारीरिक चेष्टाओं से नहीं; ऐसा निश्चय से जानना चाहिए।

इसप्रकार बहुतप्रकार की चेष्टाओं में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग में रागादिभावों को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है, बँधता है।

उक्त पाँच गाथाओं में आरंभ की तीन गाथाओं में तेल लगाकर धूलि भरे स्थान में शस्त्रों से व्यायाम करते हुए पुरुष का उदाहरण देकर प्रश्न किया गया है कि उक्त पुरुष के जो रजबंध होता है, धूल चिपटती है; उसका कारण क्या है ?

चौथी गाथा में उत्तर दिया गया है कि उसके रजबंध का कारण तेल की चिकनाई ही है, अन्य शारीरिक चेष्टा आदि नहीं।

पाँचवीं गाथा में उसी बात को मिथ्यादृष्टि जीव पर घटित किया गया है। उसमें कहा गया है कि रागादिभावों से मिथ्यादृष्टि जीव भी अनेक शारीरिक चेष्टायें करता है; किन्तु उसे जो कर्मबंध होता है, वह रागादिभावों के कारण होता है, शारीरिक चेष्टाओं आदि के कारण नहीं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार इस जगत में तेल की मालिश किये हुए कोई पुरुष स्वभाव से बहुधूलियुक्त भूमि में खड़े होकर शस्त्रों से व्यायाम करता हुआ अनेकप्रकार के साधनों के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ धूलि से धूसरित हो जाता है, लिप्त हो जाता है, बँध जाता है।

यहाँ विचार करो कि उक्त कारणों में से उसके बंधन का कारण कौन है ?

तस्य कतमो बंधहेतुः ?

न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्।

न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात्।

नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात्।

न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्।

ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः।

एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा बध्यते।

तस्य कतमो बंधहेतुः ?

न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्।

स्वभाव से बहुधूलिवाली भूमि तो धूलिबंध का कारण है नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर धूलिवाली भूमि में स्थित हैं; उन्हें भी धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

शस्त्रों से व्यायामरूप कार्य भी धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर शस्त्रादि से व्यायाम कर रहे हैं; उन्हें भी धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

अनेकप्रकार के करण (साधन) भी धूलिबंध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि मर्दन नहीं किया है, पर अनेकप्रकार के करणों से सहित हैं; उन्हें धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर जिनके द्वारा सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात होता है; उन्हें भी धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

इसप्रकार यह बात न्यायबल से सिद्ध हो जाती है कि उक्त पुरुष के धूलिबंध का कारण तेल का मर्दन ही है।

इसप्रकार अपने में रागादिभाव करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव से ही बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों (कार्मणवर्गणाओं) से भरे हुए इस लोक में काय, वचन और मन संबंधी कार्य करते हुए अनेकप्रकार के करणों (साधनों) के द्वारा सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रज से बँधता है।

यहाँ विचार करो कि उक्त कारणों में से मिथ्यादृष्टि जीव को बंध होने का कारण कौन है ?

स्वभाव से कर्मयोग्य पुद्गलों (कार्मणवर्गणाओं) से भरा हुआ लोक तो बंध का कारण है नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो लोकाग्र में स्थित सिद्धों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवल-ज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ।।२३७-२४१ ।।

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगमभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ।।१६४।।

काय, वचन और मन की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यातसंयमियों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

अनेकप्रकार के करण (इन्द्रियाँ) भी बंध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो समिति में तत्पर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

इसप्रकार यह बात न्यायबल से ही सिद्ध हो जाती है कि उपयोग में रागादि का होना ही बंध का कारण है।''

इसीप्रकार का भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(हरिगीत)

कर्म की ये वर्गणाएँ बंध का कारण नहीं।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं।।
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही।।१६४।।

पुरुषों के लिए कर्मबंध करनेवाला न तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलन स्वरूप कर्म अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया है, न अनेकप्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु आत्मा में रागादि के साथ होनेवाली एकत्वबुद्धि ही एकमात्र बंध का वास्तविक कारण है।

इस कलश में वही बात दुहरा दी गई है, जो गाथाओं और उनकी टीका में कही गई है।

विगत पाँच गाथाओं में मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्वसहित रागादि के कारण बंध होता है - यह बताया था; अब आगामी पाँच गाथाओं में यह बताते हैं कि उन्हीं परिस्थितियों में मिथ्यात्व सहित रागादिभावों के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टियों को बंध नहीं होता।

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं।।२४३।।
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४५।।
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण।।२४६।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणू बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से।।२४२।।
तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे।।२४३।।
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ ?।।२४४।।
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से।।२४५।।
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए।
बस कर्मरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन।।२४६।।

जिसप्रकार वही पुरुष सभीप्रकार के तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के दूर किये जाने पर बहुत धूलिवाले स्थान में शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है और ताल, तमाल, केला, बाँस और अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त–अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है।

इसप्रकार नानाप्रकार के करणों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष को धूलि का बंध वस्तुत: किसकारण से नहीं होता – यह निश्चय से विचार करो।

निश्चय से यह बात जानना चाहिए कि उसके जो बंध होता था, वह तेल आदि चिकनाई के कारण होता था, अन्य कायचेष्टादि कारणों से नहीं।

इसप्रकार बहुतप्रकार के योगों में वर्तता हुआ सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि को न करता हुआ कर्मरज से लिप्त नहीं होता।

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ।।२४२।।
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ।।२४३।।
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ।।२४४।।
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ।।२४५।।
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ।।२४६।।

यथा स एव पुरुषः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति, तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात्; तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादी न कुर्वाणः सन्, तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेक-प्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बंधहेतोर-भावात् ।।२४२-२४६।।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ।।१६५।।

इन गाथाओं का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है -

''जिसप्रकार वही पुरुष सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर उसी स्वभाव से ही धूलि से भरी हुई भूमि में वहीं शस्त्रव्यायामरूपी कर्म (कार्य) को करता हुआ, उन्हीं अनेकप्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ धूलि से लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसके धूलि से लिप्त होने का कारण तेलादि के मर्दन का अभाव है।

उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने में रागादि को न करता हुआ, उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेकप्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता; क्योंकि उसके बंध के कारणभूत राग के योग का अभाव है।''

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो।।
चिद् अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो।।१६५।।

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ।।१६६।।

भले ही लोक कार्मणवर्गणा से भरा हुआ हो; मन, वचन एवं काय के परिस्पन्दरूप योग भी हो; अनेकप्रकार के पूर्वोक्त करण भी हों तथा चेतन-अचेतन पदार्थों का घात भी हो; तो भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति में भी सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादि को उपयोग भूमि में न लाता हुआ मात्र ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ किसी भी कारण से बंध को प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन की कुछ ऐसी ही महिमा है।

यद्यपि कार्मणवर्गणा, मन-वचन-कायरूप योग, चेतन-अचेतन की हिंसा और पंचेन्द्रियों के भोगों से बंध नहीं होता; तथापि निरर्गल प्रवृत्ति उचित नहीं है। अब इस भावना को व्यक्त करनेवाला कलश काव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तो भी निरर्गल प्रवर्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्तन तो बंध का स्थान है।।
वांछारहित जो प्रवर्तन वह बंध विरहित जानिये।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये।।१६६।।

यद्यपि उक्त चार कारणों से बंध नहीं होता; तथापि ज्ञानियों को निरर्गल प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वस्तुतः बंध का ही आयतन (स्थान) है। ज्ञानियों को जो यहाँ वांछारहित कर्म होता है, वह बंध का कारण नहीं है; क्योंकि जानता भी है और करता भी है – यह दोनों क्रियायें क्या विरोधरूप नहीं हैं ?

इसप्रकार इस १६६वें कलश में यह बताया गया है कि यद्यपि शारीरिक क्रियाओं से बंध नहीं होता; तथापि ज्ञानियों को निरर्गलप्रवृत्ति नहीं करना चाहिए, स्वच्छन्दप्रवृत्ति नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वच्छन्दप्रवृत्ति रागादिभावों के बिना संभव नहीं है तथा रागादिभाव तो बंध के कारण ही हैं।

विगत कलश की अन्तिम पंक्ति में कहा गया था कि जाननक्रिया और करना क्रिया क्या परस्पर विरुद्ध नहीं हैं ? अब आगामी कलश में इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

मूल कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ।।१६७।।

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२४७।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ।।२४८।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ।।२४९।।
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२५०।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ।।२५१।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ।।२५२।।

(हरिगीत)

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो है बस राग ही जो करें वे जानें नहीं ।।
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।
बंध कारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ।।१६७।।

जो जानता है, सो करता नहीं है और जो करता है, सो जानता नहीं है । करना तो वास्तव में कर्म का राग है और राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि नियम से मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं और वे ही अध्यवसाय बंध के कारण हैं ।

विगत कलश में कहा गया है कि पर में कर्तृत्व की बुद्धि अज्ञानमय अध्यवसान है। अब आगामी गाथाओं में उसी बात को विस्तार से समझाते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः।।२४७।।
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम्।।२४८।।
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः।।२४९।।
यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः।।२५०।।
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम्।।२५१।।
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः।।२५२।।

(हरिगीत)

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन।।२४७।।
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं।।२४८।।
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं।।२४९।।
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन।।२५०।।
सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं।।२५१।।
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं।।२५२।।

जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है; वह ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। तू परजीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है; फिर तूने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। पर जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं; फिर उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं; वह मूढ़ है; अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता; वह ज्ञानी है।

परजीवानहं हिनस्मि, परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् – मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि, हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत् – परजीवानहं जीवयामि, परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् – जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्य-माणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि, जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।।२४७-२५२।।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं है; फिर तूने उनका जीवन कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं; फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया ?

इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार किया गया है –

मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं – ऐसा अध्यवसाय (मिथ्या अभिप्राय) नियम से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और वह अध्यवसाय जिसके नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

वस्तुतः जीवों का मरण तो अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है; क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है तथा किसी के द्वारा किसी के आयुकर्म का हरण अशक्य है; क्योंकि वह आयुकर्म अपने उपभोग से ही क्षय होता है। इसप्रकार कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का मरण किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता है। इसलिए मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं – ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।

इसीप्रकार परजीवों को मैं जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं – इसप्रकार का अध्यवसाय भी ध्रुवरूप से अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

जीवों का जीवन अपने आयुकर्म के उदय से ही है; क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है। अपना आयुकर्म कोई किसी को दे नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं के परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसकारण कोई किसी भी प्रकार से किसी का जीवन नहीं कर सकता है। इसलिए मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाते हैं – इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।''

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः –

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५३।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते।।२५४।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः।।२५३।।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते।।२५४।।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः।।२५५।।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः।।२५६।।

विगत गाथाओं में जो बात जीवन-मरण के संबंध में कही गई है; उसी बात को आगामी गाथाओं में सुख-दुःख के संबंध में कहते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ?।।२५३।।
हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब।।२५४।।
हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुःख-दर्द दें किस भाँति तब।।२५५।।
हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब।।२५६।।

जो यह मानता है कि मैं स्वयं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है; वह ज्ञानी है।

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है; तो तूने उन्हें सुखी-दुःखी कैसे किया ?

परजीवानहं दु:खितान् सुखितांश्च करोमि, परजीवैर्दु:खित: सुखितश्च क्रियेऽहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टि:, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टि:।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् – सुखदु:खे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्; स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य सुखदु:खे कुर्यात्। अत: सुखितदु:खितान् करोमि, सुखितदु:खित: क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।।२५३–२५६।।

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय–
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।।१६८।।

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी–दु:खी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे दु:खी कैसे किया ?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी–दु:खी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया ?

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अतिसंक्षेप में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''परजीवों को मैं दु:खी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दु:खी तथा सुखी करते हैं – इसप्रकार का अध्यवसाय नियम से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

जीवों के सुख–दु:ख वस्तुत: तो अपने कर्मोदय से ही होते हैं; क्योंकि स्वयं के कर्मोदय के अभाव में सुख–दु:ख का होना अशक्य है तथा अपना कर्म किसी का किसी को दिया नहीं जा सकता; क्योंकि वह अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है। इसलिए किसी भी प्रकार से कोई किसी को सुखी–दु:खी नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि मैं परजीवों को सुखी–दु:खी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी–दु:खी करते हैं।''

अब इसी भाव के पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जीवन–मरण अर दुक्ख–सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने करम के उदय के अनुसार ही हों नियम से।।
करे कोई किसी के जीवन–मरण अर दुक्ख–सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है।।१६८।।

इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दु:ख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। कोई दूसरा पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जीवन–मरण और सुख–दु:ख को करता है –

ऐसी मान्यता अज्ञान है।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकिर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति।।१६९।।

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५८।।

(हरिगीत)

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को।।
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष।।१६९।।

इस अज्ञान के कारण जो पुरुष एक पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुःख को दूसरे पुरुष के द्वारा किये हुए मानते हैं, जानते हैं; पर कर्तृत्व के इच्छुक वे पुरुष अहंकार से भरे हुए हैं और आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं।

इन कलशों में २४७ से २५६ तक दश गाथाओं और उनकी टीका में समागत भाव को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

इसप्रकार उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक जीव स्वयं के जीवन-मरण और सुख दुःखों का जिम्मेवार स्वयं ही है; कोई अन्य नहीं। अतः अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कर्ता-धर्ता अन्य को मानकर उनसे राग-द्वेष करना व्यर्थ है, अपना ही अहित करनेवाला है।

इसलिए सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को चाहिए कि वे इसप्रकार की मिथ्यामान्यता छोड़कर आत्मघात के महान पाप से बचें और स्वयं को जानकर, पहिचान कर, स्वयं में ही जमकर, रमकर स्वयं के लिए अनंत सुख का मार्ग प्रशस्त करें।

जो बात उक्त कलश में कही गई है; उसी बात को अब गाथाओं में स्पष्ट कर रहे हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से।
'मैं दुःखी करता-मारता' - यह बात क्यों मिथ्या न
ह ा ` ? । । २ ५ ७ । ।

जो ना मरे या दु:खी ना हो सब करम के उदय से।
'ना दु:खी करता मारता' – यह बात क्यों मिथ्या न
ह ा ` । । २ ५ ८ । ।
यो म्रियते यश्च दु:खितो जायते कर्मोदयेन स सर्व:।
तस्मात्तु मारितस्ते दु:खितश्चेति न खलु मिथ्या।।२५७।।
यो न म्रियते न च दु:खित: सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु।
तस्मान्न मारितो नो दु:खितश्चेति न खलु मिथ्या।।२५८।।

यो हि म्रियते जीवति वा, दु:खितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्। तत: मयायं मारित:, अयं जीवित:, अयं दु:खित: कृत:, अयं सुखित: कृत: इति पश्यन् मिथ्यादृष्टि:।।२५७-२५८।।

(अनुष्टुभ्)

मिथ्यादृष्टे: स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।।१७०।।

जो मरता है और जो दु:खी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है; इसलिए 'मैंने मारा, मैंने दु:खी किया' – ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

जो मरता नहीं है और दु:खी नहीं होता है, वह सब भी कर्मोदयानुसार ही होता है; इसलिए 'मैंने नहीं मारा, मैंने दु:खी नहीं किया' – ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

तात्पर्य यह है कि जब जीवों का जीवन और मरण तथा दु:खी-सुखी होना कर्मोदयानुसार ही होता है तो फिर दूसरों को मारने-बचाने और सुखी-दु:खी करने की मान्यता मिथ्या ही है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो मरता है या जीता है, दु:खी होता है या सुखी होता है; वह वस्तुत: अपने कर्मोदय से ही होता है; क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दु:खी या सुखी होना) अशक्य है। इसकारण मैंने इसे मारा, इसे जिलाया या बचाया, इसे दु:खी किया, इसे सुखी किया – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।''

अब इसी अभिप्राय का पोषक एवं आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशकाव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

विविध कर्म बंधन करें, जो मिथ्याध्यवसाय।
मिथ्यामति निशदिन करें, वे मिथ्याध्यवसाय।।१७०।।

मिथ्यादृष्टि के जो यह अज्ञानरूप अध्यवसाय दिखाई देता है; वह अध्यवसाय ही विपरीत भावरूप होने से उस मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है।

इस कलश में परपदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भावों को अध्यवसाय कहा

गया है और उन्हें ही बंध का कारण बताया गया है।

अध्यवसाय शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से तीन अर्थों में होता है।

(१) स्वपर की एकत्वबुद्धिपूर्वक होनेवाले मिथ्या-अभिप्राय के अर्थ में,

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।२५९।।
दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

एषा तु या मतिस्ते दु:खितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
एषा ते मूढमति: शुभाशुभं बध्नाति कर्म।।२५९।।
दु:खितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति।।२६०।।
मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति।।२६१।।

(२) सामान्य परिणाम के अर्थ में और

(३) निर्मल परिणाम के अर्थ में।

अत: इसका अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाना चाहिए, अन्यथा सही भाव ख्याल में नहीं आयेगा। ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ इस प्रकरण में अध्यवसाय शब्द का अर्थ मिथ्या-अभिप्राय के अर्थ में ही है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दु:खी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे।।२५९।।
'मैं सुखी करता दु:खी करता' यही अध्यवसान सब।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में।।२६०।।
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में।।२६१।।

मैं जीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ - यह जो तेरी बुद्धि है, यही मूढ़बुद्धि शुभाशुभकर्म को बाँधती है।

मैं जीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ - ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पुण्य-पाप का बंधक है।

मैं जीवों को मारता हूँ और जिलाता हूँ – ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पाप-पुण्य का बंधक है।

परजीवानहं हिनस्मि, न हिनस्मि, दु:खयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टे:, स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतु: ।

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति – य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसाय: स एव बंधहेतु: इत्यवधारणीयम् । न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दु:खयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ।।२५९-२६१ ।।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''मिथ्यादृष्टि जीव के मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ आदि रूप जो अज्ञानमय अध्यवसाय हैं; वे अध्यवसाय ही रागादिरूप होने से मिथ्यादृष्टि जीव को शुभाशुभबंध के कारण हैं।

अब अध्यवसाय (अध्यवसान) भाव बंध के हेतु हैं – यह सुनिश्चित करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले रागादिभावरूप अध्यवसाय ही बंध के कारण हैं – यह बात भली-भाँति निश्चित करना चाहिए; इसमें पुण्य-पाप का भेद नहीं खोजना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुण्यबंध का कारण कुछ और है और पापबंध का कारण कुछ और है – ऐसा भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस एक ही अध्यवसाय के दु:खी करता हूँ, मारता हूँ और सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ – इसप्रकार दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप दोनों के बंध के कारण होने में अविरोध है। तात्पर्य यह है कि इस एक अध्यवसाय से ही पाप और पुण्य दोनों के बंध होने में कोई विरोध नहीं है।''

यद्यपि मारने और दु:खी करने के भाव की अपेक्षा बचाने और सुखी करने का भाव प्रथम दृष्टि मे कुछ अच्छा प्रतीत होता है; तथापि वस्तुस्वरूप की विपरीतता अर्थात् मिथ्यापना दोनों में समानरूप से विद्यमान है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि इनमें भेद खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले शुभ और अशुभ – दोनों ही भाव समानरूप से मिथ्याध्यवसाय हैं और वे ही बंध के कारण हैं।

इन गाथाओं की टीका के उपरान्त और आगामी गाथा के पूर्व आचार्य अमृतचन्द्र एक वाक्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

''इसप्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है – यह फलित हो गया।''

उक्त वाक्य को पिछली गाथाओं का उपसंहार भी कह सकते हैं और आगामी गाथा की

उत्थानिका भी; क्योंकि आगामी गाथा में तो साफ-साफ ही कह रहे हैं कि जीव मरे चाहे न मरे, बंध तो अध्यवसानों से ही होता है।

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायाताम्।

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।२६२।।

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य।।२६२।।

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद्भवतु, कदाचिन्मा भवतु, य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात्।।२६२।।

(हरिगीत)

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से।।२६२।।

जीवों को मारो अथवा न मारो; कर्मबंध तो अध्यवसान से ही होता है - यह निश्चय से जीवों के बंध का संक्षेप है।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''अपने कर्मों की विचित्रता के वश से परजीवों के प्राणों का व्यपरोपण (उच्छेद-वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न भी हो; तो भी 'मैं मारता हूँ' - ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके बंध का कारण है; क्योंकि निश्चय से पर के प्राणों का व्यपरोपणरूप परभाव किसी अन्य के द्वारा किया जाना शक्य नहीं है।''

यहाँ आचार्यदेव अति संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि बंध की संक्षिप्त-सी कहानी मात्र इतनी ही है कि यदि तेरे हृदय (आत्मा) में अध्यवसानभाव उत्पन्न हो गये; 'मैं परजीवों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ' - ऐसी मान्यतापूर्वक मारने-बचाने या सुखी-दुःखी करने के भाव हो गये तो फिर तुझे बंध होगा ही; क्योंकि तेरे बंध का संबंध तेरे अध्यवसानों से ही है, अन्य जीवों के मरने-जीने या सुखी-दुःखी होने से नहीं।

अन्य जीवों का जीवन-मरण और सुख-दुःख तो अनेकप्रकार की विचित्रता को लिये हुए उनके जो पूर्वोपात्त कर्म हैं, उन कर्मों के उदयानुसार उनकी विभिन्नप्रकार की पर्यायगत योग्यता से होते हैं। उनमें तेरे इन विकल्पों का, अध्यवसानभावों का कुछ भी योगदान नहीं है।

यही कारण है कि यहाँ आचार्यदेव डंके की चोट कह रहे हैं कि जीव मरे, चाहे न मरे; सुखी-दुःखी हो, चाहे न हो; पर यदि अध्यवसानभाव हैं तो बंध अवश्य होगा। बंध की प्रक्रिया का

संक्षिप्त सार यही है।

बंध के संदर्भ में जो बात २६२वीं गाथा में हिंसा के बारे में कही गई है, वही बात अब इन गाथाओं में असत्यादि के बारे में कहते हैं।

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति –

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं।।२६३।।
तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं।।२६४।।

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम्।।२६३।।
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम्।।२६४।।

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः। यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः।।२६३–२६४।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में।
जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें।।२६३।।
इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रंथ में।
जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें।।२६४।।

जिसप्रकार हिंसा–अहिंसा के संदर्भ में कहा गया है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के संदर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पाप का बंध होता है और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के संदर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पुण्य का बंध होता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''जिसप्रकार अज्ञान से हिंसा के संदर्भ में अध्यवसाय किया जाता है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के संदर्भ में भी जो अध्यवसाय किये जाते हैं; वे सब पापबंध के एकमात्र कारण हैं और जिसप्रकार अज्ञान से अहिंसा के संदर्भ में अध्यवसाय किया जाता है; उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के संदर्भ में अध्यवसान किया जाता है; वह सब पुण्यबंध का एकमात्र कारण है।''

जो बातें २६२वीं गाथा में मारने–बचाने के संदर्भ में कही गई हैं; वे सभी यहाँ इन गाथाओं में सत्य बोलने–असत्य बोलने, चोरी करने–चोरी न करने, शील पालने–शील न पालने और परिग्रह

रखने-परिग्रह न रखने के संदर्भ में समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि पुण्यबंध और पापबंध - दोनों ही प्रकार के बंधों का कारण तो एकमात्र अध्यवसानभाव ही है।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम् -

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम्।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति।।२६५।।

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्।

तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते।

यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत, तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः।

तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्।

यद्यपि यह बात विगत गाथाओं से स्पष्ट हो गई है कि बंध का कारण अध्यवसानभाव ही है; तथापि **कुछ लोगों के हृदय में यह विकल्प बना ही रहता है कि अध्यवसान के अतिरिक्त बंध का कारण कोई बाह्यवस्तु भी होना चाहिए।**

अज्ञानियों के इस विकल्प को दूर करने के लिए ही २६५वीं गाथा लिखी गई है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से।
पर वस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से।।२६५।।

जीवों के जो अध्यवसान होते हैं; वे वस्तु के अवलम्बनपूर्वक ही होते हैं; तथापि वस्तु से बंध नहीं होता, अध्यवसान से ही बंध होता है।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''अध्यवसान ही बंध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं; क्योंकि बंध के कारणभूत अध्यवसानों से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है। तात्पर्य यह है कि बंध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती।

प्रश्न - यदि बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है तो बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश किसलिए दिया जाता है ?

उत्तर – अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। बाह्यवस्तु अध्यवसान की आश्रयभूत है; क्योंकि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता, अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।

न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमितिपरिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत्, बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः ।।२६५।।

यदि बाह्यवस्तु के आश्रय बिना ही अध्यवसान उत्पन्न हों तो जिसप्रकार वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में ही किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ; उसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ; परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो किसी को उत्पन्न होता नहीं है। इसलिए यह नियम है कि बाह्यवस्तुरूप आश्रय के बिना अध्यवसान नहीं होता।

इसकारण ही अध्यवसान की आश्रयभूत बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश दिया जाता है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है।

यद्यपि बाह्यवस्तु बंध के कारण का कारण है, तथापि वह बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए मुनिराज के पैरों के नीचे कालप्रेरित उड़ते हुए तेजी से आ पड़नेवाले कीटाणु की भाँति बंध के कारण की कारणरूप बाह्यवस्तु को बंध का कारण मानने में अनेकान्तिक हेत्वाभास होता है, व्यभिचार नामक दोष आता है। इसप्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बंध का हेतुत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।

इसलिए अतद्भावरूप बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है, अपितु तद्भावरूप अध्यवसायभाव ही बंध के कारण हैं।''

वस्तुतः स्थिति ऐसी है कि आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप अध्यवसानभाव जब भी उत्पन्न होते हैं, तब वे किसी न किसी परपदार्थ के लक्ष्य से, आश्रय से उत्पन्न होते हैं। मारने का भाव किसी न किसी प्राणी के लक्ष्य से ही होता है। इसीप्रकार बचाने का भाव भी किसी न किसी के लक्ष्य से ही होता है।

इस बात को यहाँ वीरजननी के बेटे और बाँझ के बेटे के उदाहरण से समझाया गया है। वीरजननी के बेटे की सत्ता तो लोक में संभव है; किन्तु बाँझ के बेटे की सत्ता लोक में संभव ही नहीं है। यही कारण है कि किसी को वीरजननी के बेटे को मारने का भाव हो सकता है, पर बाँझ के बेटे को मारने का भाव किसी को नहीं होता; क्योंकि जिसकी लोक में सत्ता ही न हो, उसे मारने का भाव कैसे संभव है ?

इसप्रकार पर के आश्रय से अध्यवसान भाव होते हैं। यद्यपि बंध तो एकमात्र अध्यवसानभाव से ही होता है; तथापि जिन परपदार्थों या क्रियाओं के आश्रय से, अवलम्बन से अध्यवसान होते हैं; उन क्रियाओं या पदार्थों के त्याग का उपदेश भी जिनागम में दिया गया है। इसकारण लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि ये क्रियायें या परपदार्थ बंध के कारण हैं।

अध्यवसानों के आश्रयभूत परपदार्थ बंध के कारण के कारण हैं; तथापि बंध के कारण नहीं हैं। उनका निषेध भी कारण के कारण होने के कारण ही किया जाता है। इसलिए उनके निषेध से अध्यवसानों का ही निषेध समझना चाहिए।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति –

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।
अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं।।२६७।।

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या।।२६६।।
अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम्।।२६७।।

विगत गाथाओं में यह सिद्ध किया जा चुका है कि अध्यवसानभाव ही बंध के कारण हैं; अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि वे अध्यवसानभाव अपना कार्य करने में असमर्थ हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अध्यवसानभाव बंध करनेरूप कार्य करने में असमर्थ हैं; अपितु यह है कि अध्यवसानों के अनुसार जगत में कार्य हों ही, यह जरूरी नहीं है। हमने किसी को मारने का भाव किया तो यह आवश्यक नहीं है कि वह मर ही जायेगा; क्योंकि उसके जीवन-मरण तो उसकी पर्यायगत योग्यता और उसके आयुकर्म के उदय-अनुदय पर आधारित हैं।

यह कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि तेरे विकल्पानुसार तो जगत में कोई कार्य होता नहीं है, तू व्यर्थ ही विकल्प करके पाप-पुण्य क्यों बाँधता है ?

उक्त भाव को प्रदर्शित करनेवाली गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुःखी करता बाँधता या छोड़ता।
यह मान्यता हे मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना।।२६६।।
जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ?।।२६७।।

मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ – ऐसी जो तेरी मूढ़मति है; वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

यदि वास्तव में अध्यवसान के निमित्त से जीव बंधन को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं तो तू क्या करता है ? तात्पर्य यह है कि तेरा बाँधने-छोड़ने का अभिप्राय गलत ही सिद्ध हुआ न, व्यर्थ ही सिद्ध हुआ न ?

परान् जीवान् दु:खयामि सुखयामीत्यादि, बंधयामि मोचयामीत्यादि वा, यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि, परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात्, खकुसुमं लुनामीत्य-ध्यवसानवन्मिथ्यारूपं, केवलमात्मनोऽनर्थायैव।

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत् – यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयो: स्वपरिणामयो: अभावान्न बध्यते, न मुच्यते; सरागवीतरागयो: स्वपरिणामयो: सद्भावात्तस्याध्यव-सायस्याभावेऽपि बध्यते, मुच्यते च।

तत: परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि, ततश्च मिथ्यैवेति भाव: ।।२६६-२६७।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''मैं परजीवों को दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ – इत्यादि तथा बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ – इत्यादि जो अध्यवसान हैं; वे सब परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं; इसलिए ''मैं आकाशपुष्प को तोड़ता हूँ' – ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप हैं, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही हैं।

यदि कोई यह कहे कि अध्यवसान अपनी क्रिया करने से अकार्यकारी है – इसका आधार क्या है तो उससे कहते हैं कि 'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' – ऐसे अध्यवसान की अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना-छोड़ना है; किन्तु वह जीव तो हमारे इस अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी स्वयं के सराग परिणाम के अभाव से नहीं बँधता और स्वयं के वीतरागपरिणाम के अभाव से मुक्त नहीं होता; तथा हमारे उस अध्यवसाय के अभाव होने पर भी स्वयं के सरागपरिणाम के सद्भाव से बँधता है और स्वयं के वीतरागपरिणाम के सद्भाव से मुक्त होता है।

इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से हमारे ये अध्यवसानभाव अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं; इसीलिए मिथ्या भी हैं – ऐसा भाव है।''

उक्त दोनों गाथाओं के कथन का सार यह है कि यह जीव दूसरों को सुखी-दु:खी करने या बंध को प्राप्त करने या मुक्त करने के जो विकल्प (अध्यवसान) करता है; वे सभी मिथ्या हैं, निष्फल हैं; क्योंकि इसके उन विकल्पों के कारण अन्य जीव सुखी-दु:खी नहीं होते, बंध को भी प्राप्त नहीं होते और मुक्त भी नहीं होते। दूसरों का हानि-लाभ तो इसके इन विकल्पों से कुछ होता नहीं; किन्तु इन विकल्पों से विकल्प करनेवाला स्वयं कर्मबंध को अवश्य प्राप्त हो जाता है। इसकारण ये अध्यवसान-भाव करनेवाले के लिए अनर्थकारी ही हैं।

अरे भाई ! तेरे विकल्पों के कारण तेरी भावना के अनुसार परपदार्थों में कुछ भी परिणाम नहीं होता। उनमें जो कुछ भी होता है, उनकी पर्यायगत योग्यता के कारण और उनके भावों के अनुसार होता है। अत: तू विकल्प करके व्यर्थ ही परेशान क्यों होता है? इन व्यर्थ के विकल्पों से विराम लेने

में ही सार है।

इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में इन्हीं भावों का पोषक एक कलश आता है, जो आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप भी है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ।।१७१।।

(दोहा)

निष्फल अध्यवसान में, मोहित हो यह जीव।
सर्वरूप निज को करे, जाने सब निजरूप ।।१७१।।

इस निष्फल अध्यवसाय से मोहित होता हुआ यह आत्मा अपने को सर्वरूप करता है। ऐसा कुछ भी नहीं, जिस रूप यह अपने को न करता हो।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि परजीवों में इसका कुछ चलता तो है नहीं; फिर भी न मालूम क्यों यह उनको मारने-बचाने और सुखी-दुःखी करने के निष्फलभाव किया करता है ? गजब की बात तो यह है कि यह अज्ञानी जीव जिसको देखता-जानता है, उन सभी के लक्ष्य से इसप्रकार के भाव किया करता है। जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसे यह निजरूप न करता हो।

तात्पर्य यह है कि यह सभी परपदार्थों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करता रहता है। यही इसके अनन्त दुःखों का कारण है।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसी भाव की पोषक पाँच गाथायें और आती हैं; जो कि आत्मख्याति में नहीं हैं।

वे गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।

(हरिगीत)

यदि जीव कर्मों से दु:खी मैं दु:खी करता काय से।
यह मान्यता अज्ञान है जिनमार्ग के आधार से।।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

यदि जीव कर्मों से दु:खी मैं दु:खी करता वचन से।
यह मान्यता अज्ञान है जिनमार्ग के आधार से।।
यदि जीव कर्मों से दु:खी मैं दु:खी करता हृदय से।
यह मान्यता अज्ञान है जिनमार्ग के आधार से।।
यदि जीव कर्मों से दु:खी मैं दु:खी करता शस्त्र से।
यह मान्यता अज्ञान है जिनमार्ग के आधार से।।
यदि जीव कर्मों से सुखी तो मन-वचन से काय से।
मैं सुखी करता अन्य को यह मान्यता अज्ञान है।।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को काय से दु:खी करता हूँ – इसप्रकार की तेरी मति (विकल्पमयबुद्धि-मान्यता) पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को वाणी से दु:खी करता हूँ – इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को मन से दु:खी करता हूँ – इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को शस्त्रों (हथियारों) से दु:खी करता हूँ – इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से सुखी होते हैं तो मैं मन से, वचन से या काय से जीवों को सुखी करता हूँ – ऐसी बुद्धि भी मिथ्या है।

उक्त गाथाओं में आचार्यदेव ने सबकुछ मिलाकर एक ही बात कही है कि यदि जीव अपने कर्मोदय से ही सुखी-दु:खी होते हैं तो फिर तेरी यह मान्यता कि मैंने मन, वचन और काय से या शस्त्रों से किसी को सुखी-दु:खी किया है। – यह बात पूर्णत: असत्य ही है।

इसप्रकार जिनसेनीय गाथाओं की चर्चा के उपरान्त आत्मख्याति के मूल प्रकरण पर आते हैं।

जो बात विगत १७१वें कलश में कही गई है, अब उसी बात को इन गाथाओं में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं। ध्यान रहे, विगत कलश में पर को निजरूप और निज को पररूप करने की बात कही गई है। वही बात इन गाथाओं में कर रहे हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच नारक देव नर।

अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे।।२६८।।
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे।।२६९।।
सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान्।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम्।।२६८।।
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम्।।२६९।।

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात्।

तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात्।।२६८-२६९।।

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच, नारक, देव, मनुष्य - इन सब पर्यायों और अनेकप्रकार के पुण्य-पाप भावों रूप स्वयं को करता है।

इसीप्रकार यह जीव अध्यवसान से धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक - इन सबरूप भी स्वयं को करता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त सभी नारकादि पर्यायों, पुण्य-पापादि भावों और जीव-अजीव द्रव्यों में यह जीव एकत्व-ममत्व स्थापित करता है, उनका कर्ता-भोक्ता भी बनता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसप्रकार यह आत्मा क्रिया जिसका गर्भ है - ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है; उसीप्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारक करता है, उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुए सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है और उदय में आते हुए दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है।

इसीप्रकार जानने में आते हुए धर्मास्तिकाय के अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अधर्मास्तिकाय के अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अन्य जीवों के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुए पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुए लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुए अलोकाकाश के

अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है।

इसप्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है।''

इस टीका के पहले ही वाक्य में आचार्यदेव लिखते हैं कि अज्ञानी क्रिया जिसका गर्भ है – ऐसे

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव।।१७२।।

हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो हिंसा का अध्यवसान अज्ञानी को हो रहा है, उसके भीतर किसी को मारने की क्रिया करने का अभिप्राय विद्यमान है। उस अभिप्रायपूर्वक जो हिंसादि के भाव होते हैं, वे अज्ञानी के पर के प्रति एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यतारूप ही हैं।

जिसप्रकार यहाँ हिंसा के अध्यवसान से जीव अपने को हिंसक करता है; उसीप्रकार नरकादि गतिकर्म के उदय में होनेवाली नरकादि पर्यायों, पुण्य-पाप के भावों और जानने में आनेवाले धर्मादि द्रव्यों में भी अज्ञानी एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित करता है।

इसी बात को यहाँ इस भाषा में व्यक्त किया गया है कि अज्ञानी स्वयं को सर्वरूप करता है।

इसकी यह स्वयं को सर्वरूप करने की वृत्ति ही मिथ्यात्व है, महापाप है, अनन्त संसार का कारण है और तदनुसार प्रवृत्ति मिथ्याचारित्र है। उक्त वृत्ति मिथ्यादर्शन है और तदनुसार प्रवृत्ति मिथ्याचारित्र है।

अब इसी भाव का पोषक एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण।
मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके ना हो,
परमप्रतापी दृष्टिवंत वे ही मुनिवर हैं।।१७२।।

विश्व से अर्थात् समस्त द्रव्यों से भिन्न होने पर भी यह आत्मा जिसके प्रभाव से स्वयं को विश्वरूप करता है; ऐसा वह अध्यवसाय कि जिसका मूल मोह (मिथ्यात्व) है; वह जिनके नहीं है, वे ही मुनिराज हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जिन मुनिराजों के परपदार्थों और विकारीभावों में एकत्व-ममत्व व कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि न हो और जो अपने स्वरूप में स्थिर रहते हों; वे मुनिराज ही सच्चे मुनिराज हैं।

मुनिधर्म का मूल परपदार्थों और विकारीभावों में से एकत्व-ममत्व टूटकर, कर्तृत्व-भोक्तृत्व छूटकर त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में एकत्व-ममत्व होना और निज भगवान आत्मा में जम जाना, रम जाना है।

यदि यह है तो सबकुछ है और यदि यह नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इसके बिना बाह्य में कितना ही क्रियाकाण्ड क्यों न हो, कैसे भी शुभभाव क्यों न हों, बाह्याचरण भी कितना ही निर्मल क्यों न हो; यह सब मिलकर भी सच्चा मुनिपना नहीं है।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते।।२७०।।

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्।

तथा हि – यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विवक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्।

(यत्पुनः नारकोऽहमित्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैभावस्य कर्मोदय–जनितानां नारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शना–दस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्।)

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथा के माध्यम से कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं।
वे मुनीजन शुभ–अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों।।२७०।।

ये अध्यवसानभाव व इसप्रकार के अन्य अध्यवसानभाव जिनके नहीं हैं; वे मुनिराज अशुभ या शुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ये जो तीन प्रकार के अध्यवसान हैं, वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबंध के निमित्त हैं।

अब इसे ही यहाँ विस्तार से समझाते हैं – ''मैं परजीवों को मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है; उस अध्यवसानवाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी क्रिया है – ऐसे आत्मा का और राग–द्वेष के उदयमयी हनन आदि क्रियाओं का अन्तर नहीं जानने के कारण पर से भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है।

'मैं नारक हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है, वह अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है – ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित

नारक आदि भावों का अन्तर न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है।

यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि।

येषामेवैतानि च विद्यंते त एव मुनिकुंजराः केचन, सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं, सदहेतुकज्ञायकैकभावं, सदहेतुकज्ञानैरूपं च विविक्तमात्मानं जानंतः, सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च, स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात्, शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरम्।।२७०।।

'धर्मद्रव्य का ज्ञान होता है' इत्यादि जो अध्यवसान हैं, उन अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है – ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का अन्तर न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है। इसलिए ये समस्त अध्यवसान बंध के ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं, वे ही कोई विरले मुनिकुंजर सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है और सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है – ऐसे भिन्न आत्मा को जानते हुए, सम्यक् प्रकार देखते हुए और आचरण करते हुए स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान – ऐसी अमन्द अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यन्त अभाव होने से शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप अध्यवसान ही बंध के कारण हैं।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा आती है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा इसप्रकार है –

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरई।।

(हरिगीत)

इस आतमा में जबतलक संकल्प और विकल्प हैं।
तबतलक अनुभूति ना तबतक शुभाशुभ कर्म हों।।

जबतक संकल्प-विकल्प हैं, तबतक आत्मस्वभावमय ऋद्धि अर्थात् स्वानुभूति हृदय में प्रगट नहीं होती और जबतक स्वानुभूति प्रगट नहीं होती; तबतक वह जीव शुभ-अशुभ कर्म करता है।

इस गाथा का अर्थ तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन ने अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार किया है –

''जबतक यह आत्मा बाह्यविषयरूप शरीर, स्त्री–पुत्र आदि में 'ये मेरे हैं' – इत्यादि रूप ममत्वमय संकल्प करता है और अन्तर में हर्ष–विषादरूप विकल्प करता है; तबतक अनन्त

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत् –

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम्।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः।।२७१।।

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चितो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः परिणमनमात्रत्वात्परिणामः।।२७१।।

ज्ञानादि से समृद्ध आत्मतत्त्व को हृदय में नहीं जानता है। जबतक इसप्रकार का आत्मा अन्तर में स्फुरायमान नहीं होता, तबतक शुभाशुभभावों को उत्पन्न करनेवाले कर्म करता है।''

इसप्रकार इस गाथा में भी प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि स्वानुभूति से रहित संकल्प–विकल्परूप अध्यवसानभाव ही मूलत: बंध के कारण हैं।

विगत गाथाओं में बारम्बार 'अध्यवसान' शब्द का उपयोग किया गया है और अध्यवसानों को ही बंध का कारण बताया गया है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि आखिर **ये अध्यवसान हैं क्या ? आखिर अध्यवसान कहते किसे हैं ?**

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में यह २७१वीं गाथा लिखी गई है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

व्यवसाय बुद्धी मती अध्यवसान अर विज्ञान भी।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित परिणाम भी।।२७१।।

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम – ये सब एकार्थवाची ही हैं, पर्यायवाची ही हैं।

तात्पर्य यह है कि अध्यवसाय शब्द से जो भाव प्रदर्शित किया जाता है, वही भाव उक्त शब्दों से भी व्यक्त किया जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यद्यपि इस गाथा की टीका अत्यन्त संक्षेप में लिखी है; तथापि उसमें अध्यवसान के इन नामों का अर्थ व्युत्पत्तिपूर्वक स्पष्ट किया है; जो इसप्रकार है –

''स्व–पर का अविवेक होने पर जीव अध्यवसितिमात्र अध्यवसान है और वही बोधनमात्रत्व से बुद्धि है, व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है, मननमात्रत्व से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है, चेतनमात्रत्व से चित्त है, चेतन के भवनमात्रत्व से भाव है, चेतन के परिणमनमात्रत्व से परिणाम है।''

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक कलश लिखते हैं, जो आगामी गाथा की उत्थानिकारूप भी है।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै–
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ।।१७३।।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(अडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये,
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है।।
परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं,
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें।।१७३।।

*आचार्यदेव कहते हैं कि **जिनेन्द्र भगवान ने जो यह कहा है कि सर्वपदार्थों के आश्रय से होनेवाले सभी अध्यवसानभाव त्यागने योग्य हैं; इसका आशय हम यह मानते हैं कि उन्होंने पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार को ही छुड़ाया है। ऐसी स्थिति में ऐसा विचार आता है कि जब ऐसी बात है तो फिर सन्त लोग एक सम्यक् निश्चय को ही अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में, अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता को क्यों धारण नहीं करते ? तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में सन्तों को तो स्वभाव में ही स्थिर रहना चाहिए, उनके लिए तो एकमात्र यही कर्तव्य है।***

इस कलश का अर्थ लिखते हुए पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं; जो इसप्रकार हैं –

प्रथम तो वे 'सन्त' पद का अर्थ सम्यग्दृष्टि जीवराशि करते हैं और दूसरे मिथ्यात्वरूप अध्यवसान–भावों को असंख्यात लोकप्रमाण बताते हैं। तीसरे वे व्यवहारभावों को सत्यरूप और असत्यरूप – दो प्रकार के बताते हैं और चौथे वे मिथ्यात्वभावों और व्यवहारभावों को एकवस्तु कहते हैं।

कलश टीका के इन्हीं कथनों को आधार बनाकर कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इस कलश का जो भावानुवाद किया है, वह इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम्।।२७२।।

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहार सौं मुकत हैं।।
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथ कौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसा मैं थिररूप ह्वैकै,
धरम मैं धुके न करम सौं रुकत हैं।।

केवली भगवान ने कहा है कि असंख्यात लोकप्रमाण जो मिथ्यात्वभाव हैं, वे ही व्यवहारभाव हैं। इसलिए जिन जीवों का मिथ्यात्वभाव चला गया है और जिन्हें सम्यग्दर्शन हो गया है; वे जीव निश्चय में लीन रहते हैं और व्यवहार से मुक्त हो गये हैं, व्यवहारातीत हो गये हैं। ऐसे जीव निर्विकल्प निरुपाधि आत्मसमाधि को साधकर सगुण मोक्षमार्ग में तेजी से बढ़ते हैं और परमदशा में स्थिर होकर धर्ममार्ग में तेजी से बढ़ते हुए मुक्ति को प्राप्त करते हैं; कर्मों के रोके रुकते नहीं हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि सभीप्रकार का व्यवहार कथन असत्यार्थ है और उसके आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

यद्यपि व्यवहारनय भी परमार्थ का ही प्रतिपादन करता है और उसकी उपयोगिता भी है; तथापि उसकी विषयभूत वस्तु के आश्रय से कर्म नहीं कटते हैं; अपितु उसे हूबहू सर्वथा सत्य मान लेने पर मिथ्यात्व होता है। यही कारण है कि यहाँ सभी प्रकार के व्यवहार को त्यागने का उपदेश दिया गया है।

व्यवहारनय की हेयोपादेयता और उपयोगिता के बारे में विस्तृत जानकारी परमभावप्रकाशक नयचक्र से की जा सकती है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब वही बात इस २७२वीं गाथा में कह रहे हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इस तरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की।।२७२।।

इसप्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो तथा निश्चयनय के आश्रित मुनिराज

निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।।२७२।।

कथमभव्येनाप्याश्रीयते व्यवहारनयः इति चेत् –

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।२७३।।
मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।२७४।।
~~**सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।**~~
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५।।

''आत्माश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय। बंध का कारण होने से पराश्रित समस्त अध्यवसानों को मुमुक्षुओं के लिए निषेध करते हुए आचार्यदेव ने पराश्रितता की समानता होने से निश्चयनय से एकप्रकार से समस्त व्यवहार का ही निषेध कर दिया है।

इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि मुक्ति तो आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवालों को ही प्राप्त होती है तथा पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्ततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।''

इस गाथा में व्यवहारनय को हेय और निश्चयनय को उपादेय सिद्ध किया गया है; क्योंकि व्यवहार का विषय परवस्तु और भेद है और निश्चयनय का विषय अभेद अखण्ड ज्ञायक-स्वभावी निजात्मा है।

व्यवहार को हेय बताते हुए एक बात तो यह कही गई है कि पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अध्यवसान ही बंध के कारण हैं – यह बात सुनिश्चित हो जाने पर यह स्वतः ही सुनिश्चित हो जाता है कि व्यवहारनय भी पराश्रित होने के कारण अध्यवसान के समान ही बंध का कारण है; क्योंकि पराश्रयपना दोनों में समानरूप से विद्यमान है।

दूसरी बात यह कही गई है कि निश्चय का आश्रय लेनेवालों को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है; क्योंकि व्यवहारनय जिन क्रियाकाण्डों और शुभभावों को धर्म कहता है; वे सब तो अभव्यों के भी हो जाते हैं, होते देखे जाते हैं।

उक्त दोनों कारणों से सहज ही सिद्ध हो जाता है कि पराश्रित होने से व्यवहारनय हेय है और आत्माश्रित होने से निश्चयनय उपादेय है।

व्रतसमितिगुप्तय: शीलतपो जिनवरै: प्रज्ञप्तम्।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ।।२७३।।
मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ।।२७४।।
श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति स तथा पुनश्च स्पृशति।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ।।२७५।।

शीलतप:परिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं अभव्यो –ऽपि कुर्यात्; तथापि स निश्चयचारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धान–शून्यत्वात्।

विगत गाथा की टीका में कहा गया है कि व्यवहारनय का आश्रय तो अभव्य भी करता है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि **अभव्य के व्यवहारनय का आश्रय किसप्रकार होता है, ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान हो जाने पर भी उसे अज्ञानी क्यों कहा जाता है और उसका श्रद्धान सच्चा क्यों नहीं है ?**

इन प्रश्नों के उत्तर में ही आगामी गाथायें लिखी गई हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

व्रत–समिति–गुप्ती–शील–तप आदिक सभी जिनवरकथित।
करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं ।।२७३।।
मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि।
को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन ।।२७४।।
अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच–पच रहें।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो ।।२७५।।

जिनवरदेव के द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करते हुए भी अभव्यजीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

मोक्ष की श्रद्धा से रहित वह अभव्यजीव यद्यपि शास्त्रों को पढ़ता है; तथापि ज्ञान की श्रद्धा से रहित उसको शास्त्रपठन गुण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि शास्त्रपठन से उसे असली लाभ प्राप्त नहीं होता।

वह अभव्यजीव भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसकी ही प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है; किन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की वह न तो श्रद्धा करता है, न रुचि करता है, न प्रतीति करता है और न वह उसका स्पर्श ही करता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों में सावधान, अहिंसादि पाँच

महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र का पालन अभव्य भी करता है; तथापि वह अभव्य चारित्ररहित अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है; क्योंकि वह निश्चयचारित्र के कारणभूत ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेत् – मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञान-शून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धते। ज्ञानमश्रद्धधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्। स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं, तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत। ततस्तस्य तद्गुणाभावः। ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः।

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत् – अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञान-चेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते, भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययन-रोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेत्, न पुनः कदाचनापि विमुच्येत। ततोऽस्य भूतार्थ-धर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव।।२७३-२७५।।

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत् –

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।
~~आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।~~
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।२७७।।

यदि कोई यह कहे कि उसे ग्यारह अंगों का ज्ञान है तो उससे कहते हैं कि प्रथम तो वह अभव्यजीव शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं करता; इसलिए वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह अभव्य आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत (शास्त्रों) को पढ़ता हुआ भी शास्त्रपठन के गुण को प्राप्त नहीं होता और इसीकारण ज्ञानी भी नहीं है।

भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही शास्त्रपठन का असली गुण है। ऐसा गुण शास्त्रपठन के द्वारा अभव्य को प्रगट नहीं हो सकता; क्योंकि वह भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा से रहित है। तात्पर्य यह है कि अभव्य को भिन्नवस्तुभूत आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं हो सकता; इसलिए उसके शास्त्रपठन के गुण का अभाव है। इसीकारण वह अज्ञानी है।

इस पर यदि कोई कहे कि उसे धर्म का श्रद्धान है तो उससे कहते हैं कि सदा ही भेदविज्ञान के अयोग्य होने से अभव्यजीव कर्मफलचेतनारूप वस्तु की ही नित्य श्रद्धा करता है, ज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा कभी नहीं करता; इसीकारण वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म की श्रद्धा नहीं करता; अपितु भोग के निमित्तरूप शुभकर्ममात्र अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा करता है; इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से अन्तिम ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है; किन्तु कर्मों से कभी भी मुक्त नहीं होता। इसलिए उसे भूतार्थ

धर्म के श्रद्धान के अभाव से सत्य श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होने पर निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय निषेध योग्य ही है।''

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः।।२७६।।

~~आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।~~
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः।।२७७।।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जैन शास्त्रों का अध्ययन-मनन करके जैनागम में निरूपित व्रत-शील-संयमादि का यथासंभव निर्दोष पालन करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी ही रहता है, मिथ्यादृष्टि ही रहता है; उसे न तो जैनागम के अभ्यास का आत्मज्ञानरूप वास्तविक लाभ ही प्राप्त होता है और न उसके व्रत-शील-संयम सम्यक्चारित्ररूप ही होते हैं। उसका सम्पूर्ण धर्माचरण भोगों का ही हेतु होता है, मुक्ति का हेतु नहीं; क्योंकि न तो वह परमागम के मर्म को ही समझ पाता है और न वह शुभभावरूप पुण्यकर्म से ऊपर ही उठ पाता है।

वस्तुतः बात यह है कि वह वास्तविक सुख को जानता ही नहीं है, पहिचानता ही नहीं है; वह तो सांसारिक सुख को ही सुख जानता-मानता है और पुरुषार्थ भी उसी के लिए करता है। यही कारण है कि वह शुभभावरूप पुण्यकर्म से ऊपर नहीं उठ पाता है।

इसीकारण अज्ञानी के धर्म को भोगों का निमित्त कहा गया है।

अब आगामी गाथाओं में **'व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चयनय निषेधक' - यह स्पष्ट करने के लिए निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं;** जो इसप्रकार है -

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है।
चारित्र है षट्काय रक्षा - यह कथन व्यवहार है।।२७६।।
निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा।।२७७।।

आचारांगादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्व दर्शन है और छह जीवनिकाय चारित्र है - ऐसा व्यवहारनय कहता है।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है और मेरा आत्मा ही संवर व योग है।

तात्पर्य यह है कि आचारांगादि शास्त्रों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और छह प्रकार के जीव निकायों की दया पालना ही सम्यक्चारित्र है - ऐसा व्यवहारनय कहता है; किन्तु निश्चयनय के अनुसार आत्मज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है और आत्मरमणता ही सम्यक्चारित्र है और यही आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान व आत्म-

रमणता प्रत्याख्यान है, संवर है, योग है, समाधि है, आत्मध्यान है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः।

शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः।

तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः।

तथाहि – नाचारादिशब्दश्रुतमेकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्।

शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।।२७६–२७७।।

''ज्ञान का आश्रय होने से आचारांगादि शब्दश्रुत (शास्त्र) ज्ञान हैं, दर्शन का आश्रय होने से जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं और चारित्र का आश्रय होने से जीवादि छह निकाय चारित्र हैं – यह व्यवहारनय का कथन है।

ज्ञान का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही ज्ञान है, दर्शन का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही दर्शन है और चारित्र का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही चारित्र है – यह निश्चयनय का कथन है।

इनमें आचारांगादि को ज्ञानादि का आश्रयत्व अनैकान्तिक है, अनैकान्तिक हेत्वाभास है, व्यभिचार नामक दोष से संयुक्त है। इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है, निषेध करने योग्य है और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है; क्योंकि शुद्धात्मा को ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा को ज्ञानादि के आश्रयत्व में अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है, व्यभिचार नामक दोष नहीं है; क्योंकि शुद्धात्मा के आश्रय से ज्ञान–दर्शन–चारित्र होते हैं।

अब इसी बात को हेतुपूर्वक विस्तार से समझाते हैं – आचारांगादि शब्दश्रुत (शास्त्र) एकान्त (नियम) से ज्ञान के आश्रय नहीं हैं; क्योंकि शब्दश्रुत के ज्ञान के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के ज्ञान का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान का अभाव है। इसीप्रकार जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं; क्योंकि उनके दर्शन (श्रद्धान) के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के दर्शन का अभाव होने से सम्यग्दर्शन का अभाव है तथा छह प्रकार के जीवनिकाय भी चारित्र के आश्रय नहीं हैं; क्योंकि उनके प्रति करुणाभाव के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के रमण का अभाव होने से सम्यक्चारित्र का अभाव है।

शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है; क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के ज्ञान के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव से सम्यग्ज्ञान का सद्भाव है। इसीप्रकार शुद्धात्मा ही दर्शन का आश्रय है; क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के श्रद्धान के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा के दर्शन (श्रद्धान) के सद्भाव से सम्यग्दर्शन का सद्भाव है तथा शुद्धात्मा ही चारित्र

का आश्रय है; क्योंकि छहकाय के जीवों की करुणा के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा की रमणता के सद्भाव से चारित्र का सद्भाव है।''

(उपजाति)

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१७४।।

इसप्रकार आत्मख्याति में न्यायशास्त्र की पद्धति से तर्क की कसौटी पर कसकर यह सिद्ध किया गया है कि आचारांगादि शब्दश्रुत के ज्ञानरूप व्यवहारज्ञान, नव तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप व्यवहारश्रद्धान और छहकाय के जीवों की रक्षारूप व्यवहारचारित्र वास्तविक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं; किन्तु आत्मज्ञानरूप निश्चयज्ञान, आत्मदर्शनरूप निश्चयदर्शन और आत्मस्थिरतारूप निश्चयचारित्र ही वास्तविक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र हैं और इन तीनों की एकता ही वास्तविक मोक्षमार्ग है। यही कारण है कि व्यवहारनय निषेध करने योग्य है और निश्चयनय उसका निषेध करनेवाला है। इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि व्यवहारनय और निश्चयनय में परस्पर निषेध्य-निषेधक संबंध है।

इन गाथाओं के बाद आचार्य जयसेन की टीका में चार गाथायें आती हैं; जिनमें दो गाथायें तो आत्मख्याति में आगे २८६ व २८७वीं गाथा के रूप में आनेवाली हैं और दो गाथायें आत्मख्याति में हैं ही नहीं। उक्त चारों गाथाओं का अनुशीलन आगे यथास्थान किया जायेगा।

अब यहाँ आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(सोरठा)

कहे जिनागम माहिं, शुद्धातम से भिन्न जो।
रागादिक परिणाम, कर्मबंध के हेतु वे।।
यहाँ प्रश्न अब एक, उन रागादिक भाव का।
यह आतम या अन्य, कौन हेतु है अब कहैं।।१७४।।

शुद्ध चैतन्यमात्रज्योति से भिन्न रागादिभाव ही बंध के कारण हैं - यह बात तो कह दी गई। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन रागादिभाव का निमित्त कौन है - अपना आत्मा या कोई अन्य ? इसकी चर्चा पुनः आगामी गाथाओं में की जा रही है।

इस कलश में तो मात्र इतनी बात ही कही गई है कि जो रागादिभाव कर्मबंध के हेतु हैं; उनका हेतु (निमित्त) कौन है आत्मा या अन्य पदार्थ ?

इसप्रकार इस कलश में मात्र यह प्रश्न ही उपस्थित किया गया है जिसका उत्तर आगामी

गाथाओं में दिया जा रहा है।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागामादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागामादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः।।२७८।।
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः।।२७९।।

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते।

तथा केवलः किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभावः।।२७८–२७९।।

(हरिगीत)

ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि।
पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह।।२७८।।
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही।
रागादि के ही उदय से वे किये जाते रागमय।।२७९।।

जिसप्रकार स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिरूप से, लालिमारूप से अपने आप परिणमित नहीं होता; परन्तु अन्य लालिमादि युक्त द्रव्यों से वह लाल किया जाता है।

उसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता; परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागादि रूप किया जाता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी स्फटिकमणि अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण स्वयं में रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप लालिमा आदि रूप परिणमित नहीं होता; अपितु उस परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ लालिमा आदि रूप परिणमित किया जाता है; जो परद्रव्य स्वयं लालिमा आदि रूप होने से स्फटिकमणि की लालिमा में निमित्त होता है।

उसीप्रकार स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्धस्वभाव के कारण स्वयं में रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप रागादिरूप परिणमित नहीं होता;

अपितु उस परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमित किया जाता है; जो परद्रव्य स्वयं रागादिरूप होने से आत्मा के रागादिरूप परिणमन में निमित्त होता है। – ऐसा वस्तु का स्वभाव है।''

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।।१७६।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्फटिकमणि के लाल रंगरूप परिणमन में शुद्धस्वभाववाला स्फटिकमणि स्वयं तो निमित्त हो नहीं सकता, जवापुष्प आदि कोई परद्रव्य ही उमसें निमित्त होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के रागरूप परिणमन में शुद्धस्वभाववाला भगवान आत्मा स्वयं तो निमित्त हो नहीं सकता, क्रोधादिरूप कोई कर्म का उदय ही उसमें निमित्त होता है। भाव यह है कि आत्मा का रागादिरूप परिणमन नैमित्तिकभाव है, उपाधिभाव है, कर्मोदयजन्य भाव है, विभावभाव है; स्वभावभाव नहीं।

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

अग्निरूप न होय, सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन।
रागरूप न होय, यह आतम परसंग बिन।।१७५।।

जिसप्रकार सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता; उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिंब निमित्त है; उसीप्रकार आत्मा स्वतः से ही रागादिभावरूप नहीं परिणमता; उसके रागादिरूप परिणमन में निमित्त परसंग ही है। वस्तु का ऐसा स्वभाव सदा ही उसे प्रकाशमान है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि रागादिरूप परिणमन आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्वभावभाव नहीं है; अपितु परसंग से उपजा विभाव है, विभावभाव है।

यद्यपि यह बात भी सत्य है कि पर ने कुछ नहीं कराया है; तथापि यह भी सत्य है कि इस विकार का मूल हेतु परसंग है, स्वयंकृत परसंग ही है।

अब आचार्य अमृतचन्द्र आगामी कलश में कहते हैं कि इसप्रकार के वस्तुस्वरूप से परिचित ज्ञानीजीव रागादिभावों में एकत्वबुद्धि नहीं करते। यह कलश आगामी गाथा की उत्थानिका का काम भी करता है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को, जाने विज्ञ सदीव।
अपनापन ना राग में, अतः अकारक जीव।।१७६।।

चूँकि ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को ज्ञानीजीव जानते हैं; इसकारण वे रागादि को निजरूप नहीं करते, रागादि में अपनापन स्थापित नहीं करते। यही कारण है कि वे रागादि के कर्ता नहीं हैं।

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं।।२८०।।

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम्।।२८०।।

~~यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं~~ **न परिणमते, न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति प्रतिनियमः।।२८०।।**

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी जीव रागादि विकारीभावों में अपनापन स्थापित नहीं करते, उन्हें अपना नहीं जानते, अपना नहीं मानते; इसकारण वे रागादिभावों के कर्ता-भोक्ता भी नहीं हैं।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथा द्वारा कहते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष-कषाय को।
इसलिए ज्ञानी जीव कर्ता नहीं है रागादि का।।२८०।।

ज्ञानी राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभावों में अपनापन नहीं करता; इसकारण वह उन भावों का कारक नहीं है अर्थात् कर्ता नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यथोक्त वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी स्वयं के शुद्धस्वभाव से च्युत नहीं होता; इसकारण वह मोह-राग-द्वेष भावों रूप स्वयं परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता। यही कारण है कि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है – ऐसा नियम है।''

गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि ज्ञानी रागादिभावों का कर्ता नहीं है; किन्तु टीका में यह भी कह दिया है कि ज्ञानी जीव न तो स्वयं रागादिभावरूप परिणमित होता है और न दूसरों के द्वारा ही रागादिरूप परिणमित किया जाता है। इसप्रकार ज्ञानी किसी भी प्रकार से रागादिभावरूप परिणमित नहीं होता – इसकारण वह रागादि का अकर्ता है।

चूँकि अज्ञानी उक्त परमसत्य को नहीं जानता – इसकारण वह रागादिभावों का कर्ता होता है।

अब इस भाव का पोषक और आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१७७।।

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि।।२८१।।
रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।२८२।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि।।२८१।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता।।२८२।।

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को, ना जाने अल्पज्ञ।
धरे एकता राग में, नहीं अकारक अज्ञ।।१७७।।

अज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं जानता – इसकारण रागादि भावों में अपनापन करता है। यही कारण है कि वह उन रागादि भावों का कर्ता होता है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि अज्ञानी अपने स्वभाव को न जानने के कारण रागादि भावों का कर्ता होता है; अब इसी बात को आगामी गाथाओं द्वारा कहते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

राग–द्वेष–कषाय कर्मों के उदय में भाव जो।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे।।२८१।।
राग–द्वेष–कषाय कर्मों के उदय में भाव जो।
उनरूप परिणत आतमा रागादि का बंधन करे।।२८२।।

राग–द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित होता हुआ अज्ञानी रागादि को पुनः पुनः बाँधता है।

राग–द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित हुआ आत्मा रागादि को बाँधता है।

उक्त दोनों गाथायें लगभग एक–सी ही हैं। इनमें मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रथम गाथा में अन्तिम शब्द हैं – **बंधदि पुणो वि** और दूसरी गाथा में उनके स्थान पर **बंधदे चेदा** शब्दों का प्रयोग

किया गया है; शेष दोनों गाथायें समान ही हैं। उक्त शब्दों में जो अन्तर है; उनके अर्थ में भी कोई विशेष अन्तर ख्याल में नहीं आता। तात्पर्य यह है कि दोनों गाथाओं का भाव लगभग एक ही है।

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवैः रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः।

ततः स्थितमेतत् – य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ।।२८१–२८२।।

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत् –

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८३।।
अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८४।।
~~**जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।**~~
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो।।२८५।।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में दूसरी गाथा की उत्थानिका में **ततः स्थितमेतत्** लिखकर उक्त बात की ही पुष्टि करते प्रतीत होते हैं तथा आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में **तमेवार्थं दृढयति** लिखकर एकदम साफ कर देते हैं कि इस गाथा में भी पूर्व गाथा की बात को ही दृढ़ता प्रदान कर रहे हैं।

इसप्रकार इन दोनों गाथाओं का भाव लगभग एक-सा ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यथोक्त वस्तुस्वभाव को नहीं जाननेवाला अज्ञानी अनादिकाल से अपने शुद्धस्वभाव से च्युत ही है; इसकारण कर्मोदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह आदि भावरूप परिणमता हुआ, राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता हुआ कर्मों से बँधता ही है – ऐसा नियम है।

अतः यह निश्चित हुआ कि निश्चय से अज्ञानी को पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होनेवाले राग-द्वेष-मोहादि परिणाम ही आगामी पौद्गलिक कर्मों के बंध के कारण हैं।''

अब आगामी गाथाओं द्वारा यह समझाते हैं कि **भगवान आत्मा रागादि भावों का अकारक किसप्रकार है ?** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा।।२८३।।
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा।।२८४।।
द्रवभाव से अत्याग अप्रतिक्रमण होवें जबतलक।

तबतलक यह आतमा कर्ता रहे – यह जानना ।।२८५।।
अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ।।२८३।।
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ।।२८४।।
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ।।२८५।।

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः ।

यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्त–नैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं – परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः ।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है । इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिए । इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है ।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है – द्रव्यसंबंधी अप्रतिक्रमण और भावसंबंधी अप्रतिक्रमण । इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – द्रव्यसंबंधी अप्रत्याख्यान और भावसंबंधी अप्रत्याख्यान । इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है ।

जबतक आत्मा द्रव्य का और भाव का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है; तबतक वह कर्ता होता है – ऐसा जानना चाहिए ।

भूतकाल संबंधी दोषों का परिमार्जन प्रतिक्रमण है और भविष्य में दोषों को नहीं होने देने का संकल्प प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण का नहीं होना अप्रतिक्रमण है और प्रत्याख्यान का नहीं होना अप्रत्याख्यान है।

आचार्य जयसेन के अनुसार पूर्वानुभूत विषयों के अनुभवरूप रागादिक का स्मरण अप्रतिक्रमण है और भविष्य में होनेवाले रागादि के विषयों की आकांक्षा अप्रत्याख्यान है।

ये अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण – ये दो अप्रतिक्रमण के भेद हैं और द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान – ये दो अप्रत्याख्यान के भेद हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यह आत्मा स्वयं से तो रागादिभावों का अकारक ही है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश (कथन) है, वह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के

रागादिभाव नैमित्तिक हैं।

यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वेत्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च।

ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा।

तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावत्कर्तैव स्यात्।

यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।।२८३-२८५।।

यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान के कर्तृत्व के निमित्तत्व का उपदेश निरर्थक ही होगा। उसके निरर्थक हो जाने पर एक आत्मा को ही रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा और उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है।

इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है; तथापि जबतक वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता; तबतक नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं होता। इसीप्रकार जबतक इन रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता; तबतक वह इन भावों का कर्ता ही है।

जब आत्मा निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है; तभी नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है और जब इन भावों का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है; तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा स्वभाव से तो रागादिभावों का अकर्ता ही है; तथापि जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है, तब साक्षात् अकर्ता होता है।

रागादिभावों के वास्तविक कर्ता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अथवा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान से संयुक्त जीव ही हैं।

इसीलिए जिनागम में द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के त्याग का उपदेश दिया गया है। यदि आत्मा ही रागादि का कर्ता हो तो फिर इन प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के उपदेश की आवश्यकता ही क्यों रहे ?

एक बात यह भी है कि आत्मा तो नित्य है, सदा ही रहनेवाला है; उसे रागादि का कर्ता मानने पर रागादि भी सदा होते रहेंगे। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अनित्य है; इसकारण रागादिभाव भी तभी तक होंगे, जबतक कि अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान है। इनके अभाव होने पर रागादि का

अभाव भी हो जायेगा; जो सभी को इष्ट है।

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत् –

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं।।२८६।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं।।२८७।।

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य च इमे दोषाः।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम्।।२८६।।
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम्।।२८७।।

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तिकं भावं न प्रत्याचष्टे।

तात्पर्यवृत्ति में बंधाधिकार यहाँ समाप्त हो जाता है। इन गाथाओं के बाद जो दो गाथायें आत्मख्याति में आती हैं; वे तात्पर्यवृत्ति में पहले ही आ गई हैं।

विगत गाथाओं और उसकी टीका में द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण तथा द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया गया है।

अब आगामी गाथाओं में **द्रव्य और भाव की उसी निमित्त-नैमित्तिकता को सोदाहरण समझाते हैं।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ?।।२८६।।
उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन।
कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों?।।२८७।।

अधःकर्मादि जो पुद्गल द्रव्य के दोष हैं; उन्हें ज्ञानी (आत्मा) कैसे करे ? क्योंकि वे तो सदा ही परद्रव्य के गुण हैं।

पुद्गलद्रव्यमय अधःकर्म और उद्देशिक मेरे किये कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि वे सदा अचेतन कहे गये हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार अधःकर्म और उद्देश्य से उत्पन्न निमित्तभूत आहारादि पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भाव का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग नहीं करता; उसीप्रकार समस्त परद्रव्यों का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उनके निमित्त से

होनेवाले भाव को भी नहीं त्यागता।

यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे।

एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ।।२८६-२८७।।

अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वस्तुतः तो करता ही नहीं; क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं; इसलिए उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है। इसकारण अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरे कार्य नहीं हैं; क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं; इसलिए उनको मेरे कार्यत्व का अभाव है।

इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जिसप्रकार नैमित्तिकभूत बंधसाधकभाव का प्रत्याख्यान करता है; उसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उनके निमित्त से होनेवाले भावों का भी प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकता है।''

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त दोनों गाथाओं के साथ में एक-एक गाथा और भी प्राप्त होती है। वे गाथायें उक्त गाथाओं की पूरक गाथायें ही हैं। उन गाथाओं का क्रम इसप्रकार है-

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं।।
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अणेण कीरमाणा परस्स गुणा।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदणं वृत्तं।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वृत्तं।।

(हरिगीत)

अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें? ।।
अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं।
तो ज्ञानि कैसे करें परकृत गुणों की अनुमोदना? ।।
उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन।
कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों? ।।
उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गलदरबमय अचेतन।

कहे जाते वे सदा मेरे कराये किसतरह?।।

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति।।१७८।।

अधःकर्म आदि जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं; उनको सम्यग्ज्ञानी कैसे कर सकता है; क्योंकि ये सदा ही परद्रव्य के गुण हैं।

अधःकर्म आदि जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं; ये दूसरे के द्वारा किये हुए गुण हैं तो ज्ञानी उनकी अनुमोदना कैसे कर सकता है ?

ये अधःकर्म और औद्देशिक पुद्गलमय होने से सदा ही अचेतन कहे गये हैं। ये मेरे द्वारा किये भी कैसे हो सकते हैं।

ये अधःकर्म और औद्देशिक पुद्गलमय होने से सदा ही अचेतन कहे गये हैं। ये मेरे द्वारा कारित भी कैसे हो सकते हैं, मेरे द्वारा कराये भी कैसे जा सकते हैं ?

उक्त चारों गाथाओं को उनके अर्थ सहित बारीकी से देखते हैं तो पहली और दूसरी गाथा तथा तीसरी और चौथी गाथा लगभग एक-सी ही हैं। पहली गाथा में करने की बात है और दूसरी गाथा में अनुमोदना की बात है। इसीप्रकार तीसरी गाथा में करने की बात है और चौथी गाथा में कराने की बात है। बस, मात्र इतना ही अन्तर है।

आचार्य जयसेन ने इन गाथाओं की जो टीका लिखी है; उसमें भी इससे अधिक कुछ नहीं है। इन गाथाओं के जुड़ने से इतना हुआ कि करने के साथ कराना और अनुमोदना करना भी जुड़ गये हैं। इसप्रकार नवकोटि से त्याग की बात पर बल पड़ गया है।

ये गाथायें बंधाधिकार की अन्तिम गाथायें हैं। इसकारण इनमें बंध की प्रक्रिया व उसके अभाव की प्रक्रिया समझाकर भगवान आत्मा को उससे पार बताया गया है; उसे बंध का अकारक बताया गया है। अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा।
भावीकर्मबंधन हो इन कषायभावों से,
बंधन में आतमा विलीयमान हो रहा।।
इसप्रकार जान परभावों की संतति को,
जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा।
आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
निजभगवान शोभायमान हो रहा।।१७८।।

इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावों की निमित्त-नैमित्तिकता का विचार भली-भाँति करके परद्रव्यमूलक इन बहुभावों की संतति को एक ही साथ उखाड़ फैंकने का इच्छुक पुरुष उन

समस्त परद्रव्यों को बलपूर्वक भिन्न करके धारावाही रूप से बहते हुए पूर्ण एक संवेदन से युक्त

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति।।१७९।।

इति बंधो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंधप्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः।

अपने आत्मा को प्राप्त करता है। इसी से कर्मबंधन को जड़मूल से उखाड़ फैंकनेवाला भगवान अपने में ही स्फुरायमान होता है।

इसप्रकार इस कलश में इस सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार है, जिसमें कहा गया है कि इसप्रकार वस्तुस्वरूप जानकर, बंध की प्रक्रिया को पहिचान कर ज्ञानी जीव परलक्ष्य से उत्पन्न भावों को उखाड़ कर कर्मबंधन से मुक्त हो जाते हैं और उनका ज्ञानस्वभाव-आनन्दस्वभाव पर्याय में भी स्फुरायमान हो जाता है।

अब बंधाधिकार के अन्त में अन्तिम मंगल के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

बंध के जो मूल उन रागादिक भावों को,
जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की,
यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही।।
जिसके उदय को कोई ना रोक सके,
अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर,
ऐसी दिव्यज्योति प्रकाशमान हो रही।।१७९।।

बंध के कारणभूत रागादिभावों के उदय को निर्दयतापूर्वक विदारण करती हुई, उन रागादि के कार्यरूप ज्ञानावरणादि कर्मों के अनेकप्रकार के द्रव्यबंध को तत्काल ही दूर करके अज्ञानांधकार को नाश करनेवाली यह ज्ञानज्योति ऐसी प्रगट हुई, सम्पन्न हुई कि अब उसके विस्तार को, प्रसार को अन्य कोई रोक नहीं सकता, आवृत्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि जब सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट होती है; तब रागादिक नहीं रहते, रागादि के कर्मबंधरूप कार्य भी नहीं रहते; ऐसी स्थिति में ज्ञानज्योति को आवृत्त करनेवाला कोई नहीं रहता।

अन्त में आत्मख्याति में - **इसप्रकार बंध रंगभूमि से बाहर निकल गया** - कहकर बंधाधिकार का समापन कर दिया गया।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में बंध का प्ररूपक सातवाँ अंक समाप्त हुआ।

●●●

मोक्षाधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम्।
इदानी–मुन्मज्जत्सहज–परमानंद–सरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते।।१८०।।

मंगलाचरण

(दोहा)

बंधकथा से कभी भी न, होय बंध का नाश।
आत्मसाधना से सदा, हो शिवसुख अविनाश।।

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारी भावों से भिन्न बतलाकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया है और निर्जराधिकार में भेदविज्ञानसम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों के भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है – इस बात को सयुक्ति स्पष्ट किया गया है।

बंधाधिकार में बंध के मूलकारणों पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब इस मोक्षाधिकार में मुक्ति के वास्तविक उपाय पर प्रकाश डालते हैं।

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार का आरम्भ भी आत्मख्यातिकार '**अब मोक्ष प्रवेश करता है**' – इसप्रकार के वाक्य से करते हैं। तात्पर्य यह है कि मोक्ष भी एक स्वांग है, मूलवस्तु नहीं है।

इस मोक्षाधिकार के आरंभ में सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में उस ज्ञान को स्मरण करते हैं; जिस ज्ञान ने बंध और आत्मा को भिन्न–भिन्न करके आत्मा को कर्मबंधन से मुक्त किया है।

मंगलाचरण के उक्त छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज आतमा अर बंध को कर पृथक् प्रज्ञाछैनि से।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को कर सरस परमानन्द से।।
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है परिपूर्णता को प्राप्त है।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति जो स्वयं में व्याप्त है।।१८०।।

अब प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द से सरस, कृतकृत्य और उत्कृष्ट यह पूर्णज्ञान अनुभूति द्वारा निश्चित आत्मा को प्रज्ञारूपी करवत (आरा) द्वारा विदारण करके बंध और आत्मा को भिन्न–भिन्न करके आत्मा को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ जयवंत वर्तता है।

यहाँ उस पूर्णज्ञान को स्मरण किया गया है; जो सहज परमानन्द से सरस है, करने योग्य सबकुछ

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स।।२८८।।
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं।।२८९।।
इय कम्मबंधणाणं पदेसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो।।२९०।।

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य।।२८८।।
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन्।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम्।।२८९।।
इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम्।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः।।२९०।।

कर लेने से कृतकृत्य है और सर्वश्रेष्ठ है तथा जिसने उस आत्मा को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति कराई है, जिसने अनुभूति में प्राप्त आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करके आत्मानुभूति प्राप्त की थी।

मंगलाचरण के उपरान्त अब मोक्षाधिकार की मूल गाथायें आरंभ करते हैं; जिनमें आरंभ की तीन गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को हो जानता।।२८८।।
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं।।२८९।।
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता।।२९०।।

जिसप्रकार बहुत काल से बंधन में बँधा हुआ कोई पुरुष उस बंधन के तीव्रमंदस्वभाव को, उसकी कालावधि को तो जानता है; किन्तु उस बंधन को काटता नहीं है तो वह उससे मुक्त नहीं होता तथा बंधन में रहता हुआ वह पुरुष बहुत काल में भी बंधन से छूटनेरूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

उसीप्रकार यह आत्मा कर्मबंधनों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी कर्मबंधन से नहीं छूटता; किन्तु यदि रागादि को दूर कर वह स्वयं शुद्ध होता है तो कर्मबंधन से छूट जाता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति बंधन को जानने मात्र से बंधन-मुक्त नहीं होता; बंधनों से मुक्त

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके, तदसत्; न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रवत्।

एतेन कर्मबन्धप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते।।२८८-२९०।।

होने के लिए आत्मा को जानना-पहिचानना पड़ता है और आत्मा में ही जमकर-रमकर रागादिभावों को दूर करना पड़ता है। ऐसा करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''आत्मा और बंध को अलग-अलग कर देना मोक्ष है। कोई कहता है कि बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण है; किन्तु यह बात ठीक नहीं है। कर्म से बँधे हुए जीव को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बँधे हुए जीव को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बंधन से मुक्त होने का कारण नहीं है; उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए जीव को कर्मबंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबंधन से मुक्त होने का कारण नहीं है।

इस कथन से उनका खण्डन हो गया, जो कर्मबंध के विस्तार के ज्ञान से ही संतुष्ट हैं।''

करणानुयोग के शास्त्रों में कर्मबंधन की प्रक्रिया का विस्तार से निरूपण है। उसका अध्ययन कर जो लोग यह समझते हैं कि हमारे कर्मबंधन कट जायेंगे; क्योंकि हम तो सब जानते हैं कि कौन-सा कर्म कब बँधता है, कैसे बँधता है आदि ?

ऐसे लोगों से यहाँ कहा जा रहा है कि बंधन के स्वरूप को जाननेमात्र से बंधन नहीं कटते।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि जो कर्मशास्त्रों का अध्ययन करके संतुष्ट हैं और ऐसा मान रहे हैं कि हम बड़े धर्मात्मा हैं और हमारे कर्मबंधन तो हमारे इस कर्मशास्त्रों के अध्ययन-मनन से ही कट जायेंगे; वे बहुत बड़े धोखे में हैं; क्योंकि बंधन के ज्ञान से बंधन नहीं कटते।

इस बात को आचार्य जयसेन और भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं -

''ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियों के भेदवाले कर्मबंधनों के प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्मबंधनों से मुक्त नहीं होता; किन्तु जब मिथ्यात्व और रागादि से रहित होता है, तब अनन्तज्ञानादिगुणात्मक परमात्मस्वरूप में स्थित होता हुआ सर्व कर्मबंधनों से मुक्त होता है अथवा पाठान्तर यह भी है कि जब वह उन कर्मबंधनों को छेदता है, तब मुक्त होता है।

इस व्याख्यान से उन लोगों का खण्डन हो गया, जो लोग कर्मशास्त्रों में कथित प्रकृति आदि बंध के ज्ञान से ही संतुष्ट हैं।

क्यों ?

क्योंकि स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतरागचारित्र से रहित लोगों को बंध के ज्ञानमात्र से स्वर्गादिसुख का निमित्तभूत पुण्य तो बँधता है, पर मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

इस व्याख्यान से कर्मबंध के निरूपक शास्त्रों के अध्ययन-मनन में ही संतुष्ट लोगों का निराकरण हो गया।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही बताया गया है कि कर्मबंध के भेद-प्रभेदों के जाननेमात्र से कर्मबंधन का नाश नहीं होता, मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं।।२९१।।
जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं।।२९२।।
बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि।।२९३।।

यथा बन्धांश्चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम्।।२९१।।
यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम्।।२९२।।
बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति।।२९३।।

देखो, यहाँ आचार्यदेव कर्मशास्त्र के विस्तार में जाने को प्रपंच में पड़ना कह रहे हैं। वैसे प्रपंच शब्द का अर्थ विस्तार ही होता है। तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार प्रयोजनभूत जानकारी का निषेध नहीं है; तथापि उसी में उलझे रहना और यह मानना कि यह मुक्ति का साधन है, हमें इसी से मुक्ति की प्राप्ति हो जायेगी; कदापि ठीक नहीं है।

जो बात विगत गाथाओं में कही गई है, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में सतर्क सिद्ध करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

चिन्तवन से बंध के ज्यों बँधे जन ना मुक्त हों।
त्यों चिन्तवन से बंध के सब बँधे जीव न मुक्त हों।।२९१।।
छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों।
त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों।।२९२।।
जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों।।२९३।।

जिसप्रकार बंधनों से बँधा हुआ पुरुष बंधों का विचार करने से बंधों से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी बंधों के विचार करने से मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

जिसप्रकार बंधनबद्धपुरुष बंधों को छेदकर मुक्त होता है; उसीप्रकार जीव भी बंधों को छेदकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

बंधों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो जीव बंधों के प्रति विरक्त होता है; वह कर्मों से मुक्त होता है।

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत्। एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्ध-धर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते।

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत् – कर्मबद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्ध-च्छेदवत्। एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते।

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत् – य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय, बन्धेभ्यो विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबन्धयोर्द्विधा-करणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते।।२९१-२९३।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अन्य अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि बंधसंबंधी विचारशृंखला ही मोक्ष का कारण है; किन्तु यह भी ठीक नहीं है। कर्म से बँधे हुए जीवों को बंधसंबंधी विचारशृंखला भी मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बँधे हुए पुरुष को उक्त बंधन संबंधी विचार-शृंखला बंध से छूटने का कारण (उपाय) नहीं है; उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए पुरुष को कर्मबंधसंबंधी विचारशृंखला कर्मबंध से मुक्ति का कारण (उपाय) नहीं है।

इस कथन से कर्मसंबंधी विचारशृंखलारूप विशुद्ध (शुभ) भावरूप धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अंध है; उन्हें समझाया है।

यदि बंधसंबंधी विचारशृंखला भी मोक्ष का हेतु नहीं है तो फिर मोक्ष का हेतु क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि कर्म से बँधे हुए जीव को बंध का छेद ही मोक्ष का कारण है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बँधे हुए पुरुष को बंधन का छेद ही बंधन से छूटने का उपाय है; उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए जीव को कर्मबंधन का छेद ही कर्मबंधन से छूटने का उपाय है।

इस कथन से पूर्वकथित बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से ही संतुष्ट और बंध का विचार करनेवाले – इन दोनों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण के व्यापार में लगाया जाता है।

मात्र यही मोक्ष का कारण क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जो निर्विकार चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उस आत्मा को विकृत करनेवाले बंध के स्वभाव को जानकर बंध से विरक्त होता है; वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है।

इस कथन से ऐसा नियम (सुनिश्चित) किया जाता है कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है।''

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र कर्मबंधसंबंधी विचारशृंखलारूप धर्मध्यान से मुक्ति माननेवालों को अंधबुद्धि कह रहे हैं। बंध और आत्मा के बीच किये गये भेदविज्ञान को मुक्ति का कारण बताते हुए वे यहाँ बंध का विचार करनेवाले और बंध के ज्ञानमात्र से संतुष्ट लोगों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण में लगाना चाहते हैं। इसकारण निष्कर्ष वाक्य में वे साफ-साफ कहते हैं कि इन दोनों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण में लगाया जाता है; क्योंकि यह सुनिश्चित है कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण ही मुक्ति का कारण है।

इसी प्रकरण पर भावार्थ लिखते हुए मुनिश्री वीरसागरजी महाराज लिखते हैं –

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा।।२९४।।

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ।।२९४।।

''जो कोई ऐसा मानते हैं कि 'शास्त्र के पठन-पाठन, कर्मबंधन के उदय, बंध, उदीरणा आदि और प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि प्रकार की चिंता-चर्चा-मनन-चिंतन-चिंतवन आदि करके और बहिरंग क्रिया करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ और मोक्षमार्ग शुरू हुआ' उनके प्रति सम्बोधन करते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि बंध का चिंतन करने से शुभोपयोग होता है। वह चिंतवन बाह्यद्रव्य का आलम्बन लेकर होता है, उससे विकल्प ही होते हैं; वह निर्विकल्प (स्वानुभूति-शुद्धोपयोग) नहीं है, इसलिए मोक्षमार्ग शुरू नहीं होता है। इस बंधन के विकल्प करते रहने से सम्यग्दर्शन-स्वानुभव प्राप्त नहीं होता है। यानि स्वानुभव प्रगट कर लेने से ही चतुर्थादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। स्वानुभव से ही मोक्ष प्राप्त होता है। स्वानुभव के समय अपने स्वभाव शुद्ध, परिपूर्ण, स्वतंत्र, चिदानन्दमय आत्मा का आलम्बन होने से वहाँ शुभाशुभभाव नहीं हैं; इसलिए कर्मबंध की संवरपूर्वक निर्जरा होती है – कर्मबंध छूटते हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कर्मबंध प्रक्रिया के ज्ञान और चिन्तन-मनन से कर्मबंध का अभाव नहीं होता; क्योंकि यह सब शुभभावरूप हैं और शुभभावों से पुण्यबंध होता है, बंध का अभाव नहीं होता, संवर-निर्जरा नहीं होते, मोक्ष नहीं होता।

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि बंध से मुक्ति का उपाय आत्मा और बंध के बीच द्विधाकरण ही है। अत: अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उक्त द्विधाकरण का साधन क्या है ? आत्मा और बंध के बीच यह द्विधाकरण किस साधन से किया जाये ? क्या दया, दान, व्रत-शील-संयम, तप-त्याग, पूजा-पाठ आदि क्रियायें और तत्संबंधी शुभभावों से यह काम हो जायेगा ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में ही इस २९४वीं गाथा का जन्म हुआ है। यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यदि कोई यह कहे कि **आत्मा और बंध का द्विधाकरण किस साधन से होता तो उसका उत्तर इसप्रकार है –**

(हरिगीत)

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों।
दोनों पृथक् हो जायें प्रज्ञाछैनि से जब छिन्न हों।।२९४।।

जीव तथा बंध नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं। प्रज्ञारूपी छैनी से छेदे जाने पर वे नानात्व (भिन्नपने) को प्राप्त होते हैं।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते; ततः प्रज्ञयैवात्म-बन्धयोर्द्विधाकरणम्।

ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्यव-हियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ?

नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तःसंधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि।

आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयः, तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्; समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्।

उक्त गाथा में यही कहा गया है कि आत्मा और बंध के द्विधाकरण में एकमात्र साधन भगवती प्रज्ञा ही है। तात्पर्य यह है कि इस महान कार्य का साधन भी तेरे अन्दर ही विद्यमान तेरी बुद्धि ही है; कहीं बाहर नहीं जाना है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र विस्तार से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा और बंध के द्विधा करनेरूप कार्य का कर्ता तो आत्मा है; किन्तु करण कौन है – इस बात पर गंभीरता से विचार करने पर यह सुनिश्चित होता है कि भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है; क्योंकि निश्चय से करण कर्ता से भिन्न नहीं होता। प्रज्ञा के द्वारा आत्मा और बंध का छेद करने पर वे अवश्य ही भिन्नता को प्राप्त होते हैं; इसलिए यह सुनिश्चित ही है कि प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बंध का द्विधाकरण होता है।

प्रश्न – आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है। ये दोनों अज्ञानदशा में चेत्य-चेतकभाव की अत्यन्त निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं, एक जैसे ही अनुभव में आ रहे हैं और भेदविज्ञान के अभाव के कारण मानो वे दोनों चेतक ही हों – ऐसा व्यवहार किया जाता है, उन्हें व्यवहार में एकरूप में ही माना जाता है – ऐसी स्थिति में उन्हें प्रज्ञा द्वारा कैसे छेदा जा सकता है?

उत्तर – आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसंधि में प्रज्ञाछैनी को सावधानी से पटकने से उनको छेदा जा सकता है – ऐसा हम मानते हैं।

अन्य समस्त द्रव्यों में असाधारण होने से, अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाने से चैतन्य आत्मा का लक्षण (स्वलक्षण) है। वह चैतन्य प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय में व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है; वे समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं – इसप्रकार लक्षित करना चाहिए; क्योंकि आत्मा उसी एक चैतन्य-लक्षण से लक्षित है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ

अविनाभावी सम्बन्ध होने से आत्मा चिन्मात्र ही है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।

बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणारागादयः स्वलक्षणम्। न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां ब्रिभाणाः प्रतिभासंते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात्।

न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभासित तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात्। यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव, नैकद्रव्यत्वात्; चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः, प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव, चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुना रागादिताम्। एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव।।२९४।।

बंध का लक्षण आत्मद्रव्य से असाधारण – ऐसे रागादिभाव हैं; ये रागादिभाव आत्मद्रव्य के साथ साधारणता (एकत्वरूप) को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, अपितु वे सदा चैतन्य–चमत्कार से भिन्नरूप ही प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन–जिन गुण–पर्यायों में चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है; वे सब गुण और पर्यायें आत्मा ही हैं – ऐसा जानना चाहिए।

और यह चैतन्य आत्मा अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ जितना प्रतिभासित होता है, उतने ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि जहाँ रागादिक नहीं होते, वहाँ भी चैतन्य का आत्मलाभ होता है अर्थात् आत्मा होता है।

और जो चैतन्य के साथ रागादिभावों की उत्पत्ति भासित होती है; वह तो चेत्य–चेतकभाव (ज्ञेय–ज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही भासित होती है, रागादि और आत्मा के एकत्व के कारण नहीं।

जिसप्रकार दीपक के द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले घटादिक पदार्थ दीपक के प्रकाशत्व को ही प्रगट करते हैं, घटत्वादिक को नहीं; उसीप्रकार आत्मा के ज्ञान में ज्ञात होनेवाले रागादिभाव आत्मा के चेतकत्व को ही प्रकट करते हैं, रागादिकत्व को नहीं।

ऐसा होने पर भी आत्मा और बंध की अति निकटता के कारण भेदसंभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से अज्ञानी को अनादिकाल से आत्मा और रागादि में एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; जो कि प्रज्ञा द्वारा अवश्य ही छेदा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त एकत्व के व्यामोह को आत्मसन्मुख ज्ञान की पर्याय द्वारा अवश्य ही मिटाया जा सकता है।''

उक्त सम्पूर्ण चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि इस गाथा में यही कहा गया है कि जीव और बंध को उनके स्वलक्षणों से जानकर, उनके बीच की अन्तःसन्धि को पहिचानकर, बुद्धि की तीक्ष्णता से उन्हें भेदकर, छेदकर, बंध से विरक्त होकर और उससे भिन्न अपने आत्मा में अनुरक्त होकर, उसी में समा जाओ; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणै: पातिता सावधानै:
सूक्ष्मेऽन्त:संधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंत:स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभित: कुर्वती भिन्नभिन्नौ।।१८१।।

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेददव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो।।२९५।।
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।२९६।।
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९७।।

(हरिगीत)

सूक्ष्म अन्त:संधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि को।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बंध को।।
अति भिन्न करके आतमा से आतमा में जम गये।
वे ही विवेकी धन्य हैं जो भवजलधि से तर गये।।१८१।।

अपने आत्मा को अपने अंतरंग तेज में स्थिर करती हुई तथा निर्मल और देदीप्यमान चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई एवं बंध को अज्ञानभाव में डालती हुई – इसप्रकार आत्मा और बंध को भिन्न करती हुई, यह प्रज्ञाछैनी प्रवीण पुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार प्रयत्नपूर्वक सावधानी से डालने पर आत्मा और कर्मबंध के बीच की सूक्ष्म अन्त:सन्धि में अतिशीघ्रता से पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि यह प्रज्ञाछैनी आत्मा और बंध को छेद देती है, भिन्न-भिन्न कर देती है और उपयोग के अन्तर्मुख होने से आत्मा का अनुभव हो जाता है। अत: प्रज्ञाछैनी ही एकमात्र कारण है।

विगत गाथा में कहा गया था कि प्रज्ञाछैनी द्वारा स्वलक्षणों के माध्यम से बंध और आत्मा को छेद देना चाहिए। अब इन आगामी गाथाओं में यह बता रहे हैं कि **ऐसा करने के उपरान्त क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए।** गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा।।२९५।।
जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे।।२९६।।
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता।

अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।२९७।।
जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः।।२९५।।
कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।।२९६।।
प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः।।२९७।।

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ; ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः। एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्।

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो, विभजत एव, प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत् – यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं; ये त्वमी अविशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि।

इसप्रकार जीव और बंध अपने निश्चित स्वलक्षणों द्वारा छेदे जाते हैं। ऐसा करके बंध को छोड़ देना चाहिए और आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाये ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि उसे प्रज्ञा से ही ग्रहण किया जाता है। जिसप्रकार प्रज्ञा से भिन्न किया; उसीप्रकार प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ। शेष सभी भाव मेरे से भिन्न ही हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''प्रथम तो आत्मा और बंध को उनके नियत स्वलक्षणों के विज्ञान से सर्वथा ही छेद देना चाहिए, भिन्न-भिन्न कर देना चाहिए और उसके बाद रागादि लक्षणवाले समस्त बंध को छोड़ देना चाहिए तथा उपयोग लक्षणवाले शुद्धात्मा को ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि बंध के त्याग से शुद्धात्मा का ग्रहण ही बंध और आत्मा के द्विधाकरण का मूल प्रयोजन है।

प्रश्न – यह शुद्धात्मा किसके द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए ?

उत्तर – प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जिसप्रकार बंध से भिन्न करने में एकमात्र प्रज्ञा ही करण थी; उसीप्रकार ग्रहण करने में भी एकमात्र प्रज्ञा ही करण है। इसलिए जिसप्रकार प्रज्ञा से विभक्त किया; उसीप्रकार प्रज्ञा से ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न – इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा किसप्रकार ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर – नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया चेतक मैं हूँ और अन्य लक्षणों से लक्ष्य व्यवहाररूप भाव चेतकरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होने से मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में

ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ।

यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये।

अथवा – न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमाना –च्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये; किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि।।२९५–२९७।।

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
~~**भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि**~~
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।१८२।।

आत्मा की चेतन ही एक क्रिया है; इसलिए मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में ही चेतता हूँ और चेतते हुए को ही चेतता हूँ।

अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ और न चेतते हुए को चेतता हूँ, किन्तु मैं सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव हूँ।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि आत्मा और बंध को उनके स्वलक्षणों से पहिचान कर बंध को छोड़कर आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को बंध से भिन्न जानने और ग्रहण करने का सम्पूर्ण कार्य अपनी स्वयं की बुद्धि–विवेक से ही होता है; इसमें अन्य किसी पर के सहयोग या किसी क्रियाकाण्ड की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार ये गाथायें आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता घोषित करनेवाली गाथायें हैं।

अब इन भावों का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

स्वलक्षणों के प्रबलबल से भेदकर परभाव को।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को।।
यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से।
तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ।।१८२।।

जो कुछ भी भेदा जा सकता है; उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर, जिसकी महिमा निर्विभाग है और जो चैतन्यमुद्रा से अंकित है – ऐसा शुद्धचैतन्य मैं ही हूँ। यदि कारकों के, धर्मों या गुणों के भेद पड़ते हों तो भले ही पड़ें; किन्तु समस्त विभावों से रहित शुद्ध सर्वप्रभुतासम्पन्न चैतन्यस्वभावी विभु आत्मा में तो कोई भी भेद नहीं हैं।

यहाँ कारकों में कर्ता–कर्मादि षट्कारक, धर्मों में नित्यत्व–अनित्यत्वादि धर्मयुगल और गुणों में

ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुणों को लेना चाहिए।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।२९८।।
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।२९९।।

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः।।२९८।।
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः।।२९९।।

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि। अथवा न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि; किन्तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि।

२९७वीं गाथा में जो बात सामान्य चेतकस्वभाव के बारे में अथवा सामान्य चेतना के बारे में कही गई थी; अब आगामी गाथाओं में वही बात ज्ञायकस्वभाव और दर्शकस्वभाव अथवा ज्ञान-चेतना और दर्शनचेतना के बारे में कही जा रही है। गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

(हरिगीत)

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।२९८।।
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।२९९।।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो देखनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं – ऐसा जानना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो जाननेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं – ऐसा जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''चेतना दर्शन-ज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती; इसलिए चेतकत्व की भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व भी आत्मा के स्वलक्षण ही हैं। इसलिए मैं देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ।

ग्रहण करता हूँ अर्थात् देखता ही हूँ, देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ। अथवा नहीं देखता; न देखते हुए देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ और न

देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्धदर्शनमात्र भाव हूँ।

अपि च – ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव; जानन्नयेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि; किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि।

ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ?

उच्यते – चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु, सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात्, द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने। ततः सा ते नातिक्रामति।

यद्यतिक्रामति, सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ – स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या।।२९८-२९९।।

इसीप्रकार मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा – नहीं जानता; न जानते हुए जानता हूँ, न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्धज्ञप्ति (जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ।

प्रश्न – चेतना दर्शनज्ञान भेदों का उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला दृष्टा व ज्ञाता होता है ?

उत्तर – प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है और वह चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती; क्योंकि सभी वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं।

उसके जो दो रूप हैं, वे दर्शन और ज्ञान हैं। इसलिए वह चेतना ज्ञान-दर्शन – इन दो रूपों का उल्लंघन नहीं करती।

यदि चेतना ज्ञानदर्शन का उल्लंघन करे तो सामान्यविशेष का उल्लंघन करने से चेतना ही न रहे।

उसके अभाव में दो दोष आते हैं –

१. अपने गुण का नाश होने से चेतन को अचेतनत्व हो जायेगा।

२. व्यापक चेतना के अभाव में व्याप्य चेतन का अभाव हो जायेगा।

इसलिए इन दोषों के भय से चेतना को ज्ञानदर्शनस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिए।''

इसप्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।

२९७वीं गाथा में चिद्स्वभाव की बात कही गई थी और इन २९८-२९९वीं गाथा में दर्शनस्वभाव

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।।१८३।।

और ज्ञानस्वभाव की बात कही गई है। देखना-जानना चेतना के ही विशेष हैं। अत: २९७वीं गाथा में सामान्य कथन था और २९८-२९९वीं गाथा में विशेष कथन है।

इसप्रकार इन तीन गाथाओं में यही कहा गया है कि जो जानने-देखनेवाला चेतनतत्त्व है; वही मैं हूँ, शेष सभी भाव मेरे से भिन्न परपदार्थ हैं। इसप्रकार जानकर प्रज्ञाछैनी से जानने-देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

अब इसी अर्थ का पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में।
किन्तु फिर भी ज्ञान-दर्शन भेद से दो रूप है।।
यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे।।
अस्तित्व ही ना रहे इनके बिना चेतन द्रव्य का।
चेतना के बिना चेतन द्रव्य का अस्तित्व क्या ?
चेतन नहीं बिन चेतना चेतन बिना ना चेतना।
बस इसलिए हे आत्मन् ! इनमें सदा ही चेत ना।।१८३।।

यद्यपि जगत में निश्चय से चेतना अद्वैत ही है; तथापि यदि वह अपने दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे तो सामान्य-विशेषरूप के विरह (अभाव) से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। तात्पर्य यह है कि ज्ञान-दर्शन के अभाव में चेतना का अस्तित्व ही न रहेगा।

इसप्रकार चेतना के अपने अस्तित्व को छोड़ देने पर चेतन आत्मा जड़ हो जायेगा और व्यापक चेतना के बिना व्याप्य आत्मा नष्ट हो जायेगा। इसलिए इसी में भला है कि चेतना नियम से दर्शन-ज्ञानरूप ही हो।

यद्यपि दर्शनज्ञानरूप चेतना एक ही है; तथापि देखनेरूप दर्शन और जाननेरूप ज्ञान - इसप्रकार देखने और जानने के रूप में चेतना दो प्रकार से परिलक्षित होती है।

सामान्य अवलोकन को दर्शन कहते हैं और विशेष जानने को ज्ञान कहते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यविशेषात्मक ज्ञेयवस्तु को विषय बनानेवाली चेतना को भी सामान्यग्राही दर्शन और विशेषग्राही ज्ञान के रूप में दो प्रकार का होना स्वाभाविक

ही है।

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।१८४।।

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।३००।।

को नाम भणेद्बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम्।।३००।।

इसप्रकार यह अद्वैत चेतना ही दर्शन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। इसी बात को इस कलश में सयुक्ति सिद्ध किया गया है। कहा गया है कि यह अद्वैत चेतना यदि देखने और जाननेरूप दोपने को छोड़ दे तो सामान्य और विशेष के अभाव हो जाने से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। जब चेतना का ही अस्तित्व नहीं रहेगा तो फिर चेतना के अभाव में चेतनद्रव्य जड़ हो जायेगा। जड़ ही नहीं, अपितु उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा; क्योंकि चेतना के बिना चेतन कैसा ? इसलिए भला इसी में है कि हम चेतना को दर्शनज्ञानरूप ही स्वीकार करें।

अब आगामी गाथा की सूचनिकारूप कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

चिन्मय चेतनभाव हैं, पर हैं पर के भाव।
उपादेय चिद्भाव हैं, हेय सभी परभाव।।१८४।।

चेतन आत्मा का तो एक चिन्मयभाव ही है। अन्य जो भाव हैं, वे आत्मा के नहीं हैं, वे अन्य के ही भाव हैं। इसलिए एक चिन्मयभाव ग्रहण करने योग्य है, शेष सभी भाव पूर्णतः हेय हैं।

इस सरल–सुबोध कलश में एक ही बात कही गई है कि आत्मा तो चैतन्यमात्र ही है; और जो भाव हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं, वे आत्मा नहीं हैं; इसलिए आत्मकल्याण के लिए चैतन्यलक्षण से लक्षित आत्मा ही उपादेय है, शेष सभी भाव हेय हैं।

यही बात आगामी गाथा में कही गई है, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे।।३००।।

अपने शुद्ध आत्मा को जाननेवाला और सर्व परभावों को पर जाननेवाला कौन ज्ञानी ऐसा होगा कि जो यह कहेगा कि ये परपदार्थ मेरे हैं ? तात्पर्य यह है कि कोई भी समझदार व्यक्ति

यह नहीं कहता कि परपदार्थ मेरे हैं तो फिर आत्मज्ञानी व्यक्ति ऐसी बात कैसे कह सकता है ?

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात्, स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति, शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासंभवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ।।३००।।

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा–
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।१८५।।

आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जो पुरुष पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी हुआ है; वह वास्तव में एक चिन्मात्रभाव को अपना जानता है और शेष सभी भावों को दूसरों के जानता है। ऐसा जानता वह पुरुष परभावों को 'ये मेरे हैं' – ऐसा क्यों कहेगा; क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्व–स्वामीसंबंध संभव नहीं है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं – ऐसा सिद्धान्त है।''

अब इसी बात को दृढ़ता प्रदान करते हुए आगामी कलश लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन।।
जो विविध परभाव मुझमें दिखें वे मुझ से पृथक्।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं।।१८५।।

जिनका चित्त और चरित्र उदार हैं – ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा इस सिद्धान्त का सेवन किया जाना चाहिए कि मैं तो सदा एक शुद्ध चैतन्यमय परमज्योति हूँ और मुझसे पृथक् लक्षणवाले विविधप्रकार के जो भाव प्रगट होते हैं; वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

उक्त कलश में एक ही बात कही गई है कि जो मोक्षार्थी हैं, मुमुक्षु हैं, जिन्हें दुःखों से मुक्त होने की आकांक्षा है; उन्हें इस महान सिद्धान्त पर अपनी श्रद्धा दृढ़ करना चाहिए और इसी के अनुसार आचरण भी करना चाहिए।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि मोह–राग–द्वेष भावों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी

निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही धर्म है और तदनुसार आचरण ही धर्माचरण है।

(अनुष्टुभ्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ।।१८६।।

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरी त्ति जणम्हि वियरंतो ।।३०१।।
जो ण कुणदि अवराह सो णिस्संको दु जणवदि भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ।।३०२।।
एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ।।३०३।।

अब आगामी गाथा की सूचना देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

परग्राही अपराधिजन, बाँधें कर्म सदीव।
स्व में ही संवृत्त जो, वह ना बँधे कदीव।।१८६।।

परद्रव्य को ग्रहण करनेवाला अपराधी होने से बंधन को प्राप्त होता है और स्वद्रव्य में संवृत्त यति निरपराधी होने से बंधन को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार लोक में जो व्यक्ति परधनादि को ग्रहण करता है, वह अपराधी माना जाता है और बंधन को प्राप्त होता है; उसीप्रकार इस अलौकिक मार्ग में भी जो आत्मा परभावों का स्वामी तथा कर्ता-भोक्ता बनता है, वह अपराधी होने से कर्मबंधन को प्राप्त होता है और जो स्वद्रव्य में ही सिमट कर रहता है, अपने उपयोग को अपने आत्मा में ही लगाता है, अपने आत्मा को निज जानता-मानता है और अपने में ही जमता-रमता है, वह निरपराधी होने से बंधनों से मुक्त हो जाता है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, उसी बात को गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें।
कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध ले।।३०१।।
अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे।
बँध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित रहे।।३०२।।
अपराधि जिय 'मैं बँधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे।
पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है।।३०३।।

जो पुरुष चोरी आदि अपराध करता है, वह 'कोई मुझे चोर समझकर पकड़ न ले' –

इसप्रकार शंकित होता हुआ लोक में घूमता है।

स्तेयादीन् राधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन्।।३०१।।
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिंतोत्पद्यते कदाचित्।।३०२।।
एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये।।३०३।।

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवतीति नियमः।

अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात्।।३०१-३०३।।

जो पुरुष अपराध नहीं करता है, वह लोक में निःशंक घूमता है; क्योंकि उसे बँधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती।

इसीप्रकार अपराधी आत्मा 'मैं अपराधी हूँ, इसलिए मैं बँधूँगा' - इसप्रकार शंकित होता है और यदि वह निरपराध हो तो 'मैं नहीं बँधूँगा' - इसप्रकार निःशंक होता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''जिसप्रकार जगत में जो पुरुष परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध को करता है, उसको बँधने की शंका होती ही है और जो इसप्रकार के अपराध नहीं करता, उसे बँधने की शंका भी नहीं होती; उसीप्रकार यह आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध करता है तो उसे बंध की शंका होती है तथा जो आत्मा शुद्ध वर्तता हुआ उक्तप्रकार का अपराध नहीं करता, उसे बंध की शंका नहीं होती - ऐसा नियम है।

इसलिए समस्त परकीय भावों के सर्वथा परिहार द्वारा शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।''

उक्त गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में अपराध करनेवाला निरन्तर सशंक रहता है, उसे ऐसी शंका निरन्तर बनी ही रहती है कि मैं पकड़ा न जाऊँ। इसीकारण वह बंधन को प्राप्त होता है। उसीप्रकार आत्मा की आराधना से रहित लोग पुण्य-पापरूप भावों में परिणमित होते रहते हैं और निरन्तर सशंक रहते हुए बंधन को प्राप्त होते हैं।

जिसप्रकार लोक में निरपराधी निरन्तर निःशंक रहते हुए बंधन को प्राप्त नहीं होते; उसीप्रकार आत्मा की आराधना करनेवाले निरपराधी आत्मार्थी भाई भी निरन्तर निःशंक रहते हैं और बंधन को भी प्राप्त नहीं होते।

इसलिए निरपराधी रहने के लिए परभावों के परित्याग द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए,

आत्मा की आराधना करना चाहिए।

को हि नामायमपराधः ?

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधिय च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो।।३०४।।
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम्।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः।।३०४।।
यः पुनिर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन्।।३०५।।

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः। अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः, तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः।

स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्धशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात्।

विगत गाथाओं में कहा था कि अपराधी बँधता है और निरपराधी छूटता है। अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि '**अपराध क्या है ?**'

इस प्रश्न का उत्तर ही इन ३०४-३०५वीं गाथाओं में है; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है।।३०४।।
निरपराध है जो आतमा वह आतमा निःशंक है।
'मैं शुद्ध हूँ' – यह जानता आराधना में रत रहे।।३०५।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित – ये एकार्थवाची हैं। जो आत्मा अपगतराध है अर्थात् राध से रहित है; वह आत्मा अपराध है।

और जो आत्मा निरपराध है, वह निःशंक होता है। ऐसा आत्मा ही मैं हूँ – ऐसा जानता हुआ आत्मा सदा आराधना में वर्तता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन ही राध है और जो आत्मा अपगतराध है अर्थात् राधरहित है, वह आत्मा अपराध है अथवा जो भाव राधरहित हो, वह भाव अपराध है। उस अपराध में वर्तनेवाला आत्मा सापराध है।

परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव के द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण उस आत्मा को बंध की शंका होती है; इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक ही है।

यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशंकाया असंभवे सति उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात्।।३०४-३०५।।

(मालिनी)

अनवरतमनंतबध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी।।१८७।।

समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बंध की शंका नहीं होने से निरपराधी आत्मा – 'उपयोग लक्षणवाला शुद्धात्मा मैं ही हूँ' – इसप्रकार का निश्चय करता हुआ शुद्धात्मा की सिद्धिरूप आराधनापूर्वक सदा वर्तता है; इसलिए वह आराधक ही है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि आत्मा की साधना ही राध है और जो आत्मा उक्त साधना से रहित है, वह आत्मा स्वयं अपराध है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की साधना से रहित भाव अपराध है और उस अपराध से सहित होने से आत्मा अपराधी है। आत्मा अपराधी है; इसलिए एक प्रकार से आत्मा ही अपराध है।

अब इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें।।
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा।।१८७।।

अपराधी आत्मा अनन्त पौद्गलिक कर्मों से बंधन को प्राप्त होता है और निरपराधी आत्मा बंधन को कभी स्पर्श भी नहीं करता। अज्ञानी आत्मा तो नियम से स्वयं को अशुद्ध जानता हुआ, अशुद्ध मानता हुआ और अशुद्ध भावरूप परिणमित होता हुआ सदा अपराधी ही है; किन्तु निरपराधी आत्मा तो सदा शुद्धात्मा का सेवन करनेवाला ही होता है।

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि पर में एकत्व-ममत्व धारण करनेवाला अपराधी आत्मा निरन्तर बंध को प्राप्त होता है और शुद्धात्मसेवी आत्मा अर्थात् अपने आत्मा में ही एकत्व-ममत्व धारण कर उसमें ही जमने-रमनेवाला आत्मा कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होता।

इसलिए शुद्धात्मा का सेवन निरन्तर किया जाना चाहिए; क्योंकि निरपराधी होने का एकमात्र यही उपाय है।

३०६ एवं ३०७वीं गाथाओं की उत्थानिका आत्मख्याति में विस्तार से दी गई है; जो इसप्रकार है–

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात्।

उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे –

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु।।२।।

अत्रोच्यते –

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।३०६।।
अप्पडिकमणप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो।।३०७।।

''यहाँ शंकाकार कहता है कि आप शुद्धात्मा की उपासना से निरपराध होने की बात कह रहे हैं; पर प्रश्न यह है कि शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि आत्मा निरपराध तो प्रतिक्रमण आदि से ही होता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि अपराधी के अप्रतिक्रमण आदि विषकुंभ हैं; क्योंकि वे अपराध को दूर करनेवाले नहीं हैं और इसीलिए प्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ कहा है; क्योंकि वे अपराध को दूर करनेवाले हैं।

व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है। व्यवहारसूत्र की गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा विषकुंभ हैं।।
प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविधामृतकुंभ हैं।।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – ये आठ प्रकार

के अमृतकुम्भ हैं।''

यह प्रश्न उन व्यवहारवादियों का है, जो ऐसा मानकर संतुष्ट हैं कि निरपराधी बनने का उपाय तो प्रतिक्रमणादि ही हैं। उनका कहना है कि अपराध का प्रायश्चित्त कर लेने पर उस अपराध के

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः।।३०६।।
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव।
अनिवृत्ति-श्चानिंदा-ऽगर्हा-ऽशुद्धि-रमृत-कुम्भः।।३०७।।

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराध-त्वाद्विषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेण ?

दोष से मुक्त हो जाते हैं और इसीलिए प्रतिक्रमणादि किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में अपराध के दोष से मुक्त होने के लिए शुद्धोपयोग की क्या आवश्यकता है ?

शास्त्रों में व्यवहारप्रतिक्रमणादि की जो चर्चा है; उसी को आधार बनाकर शिष्य ने यह प्रश्न किया है; जिसका उत्तर निश्चयप्रतिक्रमणादि का स्वरूप बतानेवाली निम्नांकित गाथाओं में दिया गया है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुंभ हैं।।३०६।।
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ हैं।।३०७।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – ये आठ प्रकार के विषकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि संभवित है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – ये आठ प्रकार के अमृतकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि का निषेध है।

ध्यान रहे, यहाँ प्रतिक्रमण आदि को विषकुंभ (जहर का घड़ा) और अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुंभ (अमृत का घड़ा) कहा है; जबकि उत्थानिका में उद्धृत गाथाओं में प्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ और अप्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहा गया है।

दोनों कथन एकदम परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। जिन्हें आचारशास्त्रों में अमृतकुंभ कहा है, उन्हें ही यहाँ विषकुंभ कहा जा रहा है और जिन्हें वहाँ विषकुंभ कहा है, उन्हें ही यहाँ अमृतकुंभ बताया जा रहा है।

वस्तुतः बात यह है कि आचारशास्त्रों में समागत उक्त कथन व्यवहार कथन है और यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह निश्चय कथन है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार खोलते हैं –

''सबसे पहली बात तो यह है कि अज्ञानीजनों में पाये जानेवाले अप्रतिक्रमणादि तो

शुद्धात्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले होने से स्वयमेव ही अपराधस्वरूप हैं; इसलिए वे (अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि) तो विषकुंभ ही हैं; उनके संबंध में विचार करने से क्या प्रयोजन है ?

यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्।

अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं साधयति।

तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते। तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः।

ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति, अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति।

वक्ष्यते चात्रैव –

तात्पर्य यह है कि यहाँ अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ नहीं कहा जा रहा है; क्योंकि वे तो स्पष्टरूप से विषकुंभ ही हैं, हेय ही हैं, त्यागने योग्य ही हैं, बंध के ही कारण हैं।

जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं, वे सम्पूर्ण अपराधरूपी विष के दोष को क्रमशः कम करने में समर्थ होने से व्यवहार-आचार सूत्र के कथनानुसार अमृतकुंभरूप होने पर भी प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण – इन दोनों से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को न देख पानेवाले पुरुषों को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि अपना कार्य करने में असमर्थ होने एवं विपक्ष (बन्ध) का कार्य करनेवाले होने से विषकुंभ ही हैं।

अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से स्वयं साक्षात् अमृतकुंभ है। इस प्रकार वह तीसरी भूमि व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुंभत्व साधती है।

उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस तीसरी भूमि के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही हैं; इसलिए यह सिद्ध होता है कि तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है। उसकी प्राप्ति के लिए ये द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।

उक्त वस्तुस्थिति के संदर्भ में ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि यह शास्त्र (समयसार) द्रव्य-प्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है।

यदि ऐसा नहीं है तो फिर क्या कहता है यह शास्त्र ?

इस शास्त्र का कहना तो यह है कि यहाँ द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छोड़ने की बात नहीं कही जा रही है; अपितु यह कहा जा रहा है कि इन द्रव्यप्रतिक्रमणादि के अतिरिक्त भी इन प्रतिक्रमणादि

और अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अन्य अप्रतिक्रमणादि हैं; जो शुद्धात्मा की सिद्धिरूप अतिदुष्कर कुछ करवाता है।

इस ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि –

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।इत्यादि।।३०६–३०७।।

(हरिगीत)

शुभ–अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किये गतकाल में।
उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है।।

अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है; वह आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है।''

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का अर्थ करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला है। एक तो उन्होंने प्रतिक्रमण, प्रतिसरण आदि आठ प्रकारों को परिभाषित किया है, जो कि अत्यन्त आवश्यक था; क्योंकि इन आठों के स्वरूप के संबंध में ही पर्याप्त जानकारी न हो तो उनके संबंध में की गई टिप्पणियों का भाव भी भासित नहीं होगा। दूसरे **किंच विशेष:** कहकर ज्ञानी और अज्ञानी के प्रतिक्रमणों को विस्तार से समझाया है। उनके प्रतिपादन का भाव इसप्रकार है –

''(१) किये गये दोषों का निराकरण करना 'प्रतिक्रमण' है।

(२) सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा करना या प्रवृत्त होना 'प्रतिसरण' है।

(३) मिथ्यात्व व रागादि दोषों का निवारण करना 'प्रतिहरण' है।

(४) पंचनमस्कार आदि मंत्रों और प्रतिमा (जिनबिम्ब) आदि बाह्यद्रव्यों के अवलम्बन से चित्त को स्थिर करना 'धारणा' है।

(५) बाह्य विषय–कषायादि में ईहागत (इच्छा युक्त) चित्त का निवर्तन (निवारण) करना 'निवृत्ति' है।

(६) अपने आपकी साक्षी से दोषों को प्रगट करना 'निन्दा' है।

(७) गुरु की साक्षी से दोषों को प्रगट करना 'गर्हा' है।

(८) किसी भी प्रकार का दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त लेकर उसका शोधन करना 'शुद्धि' है।

उक्त आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय–कषाय परिणतिरूप अशुभोपयोग की अपेक्षा सविकल्प सरागचारित्र की अवस्था में अमृतकुंभ है; तथापि राग–द्वेष–मोह, ख्याति–लाभ–पूजा, दृष्ट–श्रुत–अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदि सभी परद्रव्यों के आलम्बनवाले विभाव परिणामों से शून्य (रहित), चिदानन्दैकस्वभाव से विशुद्ध आत्मा के आलम्बन से भरित (भरी हुई) अवस्थावाली, निर्विकल्प शुद्धोपयोगलक्षणवाली तथा 'अप्पडिकमणम...' इत्यादि गाथा में कथित क्रमानुसार ज्ञानीजनों के द्वारा आश्रय ली गई निश्चय–अप्रतिक्रमणादिरूप जो तृतीयभूमि है, उसकी अपेक्षा वीतरागचारित्र में स्थित जनों के लिए तो

उक्त प्रतिक्रमणादि आठ प्रकार का शुभोपयोग विषकुंभ ही है – यह अर्थ है।

कुछ विशेष है, जो इसप्रकार है – अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है – ज्ञानियों के आश्रित अप्रतिक्रमण और अज्ञानियों के आश्रित अप्रतिक्रमण।

उनमें अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय-कषाय की परिणतिरूप ही होता है; किन्तु ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान (आचरण) स्वरूप त्रिगुप्तिमय (स्वानुभूतिमय) होता है।

वह ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण सरागचारित्र लक्षणवाले शुभोपयोग की अपेक्षा यद्यपि अप्रतिक्रमण कहा जाता है; तथापि वीतरागचारित्र की अपेक्षा वह अप्रतिक्रमण वस्तुत: निश्चय-प्रतिक्रमण ही है।

यदि कोई कहे कि वह अप्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण कैसे है ?

तो उससे कहते हैं कि समस्त शुभाशुभ आस्रवरूप दोषों के निराकरणरूप होने से वह अप्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण ही है। इसलिए यह निश्चय हो गया कि वह स्वानुभवरूप अप्रतिक्रमण ही निश्चयप्रतिक्रमण है।

यद्यपि यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द से वाच्य है; तथापि यह ज्ञानिजनों को मोक्ष का कारण बनता है।

शुद्धात्मा को उपादेय मानकर निश्चयप्रतिक्रमण के साधकभाव के रूप में विषय-कषाय से बचने के लिए यदि व्यवहारप्रतिक्रमण किया जाता है तो वह व्यवहारप्रतिक्रमण परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाता है; अन्यथा मात्र स्वर्गादिसुख के निमित्तभूत पुण्य का ही कारण है।

और जो अज्ञानियों से संबंधित अप्रतिक्रमण है, वह तो मिथ्यात्व और विषय-कषाय की परिणतिरूप होने से नरकादि दु:खों का ही कारण है।

इसप्रकार प्रतिक्रमणादि आठ विकल्पों रूप शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृतकुंभ होता है; तथापि सुख-दु:खादि में समताभाव रखनेरूप – परमोपेक्षारूप संयम की अपेक्षा विषकुंभ ही है।''

यहाँ यह कहा जा रहा है कि गलती करके भी प्रायश्चित्त नहीं करना व्यवहार-अप्रतिक्रमण है और वह विषकुंभ है तथा गलती हो जाने पर प्रायश्चित्त करके उसे सुधार लेना व्यवहारप्रतिक्रमण है और अमृतकुंभ है – आचारशास्त्रों का यह कथन व्यवहारनय का कथन है, जो उचित ही है।

ऐसा कहकर भी यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान आकर्षित किया जा रहा है कि गलती करके प्रायश्चित्त करना या नहीं करना – इन दोनों से परे एक स्थिति ऐसी भी है कि जो इन दोनों से परे है, पार है; वह तीसरी स्थिति है – गलती करना ही नहीं, अपराध करना ही नहीं।

शुद्धोपयोग एक ऐसी स्थिति है कि जहाँ शुभाशुभभावरूप अपराध होता ही नहीं है। जब अपराध होता ही नहीं है तो फिर प्रायश्चित्त की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसलिए इसे अप्रतिक्रमण कहते हैं; पर यह अप्रतिक्रमण वह स्थिति नहीं है कि जिसमें अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त नहीं लिया जाता है; क्योंकि वह तो पापरूप ही है और यह अप्रतिक्रमण तो पुण्य-पाप से पार परमधर्मरूप है। इसलिए यह अप्रतिक्रमण ही वस्तुत: निश्चयप्रतिक्रमण है और मुक्ति का

वास्तविक कारण होने से धर्ममय ही है।

इस भोले जगत को तीसरे निश्चयप्रतिक्रमण की खबर ही नहीं है।

अतो हता: प्रमादिनो गता: सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनम्।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा
संपूर्ण – विज्ञान – घनोप – लब्धे: ।।१८८।।

अरे भाई ! यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि गलती करना, प्रायश्चित्त करना; फिर गलती करना और फिर प्रायश्चित्त करना – ऐसे गजस्नान से क्या लाभ है ? गलती करके भी प्रायश्चित्त नहीं करना तो महापाप है। ऐसा अप्रतिक्रमण तो सर्वथा हेय ही है; किन्तु बार-बार गलती करना और बार-बार प्रायश्चित्त करने से भी कोई लाभ नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ऐसी गलती करना ही नहीं कि प्रायश्चित्त करना पड़े – यही सबसे बढ़िया बात है, जिसे यहाँ अप्रतिक्रमण या निश्चयप्रतिक्रमण कहा जा रहा है। शुद्धोपयोगरूपदशा ही ऐसी दशा है कि जिसमें पुण्य-पापरूपभाव का अभाव होने से कोई गलती होती ही नहीं है – यही परम उपादेय है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि ज्ञानियों के ही शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण और शुभोपयोगरूप व्यवहारप्रतिक्रमण होता है।

अज्ञानियों के न तो सच्चा व्यवहारप्रतिक्रमण ही होता है और न शुद्धोपयोगरूप निश्चय-प्रतिक्रमण ही।

जिस अप्रतिक्रमण को यहाँ अमृतकुंभ कहा है, वह शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण ही है और जिस प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहा है, वह शुभभावरूप है। शुभभावरूप प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहने का कारण यह है कि वह आत्मा की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है, पुण्यबंध का कारण है, बंध के अभाव का कारण नहीं है।

एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रतिक्रमण करनेरूप जिस शुभभाव को आचारशास्त्रों में अमृतकुंभ कहा है, वह प्रतिक्रमणरूप शुभभाव उन ज्ञानियों का ही है, जो शुद्धोपयोगरूप निश्चय प्रतिक्रमण को प्राप्त हो गये हैं।

अब इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

अरे मुक्तिमार्ग में चापल्य अर परमाद को।
है नहीं कोई जगह कोई और आलंबन नहीं।।
बस इसलिए ही जबतलक आनन्दघन निज आतमा।
की प्राप्ति न हो तबतलक तुम नित्य ध्याओ आतमा।।१८८।।

इस कथन से सुखासीन (सुख से बैठे हुए) प्रमादी जीवों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती – यह कहा गया है और चपलता का भी निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चल प्रमादियों

और चंचल क्रियाकाण्डियों – दोनों को ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती – यह स्पष्ट कर दिया है, सभी आलंबनों को उन्मूलित कर दिया है, उखाड़ फैंका है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यप्रतिक्रमणादि को निश्चय से बंध का कारण बताकर उनका निषेध कर दिया है।

(वसन्ततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ।।१८९।।

आचार्यदेव कहते हैं कि जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तबतक हमने चित्त को आत्मारूपी स्तंभ से ही बाँध रखा है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि आत्मार्थी को न तो समस्त क्रियाकाण्ड छोड़कर प्रमादी ही हो जाना चाहिए और न क्रियाकाण्ड में ही उलझकर रह जाना चाहिए। यदि अपराध हुआ है तो प्रतिक्रमणादि क्रिया व तत्सम्बन्धी शुभभाव को अमृतकुम्भ जानकर उस अपराध का परिमार्जन करना चाहिए; किन्तु शुभक्रियाओं और शुभविकल्पों में ही उलझे रहकर इस बहुमूल्य मानव जीवन को यों ही नहीं गँवा देना चाहिए।

भूमिकानुसार यथायोग्य प्रतिक्रमणादि होंगे ही, तो भी उनमें उपादेयबुद्धि नहीं होना चाहिए; क्योंकि उपादेय तो एकमात्र वह शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण ही है, जिसे निश्चयप्रतिक्रमण भी कहते हैं।

विगत गाथाओं में प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। उक्त कथन का मर्म न समझ पाने के कारण कोई व्यक्ति प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी न हो जाये – इस भावना से आगामी कलश में सावधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष–जहर कहा हो।
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को।।
अरे प्रमादी लोग अधोऽधः क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहीं जाते ? ।।१८९।।

जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा हो; वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है, कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रमाददशारूप अप्रतिक्रमण अमृत नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति होने पर भी लोग नीचे–नीचे ही गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं; निष्प्रमादी होकर ऊपर–ऊपर ही क्यों नहीं चढ़ते ?

उक्त कथन का सार यह है कि अशुभभावरूप जो अप्रतिक्रमण है, पाप प्रवृत्ति करके भी

पश्चात्ताप नहीं करने रूप जो वृत्ति है; वह तो महा जहर है और सर्वथा त्याज्य है।

प्रमादवश होनेवाले अपराधों के प्रति पश्चात्ताप के भाव होने रूप जो प्रतिक्रमणादि हैं; वे पाप की अपेक्षा व्यवहार से अमृतकुंभ हैं, कथंचित् करने योग्य हैं।

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ।।१९०।।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल–
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ।।१९१।।

शुभाशुभभाव से रहित शुद्धोपयोग जो निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमणादि हैं, वे साक्षात् अमृतकुंभ हैं, सर्वथा ग्रहण करने योग्य हैं; मुक्ति के साक्षात् कारण हैं।

अब इसी भाव का पोषण आगामी कलश में भी करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है,
यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता ?
निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो,
अल्पकाल में वे मुनिवर ही बंधमुक्त हों।।१९०।।

कषायों के भार से भारी होने से आलस का होना प्रमाद है। यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभावरूप अप्रतिक्रमण अथवा निश्चयप्रतिक्रमण कैसे हो सकता है ? इसलिए निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाले मुनिजन परम शुद्धता को प्राप्त होते हैं अथवा अल्पकाल में ही मुक्त हो जाते हैं।

इस कलश का अर्थ करते हुए पाण्डे राजमलजी कलशटीका में **अलसः** का अर्थ अनुभव में शिथिल और **प्रमादकलितः** का अर्थ नानाप्रकार के विकल्पों से संयुक्त करते हैं तथा **मुनि** का अर्थ सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं।

अब मोक्षाधिकार की समाप्ति पर दो कलश कहते हैं; जिसमें पहले कलश में मोक्ष होने का अनुक्रम बताते हुए दूसरे कलश में धीर–वीर ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए अन्तमंगल करते हैं।

मोक्ष होने का अनुक्रम बतानेवाले प्रथम कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

अरे अशुद्धता करनेवाले परद्रव्यों को,

अरे दूर से त्याग स्वयं में लीन रहे जो।
अपराधों से दूर बंध का नाश करें वे,
शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे।।१९१।।

(मन्दाक्रान्ता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत–
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम्।
एकाकार–स्व–रस–भरतो–ऽत्यंत–गंभीर–धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि।।१९२।।

इति मोक्षो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायात्माख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः।

वस्तुतः जो पुरुष अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यों को छोड़कर स्वयं में रति करता है, स्वयं में लीन होता है; वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ बंध के नाश को प्राप्त होकर उदित अपनी ज्योति से निर्मल तथा उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा पूर्णता को प्राप्त महिमावाला शुद्ध होता हुआ कर्मों से मुक्त होता है।

इसप्रकार इस कलश में मुक्ति के मार्ग पर संक्षेप में सम्पूर्णतः प्रकाश डाल दिया है; मोक्षाधिकार का संक्षिप्त सार बता दिया है। इसमें कहा गया है कि समस्त परद्रव्यों को त्याग कर स्व में लीन होनेवाले सम्यग्दृष्टि मुनिराज सर्व अपराधों से रहित होते हुए पूर्णज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

अब मोक्षाधिकार के अन्त में अन्तमंगलरूप कलश कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

बंध–छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर।।१९२।।

नित्य–उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णतः शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर–गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबंध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया।

इसप्रकार इस कलश में अन्तमंगल के रूप सम्यग्ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है कि जो स्वयं में समाकर, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का आश्रय कर केवलज्ञानरूप परिणमित हो गई है। ज्ञानज्योति का केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाना ही मोक्ष है।

इसप्रकार यह मोक्षाधिकार समाप्त होता है।

आत्मख्याति के मोक्षाधिकार का अन्तिम वाक्य यह है कि **इसप्रकार मोक्ष भी रंगभूमि से निकल गया।** मोक्ष भी तो एक स्वांग है, आत्मवस्तु का मूल स्वरूप नहीं है। मोक्ष भी एक पर्याय का नाम है, वह भी आत्मा का द्रव्यस्वभाव नहीं है; अतः यहाँ उसे भी स्वांग कहा है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में मोक्ष का प्ररूपक आठवाँ अंक समाप्त हुआ।

●●●

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्।

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः।।१९३।।

मंगलाचरण

(दोहा)

उक्त भाव हैं स्वांग सब, सर्वविशुद्धस्वभाव।
स्वांग नहीं वह मूलतः, आतम वस्तुस्वभाव।।

अबतक जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया है तथा निर्जराधिकार में भेदविज्ञान सम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों के भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है – यह स्पष्ट किया गया है।

बंधाधिकार में बंध के कारणों पर एवं मोक्षाधिकार में मुक्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है।

अब इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में भगवान आत्मा के अकर्ता-अभोक्ता सर्वविशुद्धज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार का आरंभ भी आत्मख्याति टीका में ''**अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है**'' – इस वाक्य से ही होता है। तात्पर्य यह है कि रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये आठ स्वांग आये और अपना नृत्य दिखाकर, अपना स्वरूप बताकर चले गये। इसप्रकार सर्व स्वांगों के चले जाने पर अब एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

उक्त आठ तो स्वांग थे, पर यह सर्वविशुद्धज्ञान स्वांग नहीं है, आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

आत्मख्याति में सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में ज्ञानपुंज आत्मा का स्मरण करते हैं। मंगलाचरण के छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

जिसने कर्तृ-भोक्तृभाव सब नष्ट कर दिये,
बंध-मोक्ष की रचना से जो सदा दूर है।
है अपार महिमा जिसकी टंकोत्कीर्ण जो;
ज्ञानपुंज वह शुद्धातम शोभायमान है।।१९३।।

(अनुष्टुभ्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकाः ।।१९४।।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त विकारीभावों का भली-भाँति प्रलय (अभाव) करके, पद-पद पर बंध-मोक्ष की रचना से दूर रहता हुआ, टंकोत्कीर्ण प्रगट महिमावाला यह परमशुद्ध ज्ञानपुंज आत्मा निजरस के विस्तार से परिपूर्ण पवित्र अचल तेज से स्फुरायमान हो रहा है।

इसके पूर्व के अधिकारों में मंगलाचरण के रूप में जिस ज्ञानज्योति को स्मरण किया जाता रहा है, उसे केवलज्ञानज्योति या सम्यग्ज्ञानज्योति के रूप में देखा जाता रहा है; किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार होने से यहाँ उस ज्ञानज्योति के स्थान पर बंध-मोक्ष से रहित ज्ञानपुंज आत्मा को स्मरण किया गया है।

इसप्रकार इस कलश में परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को स्मरण करते हुए उसके प्रति रुचि प्रदर्शित की गई है, बहुमान प्रगट किया गया है।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

जैसे भोक्तृ स्वभाव नहीं, वैसे कर्तृ स्वभाव ।
कर्तापन अज्ञान से, ज्ञान अकारकभाव ।।१९४।।

जिसप्रकार पर को या रागादि को भोगना आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार पर को या रागादि को करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अज्ञानभाव के कारण ही आत्मा कर्ता बनता है, अज्ञान के अभाव में वह अकारक ही है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा जा रहा है कि यह भगवान आत्मा स्वभाव से तो पर का या रागादि का कर्ता-भोक्ता है ही नहीं; परन्तु अपने अज्ञान के कारण उनका कर्ता-भोक्ता बनता है अर्थात् उनका कर्ता-भोक्ता स्वयं को मानता है; अज्ञान के चले जाने पर उसका यह मानना भी समाप्त हो जाता है।

आचार्य जयसेन के चित्त में मोक्षाधिकार और सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के विभागीकरण के संबंध में कुछ विकल्प था। यद्यपि वे आत्मख्याति के समान ३०७ गाथा पर ही मोक्षाधिकार को समाप्त मान लेते हैं और '**मोक्षो निष्क्रान्तः। अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्**' भी लिख देते हैं; तथापि ३२० तक की गाथाओं को वे मोक्षाधिकार की चूलिका कहते हैं तथा ३२०वीं गाथा के उपरान्त लिखते हैं - **मोक्षाधिकारसंबंधिनी...चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्येनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः।**

इसप्रकार वे मोक्षाधिकार को यहाँ समाप्त मानते हैं। उनकी यह विशेषता है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र के मत को स्वीकार करते हुए भी अपने वैकल्पिक मत को सविनय स्पष्ट कर देते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आगामी ३०८ से ३२० तक की गाथायें मोक्षाधिकार की चूलिकारूप सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की आरंभिक गाथायें हैं।

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति –

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि।।३०९।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।।३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा।।३११।।

आरंभ की चार गाथाओं में आत्मा के अकर्तृत्वस्वभाव को स्पष्ट किया गया है। जैसा कि आत्मख्याति टीका में कहा गया है – **अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं।''**

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति की उत्थानिका में यही लिखते हैं कि **निश्चय से कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है** – अब यह कहते हैं। उन गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।
जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे जान अनन्य त्यों।।३०८।।
जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जानो अनन्य उन परिणाम से।।३०९।।
ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं।
किसी से ना हो अत: यह आतमा कारज नहीं।।३१०।।
कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी।
यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता–कर्म की।।३११।।

जिसप्रकार जगत में कड़ा आदि पर्यायों से सोना अनन्य है; उसीप्रकार जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है, उसे उन गुणों से अनन्य जानो।

जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये गये हैं; उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य जानो।

यह आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ; इसकारण किसी का कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता; इसकारण किसी का कारण भी नहीं है।

कर्म के आश्रय से कर्ता होता है और कर्ता के आश्रय से कर्म उत्पन्न होते हैं; अन्य किसी भी प्रकार से कर्ता–कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती।

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह।।३०८।।
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
तं जीवमजीवं तैरनन्यं विजानीहि।।३०९।।
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति।।३१०।।
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या।।३११।।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रम-नियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः; सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत्।

एवं हि स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति।

अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।।३०८-३११।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''प्रथम तो यह जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जिसप्रकार सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।

इसप्रकार अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुए जीव का अजीव के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सर्वद्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है।

भिन्न द्रव्यों का परस्पर कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने पर अजीव जीव का कर्म (कार्य) है – यह भी सिद्ध नहीं होता। 'अजीव जीव का कर्म है' – यह सिद्ध नहीं होने पर 'जीव अजीव का कर्ता है' – यह भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि कर्ता-कर्म अनन्य ही होते हैं।

इसप्रकार जीव अकर्ता ही सिद्ध होता है।''

उक्त बात को स्पष्ट करते हुए इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में पर्यायों को क्रमनियमित कहा गया है; जिसके आधार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। स्वामीजी की इस क्रान्तिकारी खोज ने एक महान सत्य का उद्घाटन तो किया ही, साथ ही समाज को आन्दोलित भी कर दिया।

लाखों लोगों के जीवन को प्रभावित करनेवाले इस महान सिद्धान्त ने मेरे जीवन को भी आन्दोलित किया और मेरे जीवन को बदलनेवाला, आध्यात्मिक मोड़ देनेवाला यही सिद्धान्त है। इस बात का विवरण मैंने अपनी अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' के आरम्भ में 'अपनी बात' में दिया है।

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ।।१९५।।

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।
एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।।३१३।।

इसकी गहराई में जाने के लिए विशेष अध्ययन और गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त की विशेष जानकारी के लिए स्वामीजी की **ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव** व मेरी अन्य कृति **क्रमबद्धपर्याय** का अध्ययन करना चाहिए।

उक्त कथनानुसार यद्यपि आत्मा अकर्ता सिद्ध होता है, तथापि उसे बंध होता है – यह सब अज्ञान की ही महिमा है। – अब इस आशय का कलश आत्मख्याति में आचार्यदेव लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है।
झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है।।
अहो अकर्ता आतम फिर भी बंध हो रहा।
यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की।।१९५।।

जिसके ज्ञानस्वभाव में लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है, निजरस से विशुद्ध ऐसा यह जीव यद्यपि अकर्ता ही सिद्ध है; तथापि उसे इस जगत में कर्म की प्रकृतियों के साथ बंध होता है। वस्तुतः यह सब अज्ञान की ही गहन महिमा है।

आचार्यदेव यहाँ यह बता रहे हैं कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अकर्ता ही है; तो भी अज्ञानावस्था में इसे बंध होता है। तात्पर्य यह है कि बंध का मूलकारण अज्ञान है।

अब इस अज्ञान की महिमा को गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उत्पन्न होता नष्ट होता जीव प्रकृति निमित्त से।
उत्पन्न होती नष्ट होती प्रकृति जीव निमित्त से।।३१२।।
यों परस्पर निमित्त से हो बंध जीव रु कर्म का।
बस इसतरह ही उभय से संसार की उत्पत्ति हो।।३१३।।

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति।।३१२।।
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते।।३१३।।

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति; प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेप्यन्योऽन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः।।३१२-३१३।।

चेतन आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इसीप्रकार प्रकृति भी चेतन आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार परस्पर निमित्त से आत्मा और प्रकृति दोनों का बंध होता है और उससे संसार होता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''अनादि से ही अपने और पर के निश्चित लक्षणों का ज्ञान न होने से स्व और पर के एकत्व का अध्यास करने से कर्ता बनता हुआ यह आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है।

इसप्रकार आत्मा और प्रकृति के कर्ता-कर्मभाव का अभाव होने पर भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध देखा जाता है। इससे ही संसार है और इसी से आत्मा और प्रकृति के कर्ता-कर्म का व्यवहार है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ करते हुए इस बात का विशेष उल्लेख करते हैं कि स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा कर्मोदय को निमित्त बनाकर विभावभावरूप से परिणमित होता है। वे स्वस्थभाव से च्युत होने पर विशेष बल देते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वस्थभाव से च्युत होनेरूप अपने अपराध से ही विकाररूप परिणमित होता है, कर्मों से बँधता है; किसी परपदार्थ के कारण नहीं, निमित्त के कारण नहीं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा और कर्मप्रकृतियों का जो बंध होता है; उसमें आत्मा कर्ता और कर्मप्रकृतियों का बंध कर्म - ऐसा नहीं है। यह बात व्यवहार से भले ही कही जाती हो, पर निश्चय से यह बात सही नहीं है। इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के परमार्थ से कर्ता-कर्मभाव का अभाव है; फिर भी जो बंध होता है, उसका कारण परस्पर में होनेवाला निमित्त-नैमित्तिकभाव है; संसार भी इसी से होता है। यही कारण है कि व्यवहार से इनमें कर्ता-कर्मभाव भी कहा जाता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि यद्यपि निश्चय से आत्मा और कर्म में कर्ता-कर्म भाव का अभाव है; तथापि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध होता है और इसीकारण आत्मा और कर्म में कर्ता-कर्म का व्यवहार प्रचलित है।

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुञ्चए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ।।३१४।।
जदा विमुञ्चए चेदा कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी।।३१५।।

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः।।३१४।।
यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकम्।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः।।३१५।।

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुंचति, तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरेकत्व परिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति।

यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति, तदा स्व–

अब इन ३१४-३१५वीं गाथाओं में यह कहते हैं कि जबतक यह आत्मा कर्मप्रकृतियों के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता है; तबतक अज्ञानी रहता है, मिथ्यादृष्टि रहता है, असंयमी रहता है।

(हरिगीत)

जबतक न छोड़े आतमा प्रकृति निमित्तक परिणमन।
तबतक रहे अज्ञानि मिथ्यादृष्टि एवं असंयत।।३१४।।
जब अनन्ता कर्म का फल छोड़ दे यह आतमा।
तब मुक्त होता बंध से सद्दृष्टि ज्ञानी संयमी।।३१५।।

जबतक यह आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता; तबतक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

जब यह आत्मा अनंत कर्मफल छोड़ता है; तब वह ज्ञायक है, ज्ञानी है, दर्शक है, मुनि है और विमुक्त है अर्थात् बंध से रहित है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का अर्थ इसप्रकार किया गया है -

''स्व और पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं होने से जबतक यह आत्मा बंध के निमित्तभूत प्रकृतिस्वभाव को नहीं छोड़ता; तबतक स्व-पर के एकत्व के ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्व-पर के एकत्व के दर्शन (एकत्वरूप श्रद्धान) से मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है तथा तभीतक स्व और पर के एकत्व का अध्यास करने से कर्ता है।

जब वही आत्मा स्व और पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान से बंध के निमित्तभूत प्रकृतिस्वभाव को छोड़ देता है, तब स्व-पर के विभाग के ज्ञान से ज्ञानी (ज्ञायक)

परयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ।।३१४-३१५।।

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः ।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ।।१९६।।

है, स्व-पर के विभाग के दर्शन से दर्शक है और स्व-पर की विभाग परिणति से संयत है तथा तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास नहीं करने से अकर्ता है।''

उक्त कथन का आशय यह है कि मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम - इन तीनों का एकमात्र कारण स्व और पर में एकत्व का अध्यास है। स्व और पर में भेदविज्ञान न होने से ही यह आत्मा पर का कर्ता बनता है। सब कुछ मिलाकर इस आत्मा के बंधन का कारण भी स्व-पर के एकत्व का अध्यास ही है।

जब यह आत्मा भेदविज्ञान के बल से इस एकत्वबुद्धि को तोड़ देता है, पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व छोड़ देता है तो ज्ञानी हो जाता है, सम्यग्दृष्टि हो जाता है और कालान्तर में संयमी भी हो जाता है; अन्ततः कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अबतक जो बात कर्तृत्व के संबंध में कही गई, पर के कर्तृत्व छोड़ने के सन्दर्भ में कही गई; अब वही बात आगामी गाथाओं और कलश में भोक्तृत्व के संबंध में, भोक्तृत्व छोड़ने के संबंध में भी कहते हैं।

आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

जैसे कर्तृस्वभाव नहीं, वैसे भोक्तृस्वभाव।
भोक्तापन अज्ञान से, ज्ञान अभोक्ताभाव ।।१९६।।

कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह आत्मा अज्ञान के कारण ही भोक्ता बनता है, अज्ञान के अभाव में वह भोक्ता नहीं रहता।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस कलश में यही कहा गया है कि जिसप्रकार यह आत्मा पर का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार उनका भोक्ता भी नहीं है।

यह कलश १९४वें कलश का प्रतिरूप ही है। उस कलश में कहा था कि जिसप्रकार यह आत्मा पर का भोक्ता नहीं है, उसीप्रकार कर्ता भी नहीं है और इसमें कहा है कि जिसप्रकार कर्ता नहीं है, उसीप्रकार भोक्ता भी नहीं है।

वह कलश पर के कर्तृत्व का निषेध करनेवाली गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश था और यह कलश पर के भोक्तृत्व का निषेध करनेवाली गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश है।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि।।३१६।।

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते।।३१६।।

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्व-परिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते।

ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभाग-परिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनः तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते।।३१६।।

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको।
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता।।१९७।।

(हरिगीत)

प्रकृतिस्वभावस्थित अज्ञजन ही नित्य भोगें कर्मफल।
पर नहीं भोगें विज्ञजन वे जानते हैं कर्मफल।।३१६।।

अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल को वेदता है, भोगता है और ज्ञानी तो उदय में आये हुए कर्मफल को मात्र जानता है, भोगता नहीं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''शुद्धात्मा के ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी स्व-पर के एकत्व के ज्ञान से, स्व-पर के एकत्व के दर्शन से और स्व-पर की एकत्व परिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी अहंरूप से अनुभव करता हुआ कर्मफल को भोगता है और ज्ञानी शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्व-पर के विभाग के ज्ञान से, स्व-पर के विभाग के दर्शन से और स्व-पर की विभाग की परिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त होने से शुद्धात्मा के स्वभाव को ही अहंरूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को उसकी ज्ञेयमात्रता के कारण मात्र जानता ही है, अहंरूप से अनुभव में आना अशक्य होने से उसे भोगता नहीं।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता बनता है; किन्तु ज्ञानी कर्मफल का भोक्ता कदापि नहीं है। इसी भाव की पुष्टि निम्नांकित कलश में भी की गई है –

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते।
प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें।।
निपुणजनो ! निजशुद्धातममय ज्ञानभाव को।
अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को।।१९७।।

अज्ञानी वेदक एवं ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते –

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।३१७।।
णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होइ।।३१८।।

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति।।३१७।।
निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति।।३१८।।

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति; तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न

प्रकृति के स्वभाव में लीन होने से अज्ञानी सदा वेदक है और प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से ज्ञानी कदापि वेदक नहीं है। हे निपुणपुरुषो ! इस नियम का विचार करके अज्ञानीपन छोड़ दो और एक शुद्धतेजमय आत्मा में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो।

इसप्रकार इस कलश में पर के भोगने के भावरूप अज्ञानीपन को छोड़ने और सहज ज्ञाता–दृष्टा भावरूप ज्ञानीपन को अपनाने की प्रेरणा दी गई है।

अब आगामी गाथाओं में यह सुनिश्चित करते हैं कि **अज्ञानी विषय–भोगों का भोक्ता है** और **ज्ञानी भोक्ता नहीं है, अभोक्ता ही है।**

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

गुड़–दूध पीता हुआ भी निर्विष न होता सर्प ज्यों।
त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर अभवि प्रकृति न तजे।।३१७।।
निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी मधुर–कड़वे नेक विध।
वे जानते हैं कर्मफल को हैं अवेदक इसलिए।।३१८।।

जिसप्रकार गुड़ से मिश्रित मीठे दूध को पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते; उसीप्रकार शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करके भी अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव नहीं छोड़ता।

किन्तु अनेकप्रकार के मीठे–कड़वे कर्मफलों को जानने के कारण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त ज्ञानी उनका अवेदक ही है।

इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है –

''जिसप्रकार इस जगत में सर्प स्वयं तो विषभाव को छोड़ता ही नहीं है; किन्तु विषभावों को मिटाने में समर्थ मिश्री से मिश्रित दुग्ध के पीने–पिलाने पर भी विषभाव को नहीं छोड़ता है; उसीप्रकार अभव्यजीव भी स्वयं तो प्रकृतिस्वभाव को छोड़ता ही नहीं है; किन्तु प्रकृति को

मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्। अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव।

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते।

अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव।।३१७-३१८।।

(वसंततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।।१९८।।

छुड़ाने में समर्थ द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी प्रकृतिस्वभाव को नहीं छोड़ता है; क्योंकि उसे भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण सदा ही अज्ञानीपन है। इसकारण यह नियम ही है कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से वेदक ही है, कर्मों को भोगता ही है।

निरस्त हो गये हैं समस्त भेद जिसमें ऐसे अभेद भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण ज्ञानी तो पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव ही छोड़ देता है; इसप्रकार उदयागत अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है; किन्तु ज्ञान के होने पर भी परद्रव्य को अपनेपन से अनुभव करने की अयोग्यता होने से उस कर्मफल को वेदता नहीं है, भोगता नहीं है।

इसलिए ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है, अभोक्ता ही है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार सर्प न तो स्वयं ही विष को छोड़ता है और न मीठा दूध पिलाने पर ही छोड़ता है; उसीप्रकार अज्ञानी न तो स्वयं मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मप्रकृति के स्वभाव को छोड़ता है और न शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरान्त ही छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीवों को शास्त्राध्ययन से भी कोई विशेषलाभ नहीं होता; क्योंकि उनके भावश्रुतज्ञान का अभाव है। इसकारण वे कर्मफल के भोक्ता हैं; किन्तु आत्मानुभवरूप भावश्रुतज्ञान के सद्भाव के कारण ज्ञानीजन कर्मफल के मात्र ज्ञाता ही हैं, कर्ता-भोक्ता नहीं।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे।
जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है।।१९८।।

ज्ञानीजीव कर्म को न तो करता ही है और न भोगता ही है। इसप्रकार करने और भोगने के अभाव के कारण तथा मात्र जानने के कारण शुद्धस्वभाव में निश्चल रहता हुआ वह ज्ञानी वस्तुतः मुक्त ही है।

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च।।३१९।।
दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च।।३१९।।
दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव।।३२०।।

ज्ञानि हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च; किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित होने के कारण कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता नहीं है; किन्तु ज्ञानचेतना से सम्पन्न होने के कारण सभी का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को इन ३१९-३२०वीं गाथाओं में कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध करम को।
वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को।।३१९।।
ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक।
जाने करम के बंध उदय मोक्ष एवं निर्जरा।।३२०।।

अनेकप्रकार के कर्मों को न तो ज्ञानी करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु पुण्य-पापरूप कर्मबंध को और कर्मफल को मात्र जानता ही है।

जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दृश्य पदार्थों को देखती ही है, उन्हें करती-भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान भी अकारक व अवेदक है और बंध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जरा को मात्र जानता ही है।

तात्पर्य यह है कि नेत्र के समान ज्ञान भी पर का कर्ता-भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता ही है।

उक्त गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''ज्ञानी कर्मचेतना से रहित होने से स्वयं अकर्ता और कर्मफलचेतना से रहित होने से स्वयं अभोक्ता है; इसलिए वह न तो कर्मों को करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से शुभ या अशुभ कर्मबंध को और शुभ या अशुभ कर्मफल को मात्र जानता ही है।

कुत एतत् ? – यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबंधं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।।३१९-३२०।।

यदि कोई यह कहे कि यह किसप्रकार है तो उससे कहते हैं कि जिसप्रकार इस जगत में दृष्टि (नेत्र) दृश्यपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है और इसीकारण वह दृश्य पदार्थों को करने और भोगने में भी पूर्णत: असमर्थ है। इसप्रकार वह दृष्टि (नेत्र) दृश्यपदार्थों को न तो करती ही है और न भोगती ही है।

यदि ऐसा नहीं मानें तो जिसप्रकार जलानेवाला पुरुष अग्नि को जलाता है और लोहे का गोला अग्नि की उष्णता को भोगता है; उसीप्रकार दृष्टि अर्थात् नेत्र को भी दिखाई देनेवाली अग्नि को जलाना चाहिए और उसकी उष्णता का अनुभव भी करना चाहिए, उसे भोगना भी चाहिए; पर ऐसा नहीं होता; अपितु अग्नि को देखनेवाला नेत्र मात्र उसे देखता ही है, जलाता नहीं और जलन का अनुभव भी नहीं करता।

इसीप्रकार ज्ञान भी ज्ञेयपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है और इसीकारण वह ज्ञेयपदार्थों को करने और भोगने में पूर्णत: असमर्थ है। इसकारण वह ज्ञान ज्ञेयपदार्थों का कर्ता-भोक्ता नहीं है; किन्तु ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला होने से वह ज्ञान ज्ञेयरूप कर्मबंध, कर्मोदय, निर्जरा एवं मोक्ष को मात्र जानता ही है; उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है।''

आचार्य जयसेन ३१९वीं गाथा की व्याख्या करते समय ज्ञानी के साथ निर्विकल्पसमाधि में स्थित विशेषण का प्रयोग करते हैं और नहीं भोगने का अर्थ तन्मय होकर नहीं भोगना करते हैं तथा वे सर्वत्र नय का प्रयोग तो करते ही हैं। यहाँ भी लिखते हैं कि निश्चयनय से कर्मों को न तो करते हैं और न तन्मय होकर भोगते ही हैं।

३२०वीं गाथा की टीका में वे लिखते हैं कि न केवल दृष्टि, अपितु क्षायिकज्ञान भी निश्चयनय से कर्मों का अकारक और अवेदक ही है। अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि सर्वविशुद्धपरम-पारिणामिकभावग्राहक शुद्धोपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्षादि कारणपरिणामों से रहित है। यहाँ यही सूचित किया गया है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि आत्मख्याति में **संधुक्षण** शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ होता है - सुलगना, प्रज्वलित होना।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि साधक के ज्ञान के साथ क्षायिकज्ञान भी कर्मबंध, कर्मोदय, कर्मों की निर्जरा और मोक्ष का कर्ता-भोक्ता नहीं है; अपितु मात्र उन्हें जानता ही है।

यहाँ आकर आचार्य जयसेन लिखते हैं कि **'इसतरह यहाँ मोक्षाधिकार की चूलिका समाप्त हुई अथवा द्वितीय व्याख्यान से मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।'**

इसके बाद **किंच विशेष:** लिखकर इसी प्रकरण से संबंधित कुछ ऐसी विशेष विषयवस्तु प्रस्तुत करते हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ आत्मार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है।

यद्यपि यह विषयवस्तु ३२०वीं गाथा के उपरान्त ही आई है; तथापि यह ३२०वीं गाथा की टीका नहीं है; क्योंकि ३२०वीं गाथा की टीका समाप्त करके अधिकार की समाप्ति की घोषणा करने के उपरान्त एक प्रकार से परिशिष्ट के रूप में ही आचार्य जयसेन ने यह सामग्री प्रस्तुत की है; इसलिए यह एक स्वतंत्र प्रकरण ही है।

उक्त विषयवस्तु का भावानुवाद मूलत: इसप्रकार है -

''अब यह विचारते हैं कि औपशमिकादि पाँच भावों में से मोक्ष किस भाव से होता है?

उक्त पाँचों भावों में औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, क्षायिकभाव और औदयिकभाव - ये चार भाव तो पर्यायरूप हैं और शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्परसापेक्ष द्रव्य-पर्यायमय है।

वहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्ध जीवत्वशक्ति लक्षणवाला जो शुद्धपारिणामिकभाव है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है और बंध-मोक्षपर्यायरूप परिणति से रहित है तथा उसका नाम शुद्धपारिणामिकभाव है - ऐसा जानना चाहिए तथा दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन्हें अशुद्धपारिणामिकभाव कहते हैं; क्योंकि ये पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं।

प्रश्न - ये तीनों भाव अशुद्ध क्यों हैं ?

उत्तर - संसारी जीवों के शुद्धनय से व सिद्ध जीवों के सर्वथा ही दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व का अभाव होता है। इन तीनों में पर्यायार्थिकनय से भव्यत्वलक्षण पारिणमिकभाव के प्रच्छादक व यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों के घातक देशघाति और सर्वघाति नाम के मोहादि कर्मसामान्य होते हैं और जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति अर्थात् प्रगटता होती है; तब यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है।

उसी परिणमन को आगमभाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि नामान्तरों से अभिहित किया जाता है।

यह शुद्धोपयोगरूप पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है; क्योंकि वह भावनारूप होती है और शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं होता।

यदि उसे एकान्त से अशुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न मानेंगे तो भावनारूप एवं मोक्षकारणभूत अशुद्धपारिणामिकभाव का मोक्ष-अवस्था में विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव के भी विनाश का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धपारिणामिकभावविषयक भावना अर्थात् जिस भावना या भाव का विषय शुद्धपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वह भावना औपशमिकादि तीनों भावरूप

होती है, वही भावना समस्त रागादिभावों से रहित शुद्ध-उपादानरूप होने से मोक्ष का कारण होती है, शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं होता और जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिकभाव में पहले से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप अर्थात् पर्यायरूप मोक्ष का विचार किया जा रहा है। सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है कि शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है।

'निष्क्रिय' शब्द से तात्पर्य है कि शुद्धपारिणामिकभाव बंध की कारणभूत रागादि परिणतिरूप क्रिया व मोक्ष की कारणभूत शुद्धभावनापरिणतिरूप क्रिया से तद्रूप या तन्मय नहीं होता।

इससे यह प्रतीत होता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता; क्योंकि ध्यान विनश्वर होता है।

योगीन्द्रदेव ने भी कहा है – हे योगी ! परमार्थदृष्टि से तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध-मोक्ष को करता है – ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनय के आश्रित यह भावना निर्विकार-स्वसंवेदनलक्षणवाले क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेशव्यक्तिरूप होती है; तथापि ध्यातापुरुष यही भावना करता है कि मैं तो सकलनिरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ।''

उपर्युक्त सभी व्याख्यान आगम और अध्यात्म (परमागम) – दोनों प्रकार के नयों के परस्पर-सापेक्ष अभिप्राय के अविरोध से सिद्ध होता है – ऐसा विवेकियों को समझना चाहिए।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि औपशमिकादि पाँच भावों में द्रव्यरूप परमपारिणामिकभाव न तो बंध का कारण है और न मोक्ष का; क्योंकि वह बंध-मोक्ष के परिणामों से रहित निष्क्रियतत्त्व है। उक्त परमपारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले औपशमिकादि भाव ही मुक्ति के कारण हैं और उसकी उपेक्षापूर्वक पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले औदयिकभाव बंध के कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि उक्त परमपारिणामिकभाव में अपनापन स्थापित करनेवाली श्रद्धागुण की पर्याय सम्यग्दर्शन, उसे ही निजरूप जाननेवाली ज्ञानगुण की पर्याय सम्यग्ज्ञान और उसी में जमने-रमनेवाली चारित्रगुण की ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पर्यायें ही मुक्ति के कारण हैं तथा उससे भिन्न परपदार्थों में अपनापन स्थापित करनेवाली श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के परिणमन बंध के कारण हैं।

इसप्रकार मुक्ति के मार्ग में श्रद्धेय, ध्येय और परमज्ञेयरूप तो उक्त परमपारिणामिकभाव है और साधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव हैं; जिन्हें अध्यात्मभाषा में शुद्धोपयोगरूप परिणाम कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र जिसे सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार नाम देते हैं, उसे ही आचार्य जयसेन समयसार की चूलिका कहते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि यह समयसार चूलिका यहाँ से आरंभ होती है और आत्मख्याति का सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार १२ गाथा पहले ही आरंभ हो जाता है।

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ।।१९९।।

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काऐ।३२१।।
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।३२२।।
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्ह पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए।।३२३।।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ मानते अज्ञान से।
हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आतमज्ञान से।।
अध्ययन करें चारित्र पालें और भक्ति करें पर।
लौकिकजनों वत् उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो।।१९९।।

जो अज्ञानान्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं; वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों; तथापि लौकिकजनों की भाँति उन्हें भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

यहाँ पर के कर्तृत्व की मान्यतावाले जैन श्रमणों को लौकिकजनों के समान बताकर उन्हें विशेष सावधान किया है और परकर्तृत्व संबंधी मान्यता छोड़ने की प्रबल प्रेरणा दी है।

३२१ से ३२३ तक की गाथाओं की उत्थानिकारूप १९९वें कलश में जो बात कही गई है; वही बात अब इन गाथाओं में कहते हैं।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को।
रक्षा करूँ षट्काय की यदि श्रमण भी माने यही।।३२१।।
तो ना श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा।
सम मान्यता में विष्णु एवं आतमा कर्ता रहा।।३२२।।
इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को।
रे मोक्ष दोनों का दिखाई नहीं देता है मुझे।।३२३।।

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान्
स त्र व ा न ।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ।।३२१।।
लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ।।३२२।।
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ।।३२३।।

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात् ।

ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ।।३२१-३२३।।

(अनुष्टुभ्)

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ।।२००।।

लौकिकजनों के मत में देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य रूप प्राणियों को विष्णु करता है और यदि श्रमणों के मत में भी छहकाय के जीवों को आत्मा करता हो तो फिर तो लौकिकजनों और श्रमणों का एक ही सिद्धान्त हो गया; क्योंकि उन दोनों की मान्यता में हमें कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता। लोक के मत में विष्णु करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है। इसप्रकार दोनों की कर्तृत्व संबंधी मान्यता एक जैसी ही हुई। इसप्रकार देव, मनुष्य और असुरलोक को सदा करते हुए ऐसे वे लोक और श्रमण - दोनों का ही मोक्ष दिखाई नहीं देता।

तात्पर्य यह है कि जो श्रमण स्वयं को छहकाय के जीवों की रक्षा करनेवाला मानते हैं; उनकी मान्यता विष्णु को जगत की रक्षा करनेवाला माननेवालों के समान ही है; इसकारण लौकिकजनों के समान उन्हें भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अति संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं; वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव-नारकादि कार्य करता है और इन लोकोत्तर मुनियों के मत में स्वयं का आत्मा वे कार्य करता है - इसप्रकार दोनों में अपसिद्धान्त की समानता है। इसलिए आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों के समान लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।''

इस सबका सार यह है कि पर में कर्तृत्वबुद्धि ही वास्तविक कर्तृत्व है और यही आत्मा का मोहरूप (मिथ्यात्वरूप) परिणमन है।

अब इसी भाव का पोषक काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(दोहा)

जब कोई संबंध ना, पर अर आतम माहिं।
तब कर्ता परद्रव्य का, किसविध आत्म कहाहिं ।।२००।।

परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी संबंध नहीं है। इसप्रकार आत्मा का परद्रव्य के साथ

कर्तृत्व-कर्मत्व संबंध का अभाव होने से आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ?

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि।।३२४।।
जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति जस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि।।३२६।।
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठिरहिदाणं।।३२७।।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा और परद्रव्यों के बीच किसी भी प्रकार कोई संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में जब कर्ता-कर्मसंबंध भी नहीं है तो फिर आत्मा कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है ?

अब आगामी गाथाओं में यह कहते हैं कि भले ही अज्ञानी परद्रव्य को अपना कहें, उनका कर्ता-धर्ता भी अपने को मानें; पर ज्ञानीजन यह अच्छी तरह जानते हैं कि परद्रव्य मेरा नहीं है और न मैं उसका कर्ता-धर्ता ही हूँ। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह परद्रव्य को अपना कहें।
पर तत्त्वविद् जाने कि पर परमाणु भी मेरा नहीं।।३२४।।
ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा कहे कोई जिसतरह।
किन्तु वे उसके नहीं हैं मोह से ही वह कहे।।३२५।।
इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' - जानकर अपना करे।
संशय नहीं वह ज्ञानि मिथ्यादृष्टि ही है जानना।।३२६।।
'मेरे नहीं ये' - जानकर तत्त्वज्ञ ऐसा मानते।
है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि लोक एवं श्रमण की।।३२७।।

वस्तुस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुष व्यवहार कथन को ही परमार्थरूप से ग्रहण करके ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है; परन्तु ज्ञानीजन निश्चय से ऐसा जानते हैं कि परमाणुमात्र परपदार्थ मेरा नहीं है।

जिसप्रकार कोई मनुष्य इसप्रकार कहता है कि हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर और हमारा राष्ट्र है; किन्तु वे उसके नहीं हैं; वह मोह से ही ऐसा कहता है कि वे मेरे हैं।

इसीप्रकार यदि कोई ज्ञानी भी परद्रव्य को निजरूप करता है, परद्रव्य को निजरूप मानता है, जानता है तो ऐसा जानता हुआ वह नि:संदेह मिथ्यादृष्टि है।

इसलिए परद्रव्य मेरे नहीं हैं - यह जानकर तत्त्वज्ञानीजन लोक और श्रमण - दोनों के परद्रव्य में कर्तृत्व के व्यवसाय को सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों का व्यवसाय ही जानते हैं।

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि
किंचित।।३२४।।
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा।।३२५।।
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति।।३२६।।
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन् जानीयान् दृष्टिरहितानाम्।।३२७।।

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति।

ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्।

अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात्।।३२४-३२७।।

(वसंततिलका)

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्चन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्।।२०१।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''व्यवहारविमूढ़ अज्ञानीजन ही परद्रव्य के संदर्भ में ऐसा मानते हैं कि 'यह मेरा है' और निश्चय में प्रतिबुद्ध ज्ञानीजन परद्रव्य के संदर्भ में ऐसा ही मानते हैं कि 'यह मेरा नहीं है'।

जिसप्रकार इस लोक में कोई व्यवहारविमूढ़ दूसरे ग्राम का रहनेवाला व्यक्ति किसी दूसरे गाँव के बारे में यह कहे कि यह मेरा गाँव है तो उसकी वह मान्यता मिथ्या ही है, वह तत्संबंधी मिथ्यादृष्टि ही है; उसीप्रकार यदि कोई ज्ञानी भी कथंचित् व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' – इसप्रकार देखे, जाने, माने तो उस समय वह भी निःसंशय रूप से परद्रव्य को निजरूप करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है।

इसलिए तत्त्वज्ञ 'समस्त परद्रव्य मेरे नहीं हैं' – यह जानकर यह निश्चितरूप से जानता है कि लोक और श्रमणों – दोनों के ही परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय, उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है।''

अब इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करनेवाला कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वसंततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम–
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।।२०२।।

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,
तब फिर कर्ताकर्मभाव भी कैसे होगा ?
इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;
सदा अकर्ता अरे जगतजन अरे मुनीजन।।२०१।।

क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभीप्रकार के संबंधों का निषेध किया गया है; इसलिए जहाँ वस्तुभेद है, वहाँ कर्ता–कर्मपना घटित नहीं होता। इसप्रकार हे मुनिजनो एवं लौकिकजनो ! तुम तत्त्व को अकर्ता ही देखो।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा पर का अकर्ता ही है – ऐसा जानो।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,
अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में।
विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,
भावकर्म के कर्ता होते अन्य कोई ना।।२०२।।

आचार्यदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अरे ! जो लोग इस वस्तुस्वभाव के नियम को नहीं जानते हैं; अज्ञान में डूबे हुए वे बेचारे कर्मों को करते हैं; इसलिए भावकर्म के कर्ता होते हैं। भावकर्मों का कर्ता चेतन स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

तात्पर्य यह है कि अज्ञान–अवस्था में अज्ञानी आत्मा भावकर्मों का कर्ता होता है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जो वस्तुस्वरूप के इस नियम को नहीं जानते हैं कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता–धर्ता नहीं है; वे अज्ञानी आत्मा स्वयं को पर का कर्ता मानने के कारण पर को कर्ता मानने रूप अज्ञानभाव के कर्ता होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे लोग मानते तो ऐसा हैं कि हम परद्रव्य के कर्ता हैं, पर वे पर के कर्ता तो नहीं होते; किन्तु पर को करने के भावरूप अपने भाव के, अपने अज्ञान भाव के, अपने राग के कर्ता अवश्य होते हैं।

३२७वीं गाथा के उपरान्त तात्पर्यवृत्ति में चार गाथायें ऐसी आती हैं, जो आत्मख्याति में आगे

३४५ से ३४८वीं गाथाओं के रूप में विद्यमान हैं। उनकी चर्चा यथास्थान होगी ही; अत: यहाँ उनके बारे में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो।।३२८।।
अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।
अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।
~~**अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।**~~
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथाओं के माध्यम से सिद्ध करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मिथ्यात्व नामक प्रकृति मिथ्यात्वी करे यदि जीव को।
फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्तापने को प्राप्त हो।।३२८।।
अथवा करे यह जीव पुद्गल दरब के मिथ्यात्व को।
मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब ही सिद्ध होगा जीव ना।।३२९।।
यदि जीव प्रकृति उभय मिल मिथ्यात्वमय पुद्गल करे।
फल भोगना होगा उभय को उभयकृत मिथ्यात्व का।।३३०।।
यदि जीव प्रकृति ना करें मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब।
मिथ्यात्वमय पुद्गल सहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहो?।।३३१।।

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है, बनाती है – यदि ऐसा माना जाये तो तुम्हारे मत में अचेतनप्रकृति जीव के मिथ्यात्वभाव की कर्ता हो गई। इसकारण मिथ्यात्वभाव भी अचेतन सिद्ध होगा।

अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्व को करता है – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, जीव नहीं।

अथवा जीव और प्रकृति – दोनों मिलकर पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप करते हैं – यदि ऐसा माना जाये तो जो कार्य दोनों के द्वारा किया गया, उसका फल दोनों को ही भोगना होगा।

अथवा पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है

अर्थात् दोनों में से कोई भी नहीं करता है – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा। क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

इससे यही सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का कर्ता जीव स्वयं ही है।

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम्।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता।।३२८।।
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः।।३२९।।
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुतः मिथ्यात्वम्।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुंजाते तस्य फलम्।।३३०।।
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या।।३३१।।

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात्।

स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात्।

न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात्।

न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात्।

ततो जीवः कर्ता, स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम्।।३२८–३३१।।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है; क्योंकि यदि भावकर्मों को अचेतन प्रकृति का कार्य माना जाये तो उन्हें (भावकर्मों को) अचेतनत्व का प्रसंग आयेगा।

जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता होवे तो पुद्गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आयेगा।

जीव और प्रकृति – दोनों मिलकर मिथ्यात्वादि भावकर्मों के कर्ता हों – ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता होवें तो जीव की भाँति अचेतनप्रकृति को भी उन भावकर्मों का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा।

और यदि ऐसा माना जाये कि जीव और प्रकृति – दोनों ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों के अकर्ता हैं तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों ही अकर्ता हों तो फिर पुद्गलद्रव्य को स्वभाव से ही मिथ्यात्वादि भावों का प्रसंग प्राप्त होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव ही अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है और वे भावकर्म उसके ही कर्म हैं।''

यद्यपि यह भगवान आत्मा परमशुद्धनिश्चयनय से अकर्ता–अभोक्ता ही है; तथापि अशुद्धनिश्चय–

नय से यह आत्मा कर्मोदय के निमित्तानुसार होनेवाले रागादि भावकर्मों रूप भी परिणमित होता है, रागादि औपाधिकभावों का कर्ता-भोक्ता भी होता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ।।२०३।।
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ।।२०४।।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

अरे कार्य कर्ता के बिना नहीं हो सकता,
भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने।
और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन;
वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को।।
प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें यदि,
तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों ना भोगें?
भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,
इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्ता।।२०३।।

भावकर्म कार्य है, इसकारण वह अकृत नहीं हो सकता, उसका कर्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिए; क्योंकि कार्य कर्ता के बिना नहीं होता।

वह भावकर्मरूप कार्य जीव और पौद्गलिक प्रकृति - इन दोनों के द्वारा मिलकर किया हुआ कार्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर 'जो कर्ता, सो भोक्ता' - इस नियम के अनुसार जड़प्रकृति को भी उसके फल को भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा।

प्रकृति का अचेतनत्व तो प्रगट ही है और भावकर्म चेतन है; इसलिए वह चिद्विलासरूप भावकर्म अकेली प्रकृति का भी कार्य नहीं हो सकता।

पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है; इसलिए चेतन का अनुसरण करनेवाले भावकर्म का कर्ता चेतन जीव ही है और वह भावकर्म जीव का ही कर्म है।

इसप्रकार इस कलश में अनेकप्रकार की युक्तियाँ देकर यह सिद्ध किया गया है कि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का कर्ता-भोक्ता अज्ञानी आत्मा है; न तो ज्ञानी आत्मा ही इनका कर्ता-भोक्ता है

और न पौद्गलिक कर्म ही इनको करता है।

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।।३३२।।
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव।।३३३।।

अब आगामी गाथाओं के भाव का सूचक काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(रोला)

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
आतम का कर्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा।
और कथंचित् कर्ता आतम कहनेवाली;
स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते।।
उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,
संबोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय।
वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि।।२०४।।

कई लोग आत्मघाती एकान्तवादी रागादि विकारीभावों का कर्ता पौद्गलिककर्मों को ही मानकर आत्मा के कर्तृत्व को सर्वथा उड़ाकर 'आत्मा रागादिभावों का कथंचित् कर्ता है' – ऐसा कहनेवाली श्रुति जिनवाणी को कोपित करते हैं; तीव्रमोह से मोहित बुद्धिवाले उन लोगों की बुद्धि की संशुद्धि के लिए आगामी गाथाओं में अनेकान्तमयी वस्तुस्थिति का विवेचन किया जाता है।

आगामी तेरह गाथाओं के सूचक इस कलश काव्य में यही कहा गया है कि जैनदर्शन स्याद्वादी दर्शन है और उसके अनुसार अज्ञानी आत्मा रागादिभावरूप भावकर्मों का कर्ता-भोक्ता है और ज्ञानी आत्मा इनका कर्ता-भोक्ता नहीं है। इसे नय लगाकर बात करें तो इसप्रकार भी कह सकते हैं कि अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादिभावों का कर्ता-भोक्ता है और शुद्धनिश्चयनय से वह इनका कर्ता-भोक्ता नहीं है।

अब गाथाओं द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

कर्म अज्ञानी करे अर कर्म ही ज्ञानी करे।
जिय को सुलावे कर्म ही अर कर्म ही जाग्रत करे।।३३२।।

कर्म करते सुखी एवं दु:खी करते कर्म ही।
मिथ्यात्वमय कर्महि करे अर असंयमी भी कर्म ही।।३३३।।

कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि।।३३४।।
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा।।३३५।।
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी।।३३६।।
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं।।३३७।।
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति।।३३८।।
तम्हा ण को वि जीवो वघादेओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कंमं घादेदि इवि भणिदं।।३३९।।

एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे।।३४०।।

कर्म ही जिय भ्रमाते हैं ऊर्ध्व-अध-तिरलोक में।
जो कुछ जगत में शुभ-अशुभ वह कर्म ही करते रहें।।३३४।।
कर्म करते कर्म देते कर्म हरते हैं सदा।
यह सत्य है तो सिद्ध होंगे अकारक सब आतमा।।३३५।।
नरवेद है महिलाभिलाषी नार चाहे पुरुष को।
परम्परा आचार्यों से बात यह श्रुतपूर्व है।।३३६।।
अब्रह्मचारी नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म चाहे कर्म को।।३३७।।
जो मारता है अन्य को या मारा जावे अन्य से।
परघात नामक कर्म की ही प्रकृति का यह काम है।।३३८।।
परघात करता नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म मारे कर्म को।।३३९।।

सांख्य के उपदेशसम जो श्रमण प्रतिपादन करें।
कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर है अकारक आतमा।।३४०।।

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
ऐसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे।।३४२।।
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं।।३४३।।
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि।।३४४।।

या मानते हो यह कि मेरा आतमा निज को करे।
तो यह तुम्हारा मानना मिथ्यास्वभावी जानना।।३४१।।
क्योंकि आतम नित्य है एवं असंख्य-प्रदेशमय।
ना उसे इससे हीन अथवा अधिक करना शक्य है।।३४२।।
विस्तार से भी जीव का जीवत्व लोकप्रमाण है।
ना होय हीनाधिक कभी कैसे करे जिय द्रव्य को।।३४३।।
यदी माने रहे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव में।
तो भी आतम स्वयं अपने आतमा को ना करे।।३४४।।

जीव कर्मों द्वारा अज्ञानी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही ज्ञानी भी किया जाता है, कर्मों द्वारा सुलाया जाता है और कर्मों द्वारा ही जगाया जाता है, कर्मों द्वारा ही सुखी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही दु:खी किया जाता है; कर्म ही उसे मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं और कर्म ही असंयमी बनाते हैं। इस जीव को कर्मों द्वारा ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का भ्रमण कराया जाता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ भी शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही करते हैं। इसप्रकार कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हर लेता है; जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही करता है। इसप्रकार सभी जीव सर्वथा अकारक ही सिद्ध होते हैं।

पुरुषवेद कर्म स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है – ऐसी यह आचार्यों की परम्परागत श्रुति है। इसप्रकार हमारे उपदेश में तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है – ऐसा कहा है।

जो पर को मारता है और जो पर के द्वारा मारा जाता है; वह प्रकृति है, जिसे परघात नामक कर्म कहा जाता है। इसलिए हमारे उपदेश में कोई जीव उपघातक (मारनेवाला) नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है – ऐसा कहा गया है।

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः।।३३२।।
कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव।।३३३।।
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित्।।३३४।।
यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित्।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः।।३३५।।
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः।।३३६।।
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम्।।३३७।।
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति।।३३८।।
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम्।।।३३९।।
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे।।३४०।।
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्यास्वभावः तवैतज्जानतः।।३४१।।
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत्।।३४२।।
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु।

ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम्।।३४३।।
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम्।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति।।३४४।।

ऐसे सांख्यमत का उपदेश जो श्रमण (जैन मुनि) प्ररूपित करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही करती है; आत्मा तो पूर्णतः अकारक है – ऐसा सिद्ध होता है।

अथवा यदि तुम यह मानते हो कि मेरा आत्मा अपने द्रव्यरूप आत्मा को करता है तो तुम्हारा यह मानना मिथ्या है; क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा को नित्य और असंख्यातप्रदेशी बताया गया है, वह उससे हीन या अधिक नहीं हो सकता और विस्तार की अपेक्षा भी जीव को जीवरूप निश्चय से लोकमात्र जाने; क्या वह उससे हीन या अधिक होता है; यदि नहीं तो फिर

वह द्रव्य को कैसे करता है ?

अथवा ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव में स्थित रहता है – यदि ऐसा माना जाये तो इससे आत्मा स्वयं अपने आत्मा को नहीं करता – यह सिद्ध होगा।

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव जागरयति, निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः।

कर्मैव सुखयति, सद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव दुःखयति, असद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति, मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति, चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति, आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपतैः।

अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति, प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः।

यत एवं समस्तमपि स्वतंत्र कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यदि भावकर्म का कर्ता कर्म को ही माना जाये तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसकारण आत्मा को अज्ञान-अवस्था में अपने अज्ञानभाव रूप भावकर्म का कर्ता कथंचित् स्वीकार करना ही सही है; क्योंकि इसमें स्याद्वाद का विरोध नहीं आता।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना अज्ञान की अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही सुलाता है; क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही जगाता है; क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है।

कर्म ही सुखी करता है; क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही दुःखी करता है; क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है; क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही असंयमी करता है; क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है; क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है।

दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है, वह सब कर्म ही करता है; क्योंकि प्रशस्त-

अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय के बिना उनकी अनुपपत्ति है।

इसप्रकार सबकुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है; इसलिए हम यह निश्चय करते हैं कि सभी जीव सदा एकान्त से अकर्ता ही हैं।

किञ्च – श्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्।

एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति; तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीव कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्।

यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति, आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति, ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।

तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं, कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थितासंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्।

दूसरी बात यह है कि श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' – इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है; वह परघातकर्म है' – इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है और इसप्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।

इसप्रकार ऐसे सांख्यमत को, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है। इसलिए 'जीव कर्ता है' – ऐसी जो श्रुति है, उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है।

'कर्म आत्मा के पर्यायरूप अज्ञानादि सर्व भावों को करता है और आत्मा तो आत्मा को ही करता है, इसलिए जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुति का कोप नहीं होता' – ऐसा जो अभिप्राय है, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि कृतकत्व और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है।

अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का व्याघात हो जायेगा।

न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशन-द्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचनविकाशनयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीना-धिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादि भावानां न कर्ता भवति, भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः, ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्मात्मानं करोती-त्यभ्युपगममुपहंत्येव।

ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादि-भावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञान-रूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं; तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वा-दात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्।।३३२-३४४।।

तात्पर्य यह है कि स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिए उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यातप्रदेशवाला एक ही द्रव्य है, इसलिए वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।

और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से परिमित जिसका निश्चित निज-विस्तार संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित माप है) उसके (आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भाँति, निश्चित निज विस्तार के कारण उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। इसप्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।

और 'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं; इसलिए उनका कर्ता कर्म ही है।

ऐसी जो वासना (अभिप्राय-झुकाव) प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' - इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयतापूर्वक घात करती है; क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ।

इसलिए, ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है; इसलिए उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना चाहिए अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है; वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञान

के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता नहीं हो जाता।''

तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन भी इन गाथाओं का ऐसा ही अर्थ करते हैं, तथापि हिंसादि के संदर्भ में नयविभागपूर्वक किया गया उनका कथन बहुत ही मार्मिक है, जो यहाँ पाठकों के लाभार्थ दिया जा रहा है –

''कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न मानें तो जब जीव का विनाश नहीं होता है तो प्राणों का भी विनाश नहीं होगा – ऐसी स्थिति में हिंसा कैसे संभव है ? और यदि प्राण जीव से भिन्न हैं तो प्राणों के नाश होने पर भी जीव का तो कुछ बिगड़ता नहीं; अत: इस स्थिति में भी हिंसा नहीं हुई।

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि कायादि प्राणों के साथ जीव का कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद।

जिसप्रकार तपे हुए लोहे के गोले से अग्नि को उसीसमय पृथक् नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता; इसलिए व्यवहारनय से कायादि प्राणों का जीव से अभेद है; किन्तु मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते – इसकारण निश्चयनय से कायादि प्राणों के साथ जीव का भेद है।

यदि एकान्त से जीव और कायादि में भेद स्वीकार किया जाये तो जिसप्रकार दूसरे की काया के छेदने-भेदने पर अपने को दु:ख नहीं होता; उसीप्रकार अपनी काया को छिन्न-भिन्न करने पर भी दु:ख नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा तो नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

प्रश्न – ऐसा होने पर भी यह हिंसा तो व्यवहार से ही हुई, निश्चय से तो नहीं हुई ?

उत्तर – आप ठीक कहते हैं – यह हिंसा व्यवहार से ही होती है तथा पाप और उसके फल में नरकादि गति के दु:खों की प्राप्ति भी व्यवहार से ही होती है – यह बात हमें स्वीकार ही है।

अब यदि आपको नरकादि के दु:ख इष्ट हों तो खूब हिंसा कीजिए और उनसे डर लगता हो तो व्यवहार हिंसा छोड़ दीजिए।

अत: यह निश्चित ही है कि जैनमत में सांख्यमत के समान आत्मा एकान्त से अकर्ता नहीं है; किन्तु रागादि विकल्परहित स्वानुभूति लक्षणवाले भेदज्ञान के काल में कर्मों का कर्ता नहीं है, शेषकाल में कर्मों का कर्ता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यह आत्मा यद्यपि परमशुद्धनिश्चयनय से सभी कर्मों का अकर्ता ही है; तथापि अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्मों का और असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों का कर्ता भी है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को आचार्य जयसेन के उक्त संकेत पर विशेष

ध्यान देना चाहिए।

अब आगामी कलश में उक्त गाथाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र जो मार्गदर्शन करते हैं, जो परामर्श देते हैं; वह इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हता:
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादध: ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ।।२०५।।

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैक: कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघै:
स्वयमयमभिषिंचश्चिच्चमत्कार एव ।।२०६।।

(रोला)

अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आतम को सदा अकर्ता तुम मत जानो।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्ता आतम;
भेदज्ञान होने पर सदा अकर्त्ता जानो।।२०५।।

हे आर्हतमत के अनुयायी जैनियो ! तुम भी सांख्यमतियों के समान आत्मा को अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान के पूर्व उसे सदा रागादिभावों का कर्ता ही मानो और भेदज्ञान होने के बाद उसे सदा अचल, अकर्ता अर्थात् ज्ञाता ही देखो।

इसप्रकार तेरह गाथाओं के सार को अपने में समेट लेनेवाले इस कलश में यही कहा गया है कि हे अरहन्तों के अनुयायी जैनी भाइयो ! सांख्यों के समान तुम भी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो। अज्ञान-अवस्था में आत्मा को रागादिभावों का कर्ता और भेदज्ञान होने पर, सम्यग्ज्ञान होने पर उसे रागादिभावों का अकर्ता सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वीकार करो।

उक्त तेरह गाथाओं में सांख्यमत के समान रागादिभावों का सर्वथा अकर्ता माननेवाले जैनियों का अज्ञान दूर किया और अब आगामी चार गाथाओं में बौद्धमत के समान आत्मा को क्षणिक पर्याय जितना माननेवालों को समझायेंगे। आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने से **'जो कर्ता, सो भोक्ता'** वाली बात घटित नहीं होती, **'करे अन्य और भोगे अन्य'** जैसी समस्या खड़ी हो जाती है। अरे भाई ! करे कोई और भोगे कोई दूसरा – यह तो सरासर अन्याय है। ऐसा न तो होता ही है और

न होना ही चाहिए।

आगामी चार गाथाओं की विषयवस्तु की सूचना देने के लिए आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र ने दो कलश लिखे हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा।।२०७।।

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।

(रोला)

जो कर्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आतमा क्षणिक मानकर।
नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा,
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा।।२०६।।

(सोरठा)

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से।
कर्ता भोक्ता भिन्न, इस भय से मानो नहीं।।२०७।।

इस जगत में कोई क्षणिकवादी आत्मतत्त्व को क्षणिक मानकर अपने मन में कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं अर्थात् ऐसा मानते हैं कि कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य। उनके मोह (अज्ञान) को यह चैतन्यचमत्कार आत्मा स्वयं ही नित्यतारूप अमृत के समूह से सींचता हुआ दूर करता है।

वृत्त्यंशों अर्थात् पर्यायों के भेद से वृत्तिमान द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है – ऐसी कल्पना करके अन्य कर्ता और अन्य भोक्ता – ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि हे जैनियो ! बौद्धों के समान आत्मा को क्षणिक पर्याय जितना ही मानकर और **'करे अन्य और भोगे अन्य'** की मान्यता से ग्रस्त होकर स्वछन्दता से अनर्गल प्रवर्तन मत करो, अन्यथा चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। साथ में यह भी कहा गया है कि नित्य आत्मा का अनुभव अथवा आत्मा की नित्यता का अनुभव ही उक्त मान्यता को समाप्त करेगा। अत: प्रत्यभिज्ञान की हेतुभूत आत्मा की नित्यता का नित्य अनुभव करो।

जो बात विगत दो कलशों में कही गई है, अब उसी बात को आगामी चार गाथाओं में कहते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो भोगता वह करे अथवा अन्य यह एकान्त ना ।।३४५।।

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३४६।।
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३४७।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३४८।।

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ।।३४५।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ।।३४६।।
यश्चैव करोति स चैव य वेदयते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।।३४७।।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।।३४८।।

यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो करे भोगे वही अथवा अन्य यह एकान्त ना ।।३४६।।
जो करे, भोगे नहीं वह; सिद्धान्त यह जिस जीव का।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ।।३४७।।
कोई करे कोई भरे यह मान्यता जिस जीव की।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ।।३४८।।

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो भोगता है, वही करता है या अन्य ही करता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो करता है, वही भोगता है अथवा अन्य ही भोगता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

जो करता है, वह नहीं भोगता – ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरहन्त के मत के बाहर है, अनार्हत मतवाला है – ऐसा जानना चाहिए।

अन्य करता है और उससे अन्य भोगता है – ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरहन्त के मत के बाहर है, अनार्हत मतवाला है। – ऐसा जानना चाहिए।

उक्त चारों गाथाओं का तात्पर्य यह है कि जो करता है, वही भोगता है – ऐसा एकान्त भी नहीं

है और जो करता है; वह नहीं भोगता, अन्य ही भोगता है – ऐसा एकान्त भी नहीं है। इसीप्रकार जो भोगता है; वही करता है – ऐसा एकान्त भी नहीं है और जो भोगता है; वह नहीं करता, अन्य ही करता है – ऐसा एकान्त भी नहीं है।

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीव: कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभाव:। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांत:।

एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्य: करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्य:, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांत:प्रतिभासमानत्वात्।।३४५–३४८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकै:
~~कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परै:।~~
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य प्रथुकै: शुद्धर्जुसूत्रे रतै–
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो नि:सूत्रमुक्तेक्षिभि:।।२०८।।

इसप्रकार इन गाथाओं में चारों प्रकारों के एकान्तों का निषेध कर कर्ता–भोक्ता संबंधी अनेकान्त की स्थापना की गई है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''प्रतिसमय होनेवाले अगुरुलघुत्वगुण के परिणमन द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयगुण द्वारा नित्य होने से जीव कितनी ही पर्यायों द्वारा नष्ट होता है और कितनी पर्यायों द्वारा नष्ट नहीं होता है। इसप्रकार जीव दो स्वभाववाला है। इसलिए जो करता है, वही भोगता है अथवा दूसरा ही भोगता है तथा जो भोगता है, वही करता है अथवा दूसरा ही करता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

ऐसा अनेकान्त होने पर भी जो पर्याय उससमय है, वही परमार्थ वस्तु है; इसप्रकार वस्तु के अंश में पूर्ण की मान्यता करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में रहकर जो यह मानता है कि जो करता है, वह नहीं भोगता; दूसरा करता है और दूसरा भोगता है; उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए; क्योंकि पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी पर्यायी आत्मा अंतरंग में नित्य ही भासित होता है।''

पहले सांख्यों के समान आत्मा को सर्वथा नित्य और सर्वथा अकर्ता माननेवाले जैनों का निराकरण किया गया था और अब इन गाथाओं में बौद्धों के समान आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानकर **'करे अन्य और भोगे अन्य'** माननेवाले जैनों को समझाया है।

अंतत: यह सिद्ध किया है कि यह आत्मा नित्यानित्यात्मक है और नित्यद्रव्य की दृष्टि से देखने

पर जो करता है, वही भोगता है तथा अनित्यपर्याय की दृष्टि से देखने पर करता कोई और है व भोगता कोई और ही है – ऐसा अनेकान्त है।

इसप्रकार यहाँ नित्यानित्य और कर्ता-भोक्ता संबंधी अनेकान्त सिद्ध किया गया है।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ।।२०९।।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है।
जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि।।
इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा।
ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता।।२०८।।

आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले किन्हीं अन्धों ने – अज्ञानियों ने काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर शुद्धऋजुसूत्रनय में रत होते हुए चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके इस आत्मा को उसीप्रकार छोड़ दिया कि जिसप्रकार हार के डोरे को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।

जिसप्रकार डोरे में सुव्यवस्थित क्रम से अवस्थित मोतियों को ही हार कहा जाता है; उसीप्रकार नित्यध्रुवांश में क्रम से अवस्थित अनित्यपर्यायों को ही द्रव्य कहते हैं। आत्मा भी द्रव्य है। इसलिए वह भी नित्य द्रव्य, गुण और अनित्य पर्यायों के समुदायरूप ही है।

जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करके मोतियों पर दृष्टि केन्द्रित करनेवाले हार को प्राप्त नहीं कर सकते; उसीप्रकार नित्यता की उपेक्षा करनेवाले लोग भी क्षणिकपर्यायों में मुग्ध होकर आत्मवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि नित्यता में कालभेद पड़ने से अशुद्धि आ जाती है और एक क्षणवर्ती पर्याय को वस्तु मानने में कालभेद नहीं पड़ता; अत: वह पूर्णत: शुद्ध ही होती है। शुद्धऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है। इसकारण यहाँ यह कहा गया है कि शुद्धता के लोभ में ऋजुसूत्रनय के विषय को ही वस्तु मानकर जो लोग संतुष्ट हैं; उन्हें उसीप्रकार आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करनेवाले मोती के लोभियों को मोतियों का हार नहीं मिलता।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा को सर्वथा क्षणिक माननेवाले लोगों को आत्मा की प्राप्ति उसीप्रकार नहीं होती, जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करनेवाले मोतियों की माला से

वंचित रहते हैं।

अब सब विकल्पों से पार आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देनेवाला कलशा काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
~~निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते।।२१०।।~~

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३४९।।

(रोला)

कर्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनों ही ना होवें।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
त्यों अभेद आतम का अनुभव हमें सदा हो।।२०९।।

कर्ता और भोक्ता का युक्तिवश से भेद हो या अभेद अथवा कर्ता-भोक्ता – दोनों ही न हों, जो भी हो; तुम तो एक वस्तु का ही अनुभव करो।

जिसप्रकार व्यक्तियों द्वारा डोरे में पिरोई गई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती; उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही हमें सम्पूर्ण प्रकाशमान हो।

तात्पर्य यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि के विकल्पों का शमन होकर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो।

इसप्रकार इस कलशा में यही कहा गया है कि कर्ता-भोक्ता आदि के संदर्भ में जिनागम में अनेक अपेक्षायें आती हैं। वस्तुस्थिति समझने के लिए समझते समय उनका भरपूर उपयोग होता है और होना भी चाहिए; किन्तु भगवान आत्मा तो उक्त समस्त विकल्पों से पार है; अत: अनुभव के काल में सभी विकल्प तिरोहित हो जाते हैं, हो जाना चाहिए। अत: हमारी भावना तो यही है कि हमें तो उक्त सभी विकल्पों से पार आत्मा का अनुभव हो।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलशा काव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

अरे मात्र व्यवहार से, कर्म रु कर्ता भिन्न।
निश्चयनय से देखिये, दोनों सदा अभिन्न।।२१०।।

केवल व्यवहारदृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाये तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

जो बात उत्थानिका के कलशा में कही गई है; अब उसी बात को इन गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट करते हैं। मूल गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।

त्यों जीव कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।।३४९।।

जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३५०।।
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि।।३५१।।
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मदो होदि।।३५२।।
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि।।३५३।।
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से।।३५४।।
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

ज्यों शिल्पि करणों से करे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों से करे पर करणमय वह ना बने।।३५०।।
ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।।३५१।।
ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।
त्यों जीव भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।।३५२।।
संक्षेप में व्यवहार का यह कथन दर्शाया गया।
अब सुनो परिणाम विषयक कथन जो परमार्थ का।।३५३।।
शिल्पी करे जो चेष्टा उससे अनन्य रहे सदा।
जीव भी जो करे वह उससे अनन्य रहे सदा।।३५४।।
चेष्टा में मगन शिल्पी नित्य ज्यों दु:ख भोगता।
यह चेष्टा रत जीव भी त्यों नित्य ही दु:ख भोगता।।३५५।।

जिसप्रकार शिल्पी (कलाकार-सुनार) कुण्डल आदि कार्य (कर्म) करता है; किन्तु कुण्डलादि को बनाते समय वह उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गल कर्मों को करता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणों (साधनों) से कर्म करता है; परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव मन-वचन-कायरूप करणों से कर्म करता है; परन्तु उनसे तन्मय

नहीं होता।

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति।।३४९।।
यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति।।३५०।।
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति।।३५१।।
यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति।।३५२।।
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति।।३५३।।
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात्।।३५४।।
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः।।३५५।।

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्ट-कादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि कर-णानि गृह्णाति, ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽ-न्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः।

जिसप्रकार शिल्पी करणों को ग्रहण करता है, परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव करणों को ग्रहण करता है, पर उनसे तन्मय (करणमय) नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी कुण्डल आदि कर्म के फल को भोगता है; परन्तु वह उससे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गलकर्म के फल को भोगता है; परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुख-दुःखादिमय) नहीं होता।

इसप्रकार व्यवहार का मत संक्षेप में दर्शाया। अब परिणाम विषयक निश्चय का मत (मान्यता) सुनो।

जिसप्रकार शिल्पी चेष्टारूप कर्म करता है और वह उससे अनन्य है; उसीप्रकार जीव भी अपने परिणामरूप कर्म को करता है और वह जीव उस अपने परिणामरूप कर्म से अनन्य है।

जिसप्रकार चेष्टारूप कर्म करता हुआ शिल्पी नित्य दुःखी होता है; उसीप्रकार अपने परिणामरूप चेष्टा को करता हुआ जीव भी दुःखी होता है, दुःख से अनन्य है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जिसप्रकार शिल्पी कुण्डल आदि परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म को हथौड़ा आदि परद्रव्य-परिणामात्मक करणों द्वारा करता है; हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्मफल को और परद्रव्यात्मक ग्रामादि को भोगता है; किन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण वह शिल्पी कर्म, करण आदि भिन्न होने से उनसे तन्मय (कर्मकरणादि

मय) नहीं होता; इसलिए वहाँ कर्तृ-कर्मत्व और भोक्ता-भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव से ही है।

तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्गल-द्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्व-व्यवहारः।

यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षण-मात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः।

तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरि-णामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः।।३४९-३५५।।

उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म को मन-वचन-कायरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणों के द्वारा करता है; मन-वचन-कायरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामा-त्मक करणों को ग्रहण करता है और पुद्गलपरिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म के सुख-दुःखादि फल को भोगता है; परन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से तन्मय नहीं होता; इसलिए वहाँ कर्तृ-कर्मत्व और भोक्ता-भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव से ही है।

जिसप्रकार वही शिल्पी करने का इच्छुक होता हुआ चेष्टारूप अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप जो स्वपरिणामात्मक कर्म करता है तथा चेष्टारूप दुःखस्वरूप कर्म के स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है और एकद्रव्यत्व के कारण कर्म और कर्मफल से अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय और कर्मफलमय) है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से कर्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय है।

उसीप्रकार आत्मा भी करने का इच्छुक होता हुआ चेष्टारूप अर्थात् रागादि परिणामरूप और प्रदेशों के व्यापाररूप जो आत्मपरिणामात्मक कर्म करता है, चेष्टारूप कर्म के आत्म-परिणामात्मक दुःखरूप फल को भोगता है और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे अनन्य होने से तन्मय है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वही कर्ता-कर्मपन और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का भाव इसीप्रकार व्यक्त करते हुए नयविभाग स्पष्ट कर देते हैं कि व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता-भोक्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से भावकर्मों का कर्ता-भोक्ता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होने से, एकाकार नहीं होने से यह आत्मा उनका कर्ता-भोक्ता मात्र व्यवहारनय से ही कहा जाता है; परमार्थ से वह उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है; तथापि उनको करने-भोगनेरूप अपने भावों का, तत्संबंधी योग और उपयोग का कर्ता अवश्य है।

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ।।२११।।

(पृथ्वी)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ।।२१२।।

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ।।२१३।।

अब इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

अरे कभी होता नहीं, कर्त्ता के बिन कर्म।
निश्चय से परिणाम ही, परिणामी का कर्म ।।
सदा बदलता ही रहे, यह परिणामी द्रव्य।
एकरूप रहती नहीं, वस्तु की थिति नित्य ।।२११।।

वस्तुतः परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं तथा कर्म कर्ता के बिना नहीं होता एवं वस्तु की स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती; इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि वस्तु की स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती, वह निरन्तर पलटती रहती है। निश्चय से परिणाम परिणामी का ही होता है और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता। इसलिए प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने परिणाम की कर्ता है।

इसके बाद आत्मख्याति में आगामी गाथाओं की विषयवस्तु की उत्थानिका रूप तीन काव्य लिखे गये हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित।
और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के।।
पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में।
फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा ।।२१२।।

(रथोद्धता)

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ।।२१४।।

(रोला)

एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की।
वस्तु वस्तु की ही है – ऐसा निश्चित जानो।।
ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे।
तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का।।२१३।।
स्वयं परिणमित एक वस्तु यदि परवस्तु का।
कुछ करती है – ऐसा जो माना जाता है।।
वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो।
एक दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है।।२१४।।

जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है – ऐसी वस्तु यद्यपि अन्य वस्तु के बाहर लोटती है; तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती; क्योंकि समस्त वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं – ऐसा माना जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा होने पर भी मोहित जीव अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ क्यों क्लेश पाता है?

तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभाव का नियम तो ऐसा है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं मिलती; फिर भी यह मोही प्राणी परज्ञेयों के साथ पारमार्थिक संबंध स्वीकार कर क्लेश पाता है – यह उसके अज्ञान की महिमा जानो।

इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है; इसलिए वस्तुतः तो वस्तु वस्तु ही है – यह निश्चय है। ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है?

स्वयं परिणमती वस्तु का अन्य वस्तु कुछ कर सकती है – ऐसा जो माना जाता है; वह व्यवहार से माना जाता है; निश्चय से तो अन्य वस्तु का अन्य वस्तु से कुछ भी संबंध नहीं है।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि भले ही व्यवहार से ऐसा कहा जाता हो कि वस्तु दूसरी वस्तु को करती-भोगती है; परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के भीतर प्रविष्ट ही नहीं होती, बाहर-बाहर ही लोटती है। बाहर-बाहर ही लोटती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु का क्या कर सकती है? अतः निश्चयनय का यह कथन परमसत्य है कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तु की कर्ता-भोक्ता नहीं है।

जो बात उत्थानिका के कलशों में कही गई है; अब वही बात आगामी गाथाओं में विस्तार से कहते हैं।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।
एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्य य वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएग भावेण।।३६१।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण।।३६२।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है।।३५६।।
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का दर्शक तो बस दर्शक ही है।।३५७।।
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
संयत नहीं त्यों अन्य का संयत तो बस संयत ही है।३५८।।
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का दर्शन तो बस दर्शन ही है।।३५९।।
यह ज्ञान–दर्शन–चरण विषयक कथन है परमार्थ का।
अब सुनो अतिसंक्षेप में तुम कथन नय व्यवहार का।।३६०।।
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से।।३६१।।
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से।।३६२।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण।।३६४।।

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो।।३६५।।

परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से।।३६३।।
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से।।३६४।।
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है व्यवहार का।
अर अन्य पर्यय विषय में भी इसतरह ही जानना।।३६५।।

यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; दृश्य-दर्शक संबंध है, त्याज्य-त्याजक संबंध है; तथापि निश्चय से तो वस्तुस्थिति इसप्रकार है –

जिसप्रकार सेटिका अर्थात् खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई पर (दीवाल) की नहीं है; क्योंकि सेटिका (कलई) तो सेटिका ही है; उसीप्रकार ज्ञायक आत्मा तो ज्ञेयरूप परद्रव्यों का नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शक पर का नहीं है, दर्शक तो दर्शक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार संयत (पर का त्याग करनेवाला) पर का नहीं है, संयत तो संयत ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शन (श्रद्धान) पर का नहीं है, दर्शन तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान तो श्रद्धान ही है।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संदर्भ में निश्चयनय का कथन है और अब उस संबंध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार जीव अपने स्वभाव से परद्रव्यों को देखता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार

ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को त्यागता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्यों का श्रद्धान करता है।

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु।।३५६।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु।।३५७।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सटिका च सा भवति।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु।।३५८।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु।।३५९।।
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन।।३६०।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन।।३६१।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन।।३६२।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन।।३६३।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं श्रद्धते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन।।३६४।।
एवं व्यवहारनयस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः।।३६५।।

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्व–संबंधो मीमांस्यते – यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति, यथात्मनो

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा है। अन्य पर्यायों में भी इसीप्रकार जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य–पोते जाने योग्य) पदार्थ हैं। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल आदि परद्रव्यों की है या नहीं ? – इसप्रकार यहाँ उनके तात्त्विक (पारमार्थिक) संबंध की

मीमांसा की जा रही है।

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की हो तो क्या हो ? जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः –

चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभय–तत्त्वसंबंधो मीमांस्यते –

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मव–भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः

ही है। इसप्रकार के तात्त्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी। ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा, परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है?

यदि यह कहा जाये कि वह कलई कलई की ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन–सी कलई है कि जिसकी वह कलई है।

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व–स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व–स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं है, कलई तो कलई ही है – यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं –

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके ज्ञेय हैं।

अब ज्ञायक आत्मा पुद्गलादि ज्ञेयों का है या नहीं – इस बात का तात्त्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि ज्ञेयों का हो तो क्या हो – सर्वप्रथम इसका विचार करते

हैं? जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है – ऐसा तात्त्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को

स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यात्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः।

किंच सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि–परद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्रो सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते –

यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति। यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव

पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा; किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है ?

यदि यह कहा जाये कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन–सा चेतयिता है कि जिसका यह चेतयिता है ?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व–स्वामीरूप अंश ही हैं – यदि यह कहा जाये तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ स्व–स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। इसप्रकार ज्ञायक किसी का नहीं है; ज्ञायक तो ज्ञायक ही है – यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि आत्मा परद्रव्य को जानता है – यह व्यवहार कथन है और आत्मा अपने को जानता है – इस कथन में भी स्व–स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक पर घटित किया गया; अब उसीप्रकार दर्शक पर भी घटित किया जा रहा है।

सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य – पोते जाने योग्य) पदार्थ हैं। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल आदि परद्रव्यों की है या नहीं ? इसप्रकार यहाँ उनके तात्त्विक (पारमार्थिक) संबंध की मीमांसा की जा रही है।

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की ही हो तो क्या हो – जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान

भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः –

~~चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्।~~ अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति।

तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते –

आत्मा ही है। इसप्रकार के तात्त्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी – ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा; परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है ?

यदि यह कहा जाये कि वह कलई कलई की ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन–सी कलई है कि जिसकी वह कलई है ?

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व–स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व–स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं है, कलई तो कलई ही है – यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं –

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है

और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके दृश्य हैं।

अब दर्शक आत्मा पुद्गलादि दृश्यों का है या नहीं – इस बात का तात्त्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धात्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ?

न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंश–व्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः।

अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि–परद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते –

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि दृश्यों का हो तो क्या हो – सर्वप्रथम इसका विचार करते हैं। जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे दर्शन आत्मा का होने से दर्शन आत्मा ही है – ऐसा तात्त्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा, किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है ?

यदि यह कहा जाये कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन–सा चेतयिता है कि जिसका यह चेतयिता है ?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व–स्वामीरूप अंश ही हैं – यदि यह कहा जाये तो फिर प्रश्न उठता है कि यहाँ स्व–स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। जिसप्रकार दर्शक किसी का नहीं है; दर्शक तो दर्शक ही है – यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' – यह व्यवहार कथन है और 'आत्मा अपने को देखता है और श्रद्धा करता है' – इस कथन में भी स्व–स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि दर्शक दर्शक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक और दर्शक पर घटित किया गया, अब उसीप्रकार अपोहक पर भी घटित किया जा रहा है।

सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य – पोते जाने योग्य) पदार्थ है। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल

आदि परद्रव्यों की है या नहीं ?

इसप्रकार यहाँ उनके तात्त्विक (पारमार्थिक) संबंध की मीमांसा की जा रही है।

यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ?

सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यं-शव्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः –

चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते –

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की हो तो क्या हो – जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार के तात्त्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी – ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा; परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है ?

यदि यह कहा जाये कि वह कलई कलई की है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन-सी कलई है कि जिसकी वह कलई है ?

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं है, कलई तो कलई ही है – यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं –

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा अपोहनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके अपोह्य हैं।

अब अपोहक आत्मा पुद्गलादि अपोह्यों का है या नहीं – इस बात का तात्त्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः।

ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः।

अथ व्यवहारव्याख्यानम् – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्य-स्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्त-केनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तके-नात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि अपोह्यों का हो तो क्या हो – सर्वप्रथम इसका विचार करते हैं – जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे अपोहन आत्मा होने से अपोहन आत्मा ही है – ऐसा तात्त्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा; किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है ?

यदि यह कहा जाये कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन-सा चेतयिता है, जिसका यह चेतयिता है ?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं। यदि यह कहा जाये तो फिर प्रश्न उठता है कि यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। इसप्रकार अपोहक किसी का नहीं है; अपोहक तो अपोहक ही है – यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है' – यह व्यवहार कथन है और 'आत्मा अपने को ग्रहण करता है' – इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि अपोहक अपोहक ही है।

अब व्यवहार का विवेचन किया जाता है – जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवाल आदि

परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणमनमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितुनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते।

किंच – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते।

इसीप्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से जानता है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

जिसप्रकार ज्ञानगुण के संदर्भ में व्यवहार का विवेचन किया, अब उसीप्रकार दर्शनगुण के संदर्भ में भी विवेचन किया जाता है।

जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम

द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

अपि च – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेना-परिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुण-निर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते।

एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः। एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः।।३५६-३६५।।

जिसप्रकार ज्ञान और दर्शनगुण के संदर्भ में व्यवहार का विवेचन किया, अब उसीप्रकार चारित्रगुण के संदर्भ में भी विवेचन किया जाता है।

जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार चारित्रगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने चारित्रगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से अपोहता (त्याग करता) है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसप्रकार का संबंध दीवाल पर पुती हुई कलई का दीवार के साथ है; उसीप्रकार का संबंध ज्ञायक भगवान आत्मा का परज्ञेयों के साथ है, दर्शक भगवान आत्मा का परदृश्यों के साथ है और अपोहक भगवान आत्मा का अपोह्य परपदार्थों के साथ है।

तात्पर्य यह है कि व्यवहार से भले ही कलई दीवाल को सफेद करनेवाली कही जाती हो, दीवाल की कही जाती हो; तथापि वस्तुस्थिति यह है कि कलई और दीवाल अत्यन्त भिन्न पदार्थ

हैं; इसप्रकार कलई कलई की ही है और दीवाल दीवाल की ही है। कलई कलई की ही है – इसमें भी क्या दम है; क्योंकि दो कलई तो हैं नहीं, जिससे यह कहा जा सके कि यह कलई उस कलई की है। एक ही कलई में कलई कलई की ही है – ऐसा कहने से क्या लाभ है; इतना पर्याप्त है कि कलई तो कलई ही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः।।२१५।।

इसीप्रकार व्यवहार से भले ही ज्ञान को परज्ञेयों का जाननेवाला कहा जाता हो, परज्ञेयों का ज्ञायक कहा जाता है; ज्ञेयों का ज्ञायक – ऐसा कहा जाता हो; तथापि वस्तुस्थिति तो यह है कि ज्ञायक और परज्ञेय अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं; इसप्रकार ज्ञायक ज्ञायक का ही है और ज्ञेय ज्ञेय का ही है। ज्ञायक ज्ञायक का ही है – इसमें भी क्या दम है; क्योंकि दो ज्ञायक तो हैं नहीं; जिससे यह कहा जा सके कि इस ज्ञायक का वह ज्ञायक है। एक ही ज्ञायक में ज्ञायक ज्ञायक का है – ऐसा कहने से क्या लाभ है; इतना ही पर्याप्त है कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक आत्मा के संदर्भ में स्पष्टीकरण किया गया है; उसीप्रकार दर्शक आत्मा, श्रद्धाता आत्मा और त्यागी आत्मा के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार यहाँ ज्ञेयपदार्थों के साथ ज्ञायक आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंधी व्यवहार का निषेध किया गया है और ज्ञायक का ज्ञायक – ऐसे भेद-व्यवहार का भी निषेध किया गया है तथा ज्ञायक सो ज्ञायक – ऐसे निश्चय का प्रतिपादन कर दृष्टि को स्वभावसन्मुख करने का सफल प्रयास किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि कर्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्य संबंधी व्यवहार का निषेध तो पहले कर दिया था; अब यहाँ ज्ञाता-ज्ञेय संबंधी व्यवहार का भी निषेध करके ज्ञायक सो ज्ञायक – ऐसे निश्चय की स्थापना की जा रही है।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें दो छन्द उक्त गाथाओं में प्ररूपित भाव के पोषक हैं और तीसरा छन्द आगामी गाथाओं की सूचना देता है।

उक्त दश गाथाओं के भाव के पोषक उन दो कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो – ऐसा।
भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को।।
शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने।
फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं।।२१५।।

शुद्धतत्त्व के निरूपण में लगी है बुद्धि जिसकी और जो ज्ञानी जीव तत्त्व को अच्छी तरह जानता है, अनुभवी है; उसे एक द्रव्य के भीतर कोई अन्य द्रव्य रहता है – ऐसा कभी भी भासित नहीं होता। यदि ज्ञान ज्ञेय को जानता है तो वह तो ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है। ऐसा होने पर भी ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुलबुद्धिवाले कुछ लोग तत्त्व (शुद्धस्वरूप) से च्युत क्यों होते हैं ?

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष–
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्सनारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव।।२१६।।

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतत्र यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः।।२१७।।

(रोला)

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता।
वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते।।
अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती।
त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के।।२१६।।

शुद्धनय का निजरसरूप से परिणमन होता है अर्थात् आत्मा का ज्ञानादि स्वभावरूप परिणमन होता है; इसकारण क्या कोई अन्य द्रव्य उस ज्ञानादि स्वभाव का हो सकता है अथवा क्या वह ज्ञानादि स्वभाव किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि परमार्थ से तो एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कोई संबंध ही नहीं है।

यद्यपि चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है, तथापि पृथ्वी चाँदनी की तो नहीं हो जाती; उसीप्रकार यद्यपि ज्ञान ज्ञेय को जानता है; तथापि ज्ञेय ज्ञान का तो नहीं हो जाता।

उक्त दोनों कलशों का सार यह है कि ज्ञान का समस्त ज्ञेयों को जानना कोई अपराध नहीं है; अपितु ज्ञान के स्वभाव का उदय ही है। जिसप्रकार पृथ्वी पर चाँदनी पड़ने से पृथ्वी चाँदनी की नहीं हो जाती; उसीप्रकार ज्ञेयों को जानने से ज्ञेय ज्ञान के नहीं हो जाते। इसलिए यदि परपदार्थ अपने ज्ञान के ज्ञेय बनते हों तो आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर को जानना भी ज्ञान का स्वभावपरिणमन ही है, विकार नहीं, विभावपरिणमन नहीं।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि स्व और पर सभी को जानना आत्मा का स्वभाव

है, विभाव नहीं। परज्ञेयों के जानने से न तो ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय ज्ञानरूप होते हैं; दोनों पूर्णत: असंपृक्त ही रहते हैं। अत: पर को जानने में अपराधबोध होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

अब आगे की गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशकाव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि।।३६७।।

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो।।३६९।।

(रोला)

तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई !
ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो।।
ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को,
मेट पूर्णत: पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जाओ।।२१७।।

जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो जाये और ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो जाये; तबतक ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह ज्ञान अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाये।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जबतक ज्ञान और ज्ञेयों में अन्तर ख्याल में नहीं आता अर्थात् ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं होते – यह बात ख्याल में नहीं आती; तबतक अज्ञानभाव रहता है और जबतक अज्ञानभाव रहता है; तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होते ही रहते हैं। अत: ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान की ज्ञेयों से भिन्नता जानना बहुत जरूरी है। यह भिन्नता जान लेने पर राग-द्वेष का अभाव होता जाता है और एक दिन राग-द्वेष का पूर्णत: अभाव होकर केवलज्ञान हो जाता है।

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन विषय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस विषय में।।३६६।।
ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन कर्म में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस कर्म में।।३६७।।

ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन काय
म ।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस काय में ।।३६८।।
सद्ज्ञान का सम्यक्त्व का उपघात चारित्र का कहा ।
अन्य पुद्गल द्रव्य का ना घात किंचित् भी कहा ।।३६९।।

जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु।।३७०।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी।।३७१।।

दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु।।३६६।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि।।३६७।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु।।३६८।।

ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः।।३६९।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु।।३७०।।
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः।।३७१।।

जीव के जो गुण कहे वे हैं नहीं परद्रव्य में।
बस इसलिए सद्दृष्टि को है राग विषयों में नहीं।।३७०।।
अनन्य हैं परिणाम जिय के राग-द्वेष-विमोह ये।
बस इसलिए शब्दादि विषयों में नहीं रागादि ये।।३७१।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन विषयों में किंचित्मात्र भी नहीं हैं, इसलिए आत्मा उन विषयों में क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन कर्मों में भी किंचित्मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कर्मों में भी क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन काय में भी किंचित्मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कायों में भी क्या घात करेगा ?

जहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र का घात कहा है; वहाँ पुद्गलद्रव्य का किंचित्मात्र भी घात

नहीं कहा है। तात्पर्य यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।

इसप्रकार जो जीव के गुण हैं; वे वस्तुत: परद्रव्य में नहीं हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि का विषयों के प्रति राग नहीं होता।

और राग-द्वेष-मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं; इसकारण रागादिक शब्दादि विषयों में नहीं हैं।

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते; यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते।

अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते; एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एव ततो ये यावन्त: केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्याम:, अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्।

यद्येवं तर्हि कुत: सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ?

न कुतोऽपि।

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोहादिभाव न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं और न जड़-विषयों में ही हैं; वे अज्ञानदशा में रहनेवाले अज्ञानी जीव के परिणाम हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है। जिसप्रकार दीपक के घात होने पर प्रकाश नष्ट हो जाता है।

इसीप्रकार जिसमें जो होता है, वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है अर्थात् आधेय का घात होने पर आधार का घात हो ही जाता है। जिसप्रकार प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है।

जो जिसमें नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार घड़े का नाश होने पर घटप्रदीप (घड़े मे रखे हुए दीपक) का नाश नहीं होता।

इसीप्रकार जिसमें जो नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार घटप्रदीप के नष्ट होने पर घट का नाश नहीं होता।

इसी न्याय से आत्मा के धर्म - दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य के घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता।

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा न तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात अवश्य होना चाहिए।

ऐसी स्थिति होने से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि जीव के जो जितने गुण हैं; वे सभी परद्रव्यों

में नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुणों का घात होना अनिवार्य हो जायेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध है कि जीव का कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों होता है ?

उत्तर – किसी भी कारण से नहीं होता।

तर्हि रागस्य कतरा खानिः ?

रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामाः, ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्–त्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव ।।३६६–३७१ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ।।२१८।।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो फिर राग की खान कौन–सी है ? तात्पर्य यह है कि राग की उत्पत्ति कहाँ से होती है, राग की उत्पत्ति का स्थान कौन–सा है ?

उत्तर – राग–द्वेष–मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं; वे राग–द्वेष–मोह विषयों में नहीं हैं; क्योंकि विषय तो परद्रव्य हैं और वे सम्यग्दृष्टि के भी नहीं हैं; क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है। इसप्रकार वे राग–द्वेष–मोह परिणाम विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के भी न होने से हैं ही नहीं।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार दीपक और दीपघट (जिसमें दीपक रखा हो – ऐसा घट) भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं; उसीप्रकार शरीर, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व पंचेन्द्रियों की उपभोग्य सामग्री आदि परपदार्थ और भगवान आत्मा भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं।

जिसप्रकार दीपघट के नष्ट होने पर भी दीपक नष्ट नहीं होता और दीपक के नष्ट होने पर दीपघट नष्ट नहीं होता; उसीप्रकार देहादि परद्रव्यों के नष्ट होने पर आत्मा के दर्शन–ज्ञान–चारित्र नष्ट नहीं होते और आत्मा के दर्शन–ज्ञान–चारित्र के नष्ट होने पर देहादि संयोग नष्ट नहीं होते। इसलिए इनकी भिन्नता सहज ही सिद्ध है।

परद्रव्यों की भिन्नता सिद्ध होने से यह भी सहज सिद्ध है कि मोह–राग–द्वेष के परिणाम पर के कारण नहीं होते, पर के द्वारा नहीं होते। दूसरी बात यह है कि आत्मा के स्वभाव न होने से आत्मा के आश्रय से भी उनकी उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन मोह–राग–द्वेष की उत्पत्ति आत्मा के अज्ञान से आत्मा में ही होती है और इनका अभाव भी

आत्मा के आश्रय से ही होता है। अत: एक मात्र आत्मा का आश्रय लेना ही उपाय है – यही कारण है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा गया है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय।
हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये।।
तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को।
हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित।।२१८।।

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात्।।२१९।।

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण।।३७२।।

इस जगत में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होता है। वस्तुत्व में एकाग्र दृष्टि से देखने पर वे राग-द्वेष-मोह कुछ भी नहीं हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें पूर्णत: क्षय करो कि जिससे पूर्ण अचल प्रकाशवाली ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि राग-द्वेष की खान अज्ञानभाव ही है। अपने अज्ञानभाव से ही यह आत्मा स्वयं राग-द्वेष परिणामरूप परिणमित होता है। जब वस्तु के मूलस्वरूप की दृष्टि से विचार करते हैं तो यही स्पष्ट होता है कि आत्मस्वभाव में तो ये राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं। यद्यपि वर्तमान पर्याय में इन राग-द्वेषभावों की सत्ता है; तथापि उसे भी ज्ञानीजन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तत्त्वदृष्टि के बल से इनका क्षय करके स्वयं स्वयं के सहजस्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

अब आगामी गाथा के भाव का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है-

(रोला)

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई।
कर्ता-धर्ता कोई अन्य नहीं हो सकता।।
क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में।
द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है।।२१९।।

तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी दिखाई नहीं देता; क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यन्त स्पष्ट प्रकाशित होती है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसके स्वयं के स्वभाव से ही होता है; अन्य द्रव्यों के कारण नहीं। आत्मा भी एक द्रव्य है; इसलिए उसका परिणमन भी उसके ही द्वारा किया जाना इष्ट है। मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन भी आत्मा का ही परिणमन है; अत: वह भी उसके द्वारा ही किया जाना इष्ट है। यही कारण है कि यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा

स्वयं ही अपने अज्ञानभाव के कारण अज्ञान-अवस्था में मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है; किसी अन्य के कारण नहीं। अपने स्वयं के राग-द्वेष-मोह का कारण पर में खोजना अज्ञान ही है।

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को मूल गाथा में स्पष्ट करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

गुणोत्पादन द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य नहीं करे।
क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों।।३७२।।

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन।।३७२।।

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्या-योगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्।

तथाहि - मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते, किं मृत्तिकास्वभावेन?

यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुष-शरीराकारः कुंभः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्।

यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते, किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते।

अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है; इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित होता है कि सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र विषयवस्तु को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करते हैं, जिसका भाव इसप्रकार है -

''और ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए कि परद्रव्य जीव को रागादिरूप परिणमाते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्यों में अन्य द्रव्यों के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है; क्योंकि सभी द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

अब इसी बात को विस्तार से दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं -

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से ?

यदि यह कहा जाये कि कुम्हार के स्वभाव से मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती है तो उस घट को उस कुम्हाररूप पुरुष के शरीराकार होना चाहिए, जो कुम्हार घट बनाने के अहंकार से भरा हुआ है और जिसका हाथ घट बनाने का व्यापार कर रहा है; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है,

वह घट पुरुषाकार तो होता नहीं है; क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से किसी अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।

यदि ऐसा हो तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; किन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है – यही निश्चित रहा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के परिणाम का अपने स्वभावरूप से ही उत्पाद देखा जाता है।

ऐसा होने पर यह निश्चित हुआ कि मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती; इसलिए मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से ही कुंभ (घट) भावरूप से उत्पन्न होती है; कुम्हार कुंभ का उत्पादक है ही नहीं।

यह बात तो द्रष्टान्त पर घटित हुई है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं –

एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतर स्वभावेनोत्पद्यंते, किं स्वस्वभावेन?

यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यन्ते, किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्।

एवं च सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावनतिक्रमान्न निमित्तभूतद्रव्यांतराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः।।३७२।।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि स्वपरिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हुए सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने स्वभाव से ?

यदि यह कहा जाये कि निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से सभी द्रव्य उत्पन्न होते हैं तो उनके परिणामों को निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के आकार का होना चाहिए; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, द्रव्यों के परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के तो होते नहीं हैं; क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से किसी अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।

यदि ऐसा है तो फिर सर्वद्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते; परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं – यही निश्चित रहा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के परिणाम का अपने स्वभाव से ही उत्पाद देखा जाता है।

ऐसा होने पर यह निश्चित हुआ कि सर्वद्रव्य अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते; इसलिए सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव का स्पर्श न करते हुए अपने स्वभाव से ही अपने परिणाम से पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; निमित्तभूत अन्यद्रव्य उनके परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं। अतः आचार्यदेव अन्त में कहते हैं कि हम जीव में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का उत्पादक परद्रव्यों को देखते ही नहीं हैं, मानते ही नहीं हैं, जानते ही नहीं हैं; फिर उन परद्रव्यों पर

क्रोध क्यों करें ?''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि जिसप्रकार घड़ा अपनी उपादानरूप मिट्टी का ही कार्य है और मिट्टीरूप ही है; उसे बनाने के विकल्प से परिणमित कुम्हाररूप नहीं, निमित्तरूप नहीं; उसीप्रकार से रागादिभाव भी अपने उपादानरूप चेतन आत्मा के ही कार्य हैं, चेतनरूप ही हैं; पररूप नहीं, अचेतनरूप नहीं, अचेतन कर्मरूप नहीं; निमित्तरूप नहीं।

इसप्रकार जब यह निर्णय पक्का हो जाता है तो फिर निमित्तरूप परद्रव्यों पर कोप करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में आचार्यदेव कहते हैं कि जब हमें कोई परद्रव्य हमारे सुख-दु:ख और राग-द्वेष का कारण दिखाई ही नहीं देता तो फिर हम उन परद्रव्यों पर कोप क्यों करें ?

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषप्रसूति:
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधा
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोध:।।२२०।।

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धय:।।२२१।।

तात्पर्य यह है कि हम अपने सुख-दु:ख के कारण पर में न खोजकर स्वयं में ही खोजें; स्वयं को ही जानें-मानें और स्वयं में ही समा जायें - यही मार्ग है।

अब गाथा और टीका के भाव के पोषक तथा आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप दो कलश काव्य लिखते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में।
उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है।।
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्ता।
यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ।।२२०।।
अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी।।
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।
अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे।।२२१।।

इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है; उसमें मूल अपराधी तो अज्ञान ही है। इसप्रकार विदित होने पर जब अज्ञान अस्त हो जाये, तब फिर तो मैं ज्ञान ही हूँ।

जो लोग राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही मूलकारण मानते हैं अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से ही राग उत्पन्न होता है – ऐसा मानते हैं; शुद्धज्ञान से रहित वे अंधबुद्धि लोग मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि राग-द्वेषरूप विकारी भावों की उत्पत्ति में परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है; परद्रव्य इस आत्मा को बलात् राग-द्वेषरूप नहीं परिणमाते; अपितु यह आत्मा ही स्वयं अपने अज्ञानभाव के कारण राग-द्वेषरूप परिणमित होता है तथा जब यह आत्मा स्वयं अपने अज्ञान के कारण राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; तब परद्रव्य उसमें सहजभाव से निमित्तमात्र होते हैं। परद्रव्यों की निमित्तता देखकर उन्हें ही राग-द्वेष का कर्ता मान लेना स्वयं अज्ञानभाव है और यह अज्ञानभाव ही मुख्यत: बंधन का कारण है।

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूय रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो।।३७३।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो।।३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं।।३७५।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं।।३७८।।

जो बात विगत कलशों में कही गई है; अब उसी की पुष्टि गाथाओं द्वारा करते हैं, गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

स्तवन निन्दा रूप परिणत पुद्गलों को श्रवण कर।
मुझको कहे यह मान तोष-रु-रोष अज्ञानी करें।।३७३।।
शब्दत्व में परिणमित पुद्गल द्रव्य का गुण अन्य है।
इसलिए तुम से ना कहा तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों?।।३७४।।
शुभ या अशभ ये शब्द तुझसे ना कहें कि हमें सुन।

अर आतमा भी कर्णगत शब्दों के पीछे ना भगे ।।३७५।।
शुभ या अशुभ यह रूप तुझसे ना कहे कि हमें लख।
यह आतमा भी चक्षुगत वर्णों के पीछे ना भगे ।।३७६।।
शुभ या अशुभ यह गंध तुम सूँघो मुझे यह ना कहे।
यह आतमा भी घ्राणगत गंधों के पीछे ना भगे ।।३७७।।
शुभ या अशुभ यह सरस रस यह ना कहे कि हमें चख।
यह आतमा भी जीभगत स्वादों के पीछे ना भगे ।।३७८।।

असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं।।३७९।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं।।३८१।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः।।३७३।।
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः।।३७४।।
अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम्।।३७५।।
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम्।।३७६।।
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गन्धम्।।३७७।।
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम्।।३७८।।
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं स्पर्शम्।।३७९।।

शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे ना कहें कि हमें छू।
यह आतमा भी कायगत स्पर्शों के पीछे ना भगे ।।३७९।।
शुभ या अशुभ गुण ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत सुगुणों के पीछे ना भगे ।।३८०।।
शुभ या अशुभ द्रव्य ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत द्रव्यों के पीछे ना भगे ।।३८१।।
यह जानकर भी मूढ़जन ना ग्रहें उपशमभाव को।
मंगलमती को ना ग्रहें पर के ग्रहण का मन करें ।।३८२।।

अशुभः शुभोवा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम् ।।३८०।।
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम् ।।३८१।।
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ।।३८२।।

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने

पौद्गलिक भाषावर्गणायें बहुत प्रकार से निन्दारूप और स्तुतिरूप वचनों में परिणमित होती हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव 'ये वचन मुझसे कहे गये हैं' – ऐसा मानकर रुष्ट (नाराज) होते हैं और तुष्ट (प्रसन्न) होते हैं।

शब्दरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य और उसके गुण यदि तुझसे भिन्न हैं तो हे अज्ञानी जीव ! तुझसे तो कुछ भी नहीं कहा गया, फिर भी तू रोष क्यों करता है ?

शुभ या अशुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें सुन और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर कर्ण इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्दों को ग्रहण करने (जानने) को नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रूप यह नहीं कहता कि मुझे देख और आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ और अशुभ गंध भी तुझसे यह नहीं कहती कि तू मुझे सूँघ और आत्मा भी घ्राण इन्द्रिय के विषय में आयी हुई गंध को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रस तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें चखो और आत्मा भी रसना इन्द्रिय के विषय में आये हुए रसों को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें स्पर्श करो और आत्मा भी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आये हुए स्पर्शों को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ गुण तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए गुणों को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ या अशुभ द्रव्य तुझसे यह नहीं

कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्यों को ग्रहण करने नहीं जाता।

ऐसा जानकर भी यह मूढ़ जीव उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता और कल्याणकारी बुद्धि को – सम्यग्ज्ञान को प्राप्त न होता हुआ स्वयं परपदार्थों को ग्रहण करने का मन करता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''आचार्य अमृतचन्द्र पहले द्रष्टान्त पर घटित करके वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं –

जिसप्रकार इस जगत में देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है; उसप्रकार घट–पटादि बाह्य पदार्थ दीपक को स्वप्रकाशन (बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने के कार्य) में नहीं लगाते अर्थात् ऐसा नहीं कहते कि तू हमें प्रकाशित कर

न प्रदीपं प्रयोजयति, न च प्रदीपोप्यय:कांतोपलकृष्टा: सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितु–मायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तद–सन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते।

स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयो–ऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते।

तथा बहिरर्था: शब्दो, रूपं, गंधो, रस:, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पृश, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयंति, न चात्माप्यय:कांतोपलकृष्टादय:सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते।

स्वरूपेणैव जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंत: कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन्। एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थिति:, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम्।।३७३–३८२।।

और दीपक भी चुम्बक से खींची गई लोहे की सुई के समान अपने स्थान से च्युत होकर घट–पटादि बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु न तो वस्तुस्वभाव दूसरों से उत्पन्न किया जा सकता है और न दूसरों को उत्पन्न ही कर सकता है; इसलिए जिसप्रकार दीपक बाह्य पदार्थों के समीप न होने पर भी उन्हें अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है; उसीप्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी उन्हें अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है।

इसीप्रकार वस्तुस्वभाव से ही विभिन्न परिणति को प्राप्त होते हुए मनोहर और अमनोहर घट–पटादि बाह्यपदार्थों को अपने स्वरूप से प्रकाशित करते हुए दीपक में वे बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं –

जिसप्रकार देवदत्त यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है; उसप्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्यरूप बाह्य पदार्थ आत्मा को स्वज्ञान

में (बाह्यपदार्थों को जानने के कार्य में) नहीं लगाते अर्थात् बाह्यपदार्थ आत्मा से ऐसा नहीं कहते कि तू हमें सुन, देख, सूँघ, चख, छू और जान और आत्मा भी चुम्बक से खींची गई लोहे की सुई के समान अपने स्थान से च्युत होकर उन बाह्य पदार्थों को जानने नहीं जाता; परन्तु न तो वस्तुस्वभाव दूसरों से उत्पन्न किया जा सकता है और न दूसरों को उत्पन्न ही कर सकता है; इसलिए जिसप्रकार आत्मा बाह्यपदार्थों के समीप न होने पर भी उन्हें अपने स्वरूप से ही जानता है; उसीप्रकार बाह्यपदार्थों की समीपता में भी उन्हें अपने स्वरूप से ही जानता है।

इसप्रकार वस्तुस्वभाव से ही विभिन्न परिणति को प्राप्त होते हुए मनोहर और अमनोहर घट-पटादि बाह्यपदार्थों को अपने स्वरूप से ही जानते हुए आत्मा में वे बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इसप्रकार दीपक की भाँति आत्मा भी पर के प्रति उदासीन ही है। यद्यपि ऐसी वस्तुस्थिति सदा ही रहती है; तथापि जो राग-द्वेष होता है, वह अज्ञान ही है, अज्ञान का ही फल है।''

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवंति सहजां मुंचन्त्युदासीनताम्।।२२२।।

गाथाओं और उनकी टीका में दो बातों पर सतर्क सोदाहरण प्रकाश डाला गया है; जो इसप्रकार है –

१. न तो बाह्य ज्ञेयपदार्थ आत्मा से यह कहते हैं कि तुम हमें जानो।

२. और न आत्मा भी उन्हें जानने के लिए उनके पास जाता है; वह तो समीपवर्ती और दूरवर्ती पदार्थों को अपने स्वभाव से ही सहजभाव से जानता है।

इसप्रकार यह आत्मा और परद्रव्यों के बीच होनेवाला एक सहज ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; इसमें परस्पर किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि न तो परपदार्थ आत्मा को विकार कराते हैं और न आत्मा ही उनमें कुछ फेरफार करता है। पर को जानना विकार का कारण नहीं है और उनका ज्ञान में जानने में आना पराधीनता नहीं है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जब ज्ञेयपदार्थ स्वयं को जानने के लिए आत्मा को बाध्य नहीं करते और आत्मा भी उन्हें जानने के लिए उनके पास नहीं जाता; सहजभाव से ही ज्ञेयपदार्थ जानने में आ जाते हैं, आते रहते हैं।

ऐसी स्थिति होने पर भी न जाने क्यों कुछ अज्ञानीजन उन्हें जानने के लिए आकुलित होते रहते हैं और कुछ लोग ज्ञेयों को जान लेने मात्र से अपराधबोध से ग्रस्त हो जाते हैं – यह बड़े आश्चर्य की बात है; क्योंकि परज्ञेयों को जानने और नहीं जानने – इन दोनों स्थितियों के प्रति सहजभाव धारण करना ही मार्ग है।

अब आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका

पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित।
वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत ना हो।।
फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं।
ना जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं।।२२२।।

जिसप्रकार दीपक दीपक से प्रकाशित होनेवाले पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार शुद्धबोध है महिमा जिसकी ऐसा यह पूर्ण, एक और अच्युत आत्मा ज्ञेयपदार्थों से किंचित्मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति होने पर भी जिनकी बुद्धि इसप्रकार की वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है – ऐसे अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता छोड़कर राग–द्वेषमय होते हैं – यह बड़े खेद की बात है, आश्चर्य की बात है।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरा–रूढ–चरित्र–वैभव–बला–च्चंचच्चि–दर्चिमयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम्।।२२३।।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।

आचार्यदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ऐसा क्यों होता है ! तात्पर्य यह है कि यद्यपि ऐसा होना नहीं चाहिए; तथापि ऐसा होता है – यह तथ्य है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में रंचमात्र भी विकार नहीं होता। पर के जानने को विकार का कारण मानना अज्ञान है। जिन लोगों की ऐसी मान्यता है कि पर को जानना विकार का कारण है और इसीकारण वे पर को जानने का निषेध भी करते हैं; उन्हें उक्त प्रकरण पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

राग–द्वेष से रहित भूत–भावी कर्मों से।
मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं।।
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता।
को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं।।२२३।।

राग–द्वेषरूपी विभाव से मुक्त तेजवाले, निज चैतन्यचमत्कारी स्वभाव का नित्य स्पर्श करनेवाले, भूत और भावी कर्मों से रहित और वर्तमान कर्मोदय से भिन्न सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजन अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से अपने रस से सम्पूर्ण जगत को सींचा है अर्थात् सम्पूर्ण जगत को जाना है जिसने – ऐसी चैतन्यज्योतिमयी चमकती ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं।

इसप्रकार आगामी गाथाओं के भाव की सूचना देनेवाले इस कलश में यही कहा गया है कि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना के माध्यम से भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन कर्मों से रहित एवं अपने स्वभाव का नित्य स्पर्श करनेवाले ज्ञानीजन चारित्र के बल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित होकर केवलज्ञानमयी साक्षात् ज्ञानचेतना को प्राप्त होते हैं।

जो बात विगत कलश में कही गई है; उसी बात को अब गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शुभ–अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किये गतकाल में।
उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है।।३८३।।

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा।।३८५।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा।।३८६।।

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्।।३८३।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता।।३८४।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम्।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता।।३८५।।
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता।।३८६।।

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वं

बँधेंगे जिस भाव से शुभ–अशुभ कर्म भविष्य में।
उससे निवर्तन जो करे वह जीव प्रत्याख्यान है।।३८४।।
शुभ–अशुभ भाव अनेकविध हो रहे सम्प्रति काल में।
इस दोष का ज्ञाता रहे वह जीव है आलोचना।।३८५।।
जो करें नित प्रतिक्रमण एवं करें नित आलोचना।
जो करें प्रत्याख्यान नित चारित्र हैं वे आतमा।।३८६।।

जो पूर्वकाल में किये गये अनेकप्रकार के ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्मों से स्वयं के आत्मा

को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

जिस भाव से भविष्यकालीन शुभाशुभकर्म बँधता है, उस भाव से निवृत्त होनेवाला आत्मा प्रत्याख्यान है।

वर्तमानकालीन उदयागत अनेकप्रकार के विस्तारवाले शुभाशुभकर्मों के दोष को चेतनेवाला–छोड़नेवाला आत्मा आलोचना है।

जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है; वह आत्मा वस्तुतः चारित्र है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक से हुए भावों से स्वयं को छुड़ाता है, दूर रखता है; वह ~~आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है, वही~~

कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति।

एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्म–कारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः।

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः।।२२४।।

आत्मा उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों का प्रत्याख्यान करता हुआ स्वयं ही प्रत्याख्यान है और वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाक को अपने से भिन्न अनुभव करता हुआ आलोचना है।

इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ पूर्वकर्मों के कार्यरूप और उत्तरकर्मों के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ और वर्तमान कर्मविपाक को अपने से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता हुआ अपने में ही, अपने ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर चरने से, लीन रहने से चारित्र है।

इसप्रकार चारित्रस्वरूप होता हुआ आत्मा स्वयं को ज्ञानमात्र चेतनारूप अनुभव करता है; इसलिए स्वयं ही ज्ञानचेतना है – ऐसा आशय है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना तो भूत, भविष्य और वर्तमान – तीनों काल संबंधी शुभाशुभभावों से निवृत्त होकर, अपने ज्ञानस्वभाव में वर्तना, रमना, स्थिर होना ही है और यही निश्चय चारित्र है, जो सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक होता है। अतः एकमात्र करने योग्य कार्य तो आत्मज्ञानपूर्वक आत्मरमणता ही है।

अब आगामी गाथाओं के भाव को बतानेवाला कलशकाव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद

इसप्रकार है –

(रोला)

ज्ञान–चेतना शुद्ध ज्ञान को करे प्रकाशित।
शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञान–चेतना।।
और बंध की कर्ता यह अज्ञान–चेतना।
यही जान चेतो आतम नित ज्ञान–चेतना।।२२४।।

यह ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञान की निरन्तर संचेतना से अत्यन्त शुद्धरूप में प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से बंध दौड़ता हुआ आकर ज्ञानस्वभावी आत्मा की शुद्धता को रोक लेता है।

तात्पर्य यह है कि यदि बंध को रोकना है और शुद्धज्ञान को प्रकाशित करना है तो ज्ञान की संचेतना को निरन्तरता प्रदान करो। यही एक मार्ग है।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।

वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८९।।

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८७।।
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८८।।
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८९।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ज्ञानचेतना मोक्षमार्ग है और कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना संसार का मार्ग है।

इसलिए हमें कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना से मुक्त होकर ज्ञानचेतनारूप ही निरन्तर प्रवर्तना चाहिए।

जो बात विगत कलशों में कही गई है; अब उसी बात को गाथाओं में कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो कर्मफल को वेदते निजरूप मानें करमफल।

हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम
क ा ` । । ३ ८ ७ । ।
जो कर्मफल को वेदते मानें करमफल मैं किया।
हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम को।।३८८।।
जो कर्मफल को वेदते हों सुखी अथवा दु:खी हों।
हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम को।।३८९।।

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ कर्म के फल को निजरूप करता है अर्थात् उसमें एकत्वबुद्धि करता है; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ ऐसा जानता-मानता है कि मैंने कर्मफल किया; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

कर्म के फल का वेदन करता हुआ जो आत्मा सुखी-दु:खी होता है; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा – कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना।

सा तु समस्तापि संसारबीजं; संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या।

तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति –

ये तीनों गाथायें लगभग समान ही हैं। शेष बातें समान होने पर भी अन्तर मात्र इतना ही है कि पहली गाथा में वेदन में आते हुए कर्मफल में एकत्व-ममत्व की बात है, दूसरी गाथा में कर्तृत्व की बात है और तीसरी गाथा में भोक्तृत्व की बात है।

तीनों गाथाओं का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वेदन में आते हुए कर्मफल में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व धारण करनेवाला आत्मा पुन:-पुन: कर्मबंधन को प्राप्त होता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ज्ञानस्वभावी अपने आत्मा से भिन्न भावों में इसप्रकार चेतना – सोचना, जानना-मानना कि 'ये मैं हूँ' अज्ञानचेतना है। यह अज्ञानचेतना दो प्रकार की होती है – कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।

इनमें ज्ञान (आत्मा) से अन्य भावों में ऐसा जानना-मानना कि 'मैं इनका कर्ता हूँ' – कर्मचेतना है और ऐसा मानना कि 'मैं इनका भोक्ता हूँ' – कर्मफलचेतना है।

यह समस्त अज्ञानचेतना संसार की बीज है; क्योंकि संसार के बीजरूप जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, यह अज्ञानचेतना उनका बीज है। इसलिए मोक्षार्थी पुरुष को इस अज्ञानचेतना के प्रलय के लिए, जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए सम्पूर्ण कर्मों से संन्यास की भावना को और

सम्पूर्ण कर्मफल से संन्यास की भावना को नचाकर, बारम्बार भाकर; स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना को ही सदा नचाना चाहिए, भाना चाहिए।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना – ये दोनों अज्ञानचेतनारूप होने से हेय हैं और ज्ञानचेतना परम उपादेय है।

विगत गाथाओं और उनकी आत्मख्याति टीका में भगवती ज्ञानचेतना को नित्य नचाने की प्रेरणा दी गई है। उक्त प्रेरणा को स्वयं ही अपनाकर अब यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र पद्य और गद्य के माध्यम से ज्ञानचेतना का नृत्य प्रस्तुत करते हैं; जिसमें वे भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन कर्मचेतना संबंधी भूलों को प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प और प्रत्याख्यानकल्प के माध्यम से मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करने की बारम्बार भावना भाते हैं और १४८ कर्म प्रकृतियों के फल के त्यागरूप कर्मफलचेतना संबंधी भूलों के त्याग की भावना भाते हैं।

सर्वप्रथम वे तीनों कल्पों की प्रस्तावना एक आर्या छन्द द्वारा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(आर्या)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे।।२२५।।

(रोला)

भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत।
कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से।।
सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से।
अवलम्बन लेता हूँ मैं निष्कर्मभाव का।।२२५।।

त्रिकाल के समस्त कर्मों का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करके अब मैं परमनैष्कर्म्यभाव का अवलम्बन लेता हूँ।

इस कलश की भूमिका को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उत्थानिका में लिखते हैं कि सबसे पहले सम्पूर्ण कर्मों से संन्यास लेने की भावना को नचाते हैं।

इसतरह यह कलश प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प और प्रत्याख्यानकल्प – इन तीनों कल्पों का प्रस्तावनारूप कलश है।

भूतकाल में किये गये दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त प्रतिक्रमणकल्प में और वर्तमान में हो रहे दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त आलोचनाकल्प में किया जाता है तथा प्रत्याख्यानकल्प में भविष्यकाल में संभावित दुष्कृत्यों से बचने की भावना भायी जाती है, उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

इन तीनों कालों के दुष्कृत्यों के त्याग की भावना मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक की जाती है।

स्वयं करना कृत कहलाता है, दूसरों से कराना कारित कहलाता है और न तो स्वयं करना और न दूसरों से कराना; किन्तु दूसरों के द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा करना अनुमोदना कहलाती है।

इन सबको परस्पर में संयुक्त करने से, गुणनफल निकालने से कुल मिलाकर प्रतिक्रमणकल्प के ४९, आलोचनाकल्प के ४९ और प्रत्याख्यानकल्प के ४९ – इसप्रकार कुल मिलाकर १४७ भंग बन जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में मन–वचन–काय और कृत–कारित–अनुमोदना से त्रिकाल में किये गये समस्त शुभाशुभभावों का त्याग करके परमनैष्कर्म्य भाव में स्थित होने की कामना की गई है।

इसप्रकार प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के इन ४९–४९ भंगों को याद रखना यद्यपि सरल नहीं है; तथापि इन्हें निम्न सूत्र के माध्यम से आसानी से याद रखा जा सकता है।

एक त्रिसंयोगी, तीन द्विसंयोगी और तीन असंयोगी – इसप्रकार मन–वचन–काय के अधिक से अधिक ७ भंग बनते हैं, जो इसप्रकार हैं – १. मन–वचन–काय २. मन–वचन ३. मन–काय ४. वचन–काय ५. मन ६. वचन ७. काय।

इसीप्रकार कृत–कारित–अनुमोदना के भी अधिक से अधिक ७ भंग बनते हैं, जो इसप्रकार हैं –

१. कृत–कारित–अनुमोदना २. कृत–कारित ३. कृत–अनुमोदना ४. कारित–अनुमोदना ५. कृत ६. कारित ७. अनुमोदना।

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं,

मन–वचन–काय आदि ७ भंगों में से प्रत्येक को कृत–कारित–अनुमोदनादि ७ भंगों पर घटित करने पर ४९ भंग हो जायेंगे। जैसे –

१. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

२. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह मिथ्या हो।

३. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

४. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

५. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया; वह मिथ्या हो।

६. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत कराया; वह मिथ्या हो।

७. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

जिसप्रकार मन–वचन–काय के ये ७ भंग बनते हैं; उसीप्रकार मन–वचन, मन–काय, वचन–काय तथा मन, वचन और काय – इनमें से प्रत्येक के सात–सात भंग बनेंगे; इसप्रकार ४९ भंग बन जायेंगे। ये ४९ भंग प्रतिक्रमण के हैं, इसीप्रकार ४९ भंग आलोचना के एवं ४९ भंग प्रत्याख्यान के बन जायेंगे।

इसप्रकार इन १४७ भंगों का पृथक्–पृथक् उल्लेख करते हुए इनके त्याग की भावना

बारम्बार भाना, दुहराना, नचाना ही कर्मचेतना के त्यागरूप ज्ञानचेतना का नृत्य है और १४८ कर्मप्रकृतियों के फल के त्याग की भावना भाना, बारम्बार दुहराना ही कर्मफल के त्यागरूप ज्ञानचेतना का नृत्य है।

प्रश्न – प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प एवं प्रत्याख्यानकल्प के ४९–४९ भंग कौन–कौन से हैं ?

उत्तर – आत्मख्याति टीका में इस कलश के उपरान्त ४९–४९ भंगों को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है –

१. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२. मैंने पूर्व में मन–वचन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

~~३. मैंने पूर्व में मन–काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत~~ मिथ्या हो।

वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।७।

यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।८। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।९। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१०। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।११। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१२। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१४।

यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१५। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१६।

४. मैंने पूर्व में वचन–काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

५. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

६. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

७. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

८. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया, कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

९. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१०. मैंने पूर्व में मन–वचन–काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

११. मैंने पूर्व में मन–वचन से जो दुष्कृत किया, कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१२. मैंने पूर्व में मन–वचन से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१३. मैंने पूर्व में मन–वचन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१४. मैंने पूर्व में मन–काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१५. मैंने पूर्व में मन–काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१६. मैंने पूर्व में मन–काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१७। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१८। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१९। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२०।

यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२१। यदहम–चीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२३। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२४। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२६। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२७। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२८।

यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२९। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३०। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३१। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे

१७. मैंने पूर्व में वचन–काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१८. मैंने पूर्व में वचन–काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

१९. मैंने पूर्व में वचन–काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत

मिथ्या हो।

२०. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२१. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२२. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२३. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२४. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२५. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२६. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२७. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२८. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

२९. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३०. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३१. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो। दुष्कृतमिति।३२। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३३। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३४। यदहमकार्षं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३५।

यदहमचीकरं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३६। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३७। यदहमकार्षं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३८। यदहमचीकरं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३९। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४०। यदहमकार्षं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४१। यदहमचीकरं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४२।

यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४३। यदहमकार्षं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४४। यदहमचीकरं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४५। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४६। यदहमकार्षं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४७। यदहमचीकरं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४८। यत्कुर्वंत-मप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४९।

३२. मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३३. मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत्य मिथ्या हो।

३४. मैंने पूर्व में मन-वचन से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३५. मैंने पूर्व में मन-काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३६. मैंने पूर्व में मन-काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३७. मैंने पूर्व में मन-काय से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३८. मैंने पूर्व में वचन-काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

३९. मैंने पूर्व में वचन-काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४०. मैंने पूर्व में वचन-काय से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४१. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४२. मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४३. मैंने पूर्व में मन से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४४. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४५. मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४६. मैंने पूर्व में वचन से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४७. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४८. मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

४९. मैंने पूर्व में काय से जिस दुष्कृत का अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२६।।

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।५। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा

प्रतिक्रमणकल्प के ४९ भंगों के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में उनके उपसंहाररूप एक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो।
उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।२२६।।

मोह (अज्ञान) से किये गये भूतकालीन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

इसप्रकार प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ।

इसप्रकार प्रतिक्रमणकल्प को प्रस्तुत करने के उपरान्त आत्मख्याति में आलोचनाकल्प के ४९ भंग प्रस्तुत किये हैं; जो इसप्रकार हैं –

१. मैं वर्तमान में मन–वचन–काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२. मैं वर्तमान में मन–वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

३. मैं वर्तमान में मन–काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

४. मैं वर्तमान में वचन–काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

~~**५. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ, न कसता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन**~~ **करता हूँ।**

६. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

चेति।६। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।७।

न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१३। न करोमि, न कारयामि, मनसा च कायेन चेति।१४।

न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करोमि, न कारयामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।१९। न करोमि, न कारयामि,

७. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

८. मैं वर्तमान में मन–वचन–काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

९. मैं वर्तमान में मन–वचन–काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१०. मैं वर्तमान में मन–वचन–काय से कर्म न तो कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

११. मैं वर्तमान में मन–वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

१२. मैं वर्तमान में मन–वचन से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१३. मैं वर्तमान में मन–वचन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१४. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

१५. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१६. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१७. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

१८. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१९. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो कराता हूँ और अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

मनसा चेति।२०। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२१।

न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२२। न करोमि, न कारयामि, वाचा चेति।२३। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२४। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२५। न करोमि, न कारयामि, कायेन चेति।२६। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२७। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२८।

न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न करोमि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति।३५।

न कारयामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन

२०. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

२१. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२२. मैं वर्तमान में मन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२३. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

२४. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२५. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२६. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

२७. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२८. मैं वर्तमान में काय से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२९. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३०. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

३१. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

३२. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म नहीं करता हूँ।

~~३३. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म नहीं कराता हूँ।~~

३४. मैं वर्तमान में मन-वचन से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

३५. मैं वर्तमान में मन-काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३६. मैं वर्तमान में मन-काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

३७. मैं वर्तमान में मन-काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

चेति।३७। न करोमि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करोमि मनसा चेति।४१। न कारयामि मनसा चेति।४२।

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति।४३। न करोमि वाचा चेति।४४। न कारयामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति।४६। न करोमि कायेन चेति।४७। न कारयामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति।४९।

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः।

३८. मैं वर्तमान में वचन-काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३९. मैं वर्तमान में वचन-काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

४०. मैं वर्तमान में वचन-काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४१. मैं वर्तमान में मन से कर्म नहीं करता हूँ।

४२. मैं वर्तमान में मन से कर्म नहीं कराता हूँ।

४३. मैं वर्तमान में मन से अन्य के करते हुए का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४४. मैं वर्तमान में वचन से कर्म नहीं करता हूँ।

४५. मैं वर्तमान में वचन से कर्म नहीं कराता हूँ।

४६. मैं वर्तमान में वचन से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४७. मैं वर्तमान में काय से कर्म नहीं करता हूँ।

४८. मैं वर्तमान में काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

४९. मैं वर्तमान में काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प के ४९ भंग लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इनके उपसंहाररूप एक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
~~उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो।।~~
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।२२७।।

मोह के विलास से फैले हुए इन उदयमान कर्मों की आलोचना करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही वर्त रहा हूँ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।७।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं

इसप्रकार इन २२६ और २२७ वें छन्द में क्रमशः प्रतिक्रमण और आलोचनापूर्वक निष्कर्म आत्मा में वर्तने की बात कही गई है।

यहाँ श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक निज में स्थिर होने का नाम ही वर्तना है।

प्रतिक्रमणकल्प और आलोचनाकल्प के ४९-४९ भंगों के उपरान्त अब प्रत्याख्यानकल्प के ४९ भंग प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

१. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का

अनुमोदन करूँगा।

३. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

४. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

५. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

६. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

७. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

८. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

९. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।१३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च कायेन चेति।१४।

न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१९। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा चेति।२०। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।२१।

न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२२। न करिष्यामि, न कारयि-

१०. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

११. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१२. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१३. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन

करूँगा।

१४. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१५. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१६. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१७. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१८. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१९. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

---

२०. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२१. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२२. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

ष्यामि, वाचा चेति।२३। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२४। न कारयिष्यामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, कायेन चेति।२६। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२७। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२८।

न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३५।

न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३७। न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करिष्यामि मनसा चेति।४१। न कारयिष्यामि मनसा चेति।४२।

२३. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२४. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२५. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२६. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२७. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२८. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२९. मैं भविष्य में मन–वचन–काय से कर्म नहीं करूँगा।

३०. मैं भविष्य में मन–वचन–काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

३१. मैं भविष्य में मन–वचन–काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

३२. मैं भविष्य में मन–वचन से कर्म नहीं करूँगा।

३३. मैं भविष्य में मन–वचन से कर्म नहीं कराऊँगा।

३४. मैं भविष्य में मन–वचन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

३५. मैं भविष्य में मन–काय से कर्म नहीं करूँगा।

३६. मैं भविष्य में मन–काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

३७. मैं भविष्य में मन–काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

~~३८. मैं भविष्य में वचन–काय से कर्म नहीं करूँगा।~~

३९. मैं भविष्य में वचन–काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

४०. मैं भविष्य में वचन–काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४१. मैं भविष्य में मन से कर्म नहीं करूँगा।

४२. मैं भविष्य में मन से कर्म नहीं कराऊँगा।

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति।४३। न करिष्यामि वाचा चेति।४४। न कारयिष्यामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति।४६। न करिष्यामि कायेन चेति।४७। न कारयिष्यामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति।४९।

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे।।२२९।।

४३. मैं भविष्य में मन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४४. मैं भविष्य में वचन से कर्म नहीं करूँगा।

४५. मैं भविष्य में वचन से कर्म नहीं कराऊँगा।

४६. मैं भविष्य में वचन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४७. मैं भविष्य में काय से कर्म नहीं करूँगा।

४८. मैं भविष्य में काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

४९. मैं भविष्य में काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

इन ४९ भंगों के उपसंहाररूप में जो कलश लिखा गया है, उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।२२८।।

जिसका मोह नष्ट हो गया है – ऐसा मैं अब भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

इसप्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

कर्मचेतना से संन्यास की चर्चा १४७ भंगों और तीन कलशों के द्वारा विस्तार से करने के उपरान्त अब आत्मख्याति में उक्त सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहाररूप एक कलश लिखा गया है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह।
परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर।।
निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।२२९।।

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति –

(आर्या)

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्।।२३०।।

जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है – ऐसा शुद्धनयावलंबी अब मैं इसप्रकार से तीनों कालसंबंधी समस्त कर्मों को दूर करके सर्वविकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ।

उक्त सम्पूर्ण कथन के मंथन करने पर एक बात स्पष्ट होती है कि यहाँ दुष्कृत शब्द का अर्थ पापक्रिया और पापभाव मात्र नहीं है; अपितु सम्पूर्ण प्रकार की शुभाशुभ क्रियायें और शुभाशुभभाव हैं; क्योंकि यहाँ निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय आलोचना और निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

यद्यपि व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार आलोचना और व्यवहार प्रत्याख्यान में अशुभ क्रिया और अशुभभावों का निषेध कर शुभक्रिया और शुभभाव करने की बात भी आती है; तथापि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि तीनों कालों संबंधी समस्त शुभाशुभ क्रियाओं और समस्त शुभाशुभभावों के अभावपूर्वक शुद्धोपयोगरूपदशा होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है, वास्तविक आलोचना है और वास्तविक प्रत्याख्यान है।

यदि आप ध्यान से देखेंगे तो यहाँ एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से दिखाई देगी कि उक्त पाँचों कलशों की अन्तिम पंक्ति में निष्कर्म स्थिति के अवलम्बन की बात कही गई है, चैतन्य आत्मा में

नित्य वर्तने की बात कही गई है।

इसप्रकार कर्मचेतना के त्यागपूर्वक होनेवाले ज्ञानचेतना के नृत्य की चर्चा के उपरान्त अब कर्मफल के त्यागरूप ज्ञानचेतना के नृत्य के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सबसे पहले एक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही।
खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं।।
क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।२३०।।

मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलता से संचेतन करता हूँ, अनुभव करता हूँ; इससे मेरे कर्मरूपी विषवृक्ष के समस्त फल बिना भोगे ही खिर जायें – मैं ऐसी भावना करता हूँ।

ग्रन्थ के आरंभ में ही कहा था कि हमारे जीवन में एक मोह ही नाचता है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का होना ही मोह का नृत्य है और इन दोनों का अभाव होकर ज्ञानचेतना का होना ही ज्ञान का नृत्य है।

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१। नाहं श्रुतज्ञानावरणी-यकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मा- नमेव संचेतये।४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५।

नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६। नाहमचक्षुर्दर्शना-वरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे,

कर्मचेतना से संन्यास की चर्चा में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से तीनों कालों के शुभाशुभभावों के कर्तृत्व के त्याग की बात कही थी और अब यहाँ कर्मफलचेतना के संन्यास की चर्चा में बिना किसी भेदभाव के आठों कर्मों की एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों के – जिसमें तीर्थंकर नामकर्म जैसी पुण्यप्रकृतियाँ भी शामिल हैं – फल के भोक्तृत्व की भावना के त्याग की बात कही जा रही है।

इस कलश के तत्काल बाद आचार्यदेव उन १४८ प्रकृतियों के फल के भोक्तृत्व से संन्यास की बात स्वयं पृथक्-पृथक् रूप से कर रहे हैं कि जिससे कोई भ्रम न रह जाये।

ध्यान रहे, यहाँ तीर्थंकर नामकर्म के फल के अभोक्तृत्व की भावना मिथ्यात्व के अभोक्तृत्व की भावना के समान ही, दोनों में किसी भी प्रकार का अन्तर डाले बिना भा रहे हैं।

कर्मफल त्याग की भावना के १४८ प्रकार इसप्रकार हैं –

१. मैं मतिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२. मैं श्रुतज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३. मैं अवधिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४. मैं मन:पर्ययज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

~~५. मैं केवलज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा~~ का ही संचेतन करता हूँ।

६. मैं चक्षुर्दर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७. मैं अचक्षुर्दर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८। नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मान-मेव संचेतये।९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११। नाहं प्रचलादर्शना-वरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२। नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्म-फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३। नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४।

नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१५। नाहमसातावेदनीयकर्म-फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१६।

नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१७। नाहं मिथ्यात्व-मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१८। नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्म-

८. मैं अवधिदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९. मैं केवलदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०. मैं निद्रादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११. मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२. मैं प्रचलादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३. मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४. मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१५. मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१६. मैं असातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१७. मैं सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१८. मैं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१९। नाहमनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म-फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२०। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२१। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२२। नाहं संज्वलनक्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२३। नाहमनंतानुबंधिमानकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२४। नाहमप्रत्याख्यानावरणीय-मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२५। नाहं प्रत्याख्याना-वरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२६। नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२७। नाहमनंतानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२९।

१९. मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२०. मैं अनन्तानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२१. मैं अप्रत्याख्यानावरणीक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२२. मैं प्रत्याख्यानावरणीक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२३. मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२४. मैं अनन्तानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२५. मैं अप्रत्याख्यानावरणीमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२६. मैं प्रत्याख्यानावरणीमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२७. मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२८. मैं अनन्तानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२९. मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३०। नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३१। नाहमनंतानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३२। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३३। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३४। नाहं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३५। नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३६। नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३७। नाहमरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३८। नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३९। नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४०।

३०. मैं प्रत्याख्यानावरणीमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३१. मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३२. मैं अनन्तानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३३. मैं अप्रत्याख्यानावरणीलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३४. मैं प्रत्याख्यानावरणीलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३५. मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३६. मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३७. मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३८. मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्य-स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३९. मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४०. मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४१। नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४२। नाहं पुंवेद-नोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४३। नाहं नपुंसकवेदनो-कषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४४।

नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४५। नाहं तिर्यगायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४६। नाहं मानुषायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४७। नाहं देवायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४८।

नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्म-फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५०। नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये।५१। नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५२।

४१. मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४२. मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४३. मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४४. मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४५. मैं नरक-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४६. मैं तिर्यंच-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४७. मैं मनुष्य-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४८. मैं देव-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४९. मैं नरकगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५०. मैं तिर्यंचगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५१. मैं मनुष्यगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५२. मैं देवगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५३। नाहं द्वींद्रियजाति-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५४। नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५५। नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मान-मेव संचेतये।५६। नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५७।

नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५८। नाहं वैक्रियिक-शरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५९। नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६०। नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६१। नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६२।

नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६३।

५३. मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५४. मैं द्वीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५५. मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५६. मैं चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५७. मैं पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५८. मैं औदारिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५९. मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६०. मैं आहारकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६१. मैं तैजसशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६२. मैं कार्मणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६३. मैं औदारिकशरीर–अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६४। नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६५।

नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६७। नाहमाहारकशरीरबंधननाकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६८। नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६९। नाहं कार्मणशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७०।

नाहमौदारिकशरीरसंघातनामककर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७१। नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७२। नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७३। नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७४। नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे,

६४. मैं वैक्रियिकशरीर–अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६५. मैं आहारकशरीर–अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६६. मैं औदारिकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६७. मैं वैक्रियिकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६८. मैं आहारकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६९. मैं तैजसशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७०. मैं कार्मणशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७१. मैं औदारिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

---

७२. मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७३. मैं आहारकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७४. मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७५।

नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७६। नाहं न्यग्रोध-परिमण्डलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७७। नाहं स्वातिसंस्थान-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७८। नाहं कुब्जसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७९। नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८०। नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८१।

नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८२। नाहं वज्र-नाराचसंहननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८३। नाहं नाराचसंहनन-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८४। नाहमर्धनाराचसंहननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।८५। नाहं कीलिकासंहननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमा-

७५. मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७६. मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७७. मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७८. मैं स्वातिसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा

का ही संचेतन करता हूँ।

७९. मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८०. मैं वामनसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८१. मैं हुंडकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८२. मैं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८३. मैं वज्रनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८४. मैं नाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८५. मैं अर्धनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

त्मानमेव संचेतये।८६। नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८७।

नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८८। नाहं रूक्षस्पर्शनाम-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८९। नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।९०। नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचे-तये।९१। नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९२। नाहं लघुस्पर्श-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९३। नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९४। नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९५।

नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९६। नाहमाम्लरसनामकर्म-

८६. मैं कीलिकसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८७. मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८८. मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८९. मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का

ही संचेतन करता हूँ।

९०. मैं शीतस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९१. मैं उष्णस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९२. मैं गुरुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९३. मैं लघुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९४. मैं मृदुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९५. मैं कर्कशस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९६. मैं मधुररस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९७। नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९८। नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९९। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१००।

नाहं सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०१। नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०२।

नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०४। नाहं पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०६। नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०७।

९७. मैं आम्लरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९८. मैं तिक्तरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९९. मैं कटुकरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१००. मैं कषायरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा

का ही संचेतन करता हूँ।

१०१. मैं सुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०२. मैं असुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०३. मैं शुक्लवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०४. मैं रक्तवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

~~१०५. मैं पीतवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का~~ ही संचेतन करता हूँ।

१०६. मैं हरितवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०७. मैं कृष्णवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१११।

नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११३। नाहमपुघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११८।

१०८. मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०९. मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११०. मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१११. मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११२. मैं निर्माण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११३. मैं अगुरुलघु नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११४. मैं उपघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११५. मैं परघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११६. मैं आतप नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११७. मैं उद्योत नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११८. मैं उच्छ्वास नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११९। नाहम-प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२०।

नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२१। नाहं प्रत्येक-शरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२५। नाहं दुर्भग-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।१२७। नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचे-तये।१२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२९। नाहमशुभनाम-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३०।

११९. मैं प्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२०. मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२१. मैं साधारणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२२. मैं प्रत्येकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२३. मैं स्थावर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२४. मैं त्रस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२५. मैं सुभग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२६. मैं दुर्भग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२७. मैं सुस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

~~१२८. मैं दुःस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का~~ ही संचेतन करता हूँ।

१२९. मैं शुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३०. मैं अशुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३१। नाहं बादरशरीर-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।१३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचे-तये।१३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३५। नाहमस्थिर-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।१३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचे-तये।१३८।

नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३९। नाहमयशः-कीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४०। नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४१।

१३१. मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३२. मैं बादरशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३३. मैं पर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३४. मैं अपर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का

ही संचेतन करता हूँ।

१३५. मैं स्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३६. मैं अस्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३७. मैं आदेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३८. मैं अनादेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३९. मैं यश:कीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४०. मैं अयश:कीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४१. मैं तीर्थंकर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४३।

नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४४। नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४५। नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४६। नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४७। नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४८।

१४२. मैं उच्चगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४३. मैं नीचगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४४. मैं दानांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४५. मैं लाभांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४६. मैं भोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४७. मैं उपभोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४८. मैं वीर्यान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

उक्त १४८ बोलों पर ध्यान देने पर एक बात स्पष्टरूप से नजर आती है कि प्रत्येक बोल के उत्तरार्ध में यह कहा गया है कि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ तथा पूर्वार्द्ध में क्रमशः १४८ कर्मप्रकृतियों के नाम देकर यह कहा गया है कि मैं इनके फल को नहीं भोगता हूँ।

मात्र कर्मप्रकृति के नाम परिवर्तन के साथ एक ही बात को १४८ बार दुहराया गया है। इसका एकमात्र हेतु कर्मफलचेतना के त्याग की एवं ज्ञानचेतना की भावना को बारम्बार नचाना ही है; क्योंकि साक्षात् मुक्ति का मार्ग इसप्रकार की भावना की प्रबलता ही है।

इसप्रकार यहाँ प्रत्येक कर्म का नाम लेकर स्वरूप स्पष्ट करते हुए, उसके फल के त्याग की भावना भायी गई है।

इसके बाद कर्मफलचेतना के त्याग की भावना के उपसंहाररूप में दो कलश काव्य दिये गये हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वसंततिलका)

निःशेष-कर्मफल-संन्यस-नान्ममैवं
सर्वक्रियांतर-विहार-निवृत्त-वृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता।।२३१।।

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपात-काल-रमणीय-मुदर्क-रम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः।।२३२।।

(रोला)

सब कर्मों के फल से संन्यासी होने से।
आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो।।
चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ।
यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित कालतक।।२३१।।

(वसंततिलका)

रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के।

अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते हैं।।
अर तृप्त हैं स्वयं में चिरकाल तक वे।
निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं।।२३२।।

इसप्रकार मैं पूर्वोक्त समस्त प्रकार के कर्मों के फल का संन्यास (त्याग) करके चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता हूँ और उससे भिन्न अन्य सर्व क्रियाओं के विहार से मेरी वृत्ति पूर्णत: निवृत्त है। इसप्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल – ऐसे मुझे यह काल की आवली जो कि प्रकटरूप से अनन्त है; वह आत्मतत्त्व के उपयोग में ही बहती रहे। उपयोग की प्रवृत्ति अन्य विषयों में कभी भी न जाये।

पहले अज्ञानभाव में उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष उनका स्वामी होकर नहीं भोगते और अपने में ही तृप्त हैं; वे पुरुष वर्तमान और भविष्य में रमणीय निष्कर्म सुखमय दशा को प्राप्त होते हैं।

पर में कुछ करने की वृत्ति कर्मचेतना है और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में अनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन ही कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही अज्ञानचेतना हैं तथा अपने आत्मा में अपनापन, उसे ही निज जानना और उसमें ही मग्न रहना ज्ञानचेतना है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना हेय हैं और ज्ञानचेतना उपादेय है; अत: धर्म है, मुक्ति का मार्ग है, मुक्तिस्वरूप है।

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनाया:।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंत: प्रशमरसमित: सर्वकालं पिबंतु।।२३३।।

अत: यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना भाकर अज्ञानचेतना को जड़मूल से उखाड़कर ज्ञानचेतना में मग्न रहने की चर्चा करने के उपरान्त इस सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहार के रूप में आत्मख्याति में एक कलश लिखा गया है।

ध्यान रहे, विगत दो कलश कर्मफलचेतना के उपसंहार के थे और प्रस्तुत कलश सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहार का कलश है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वसंततिलका)

रे कर्म कर्मफल से संन्यास लेकर।
सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ।।
प्याला पियो नित प्रशमरस का निरन्तर।
सुख में रहो अभी से चिरकाल तक तुम।।२३३।।

कर्म और कर्मफल से अत्यन्त विरक्तिभाव को भाकर, समस्त अज्ञानचेतना के नाश को

स्पष्टतया नचाकर और निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए अब से सदा काल प्रशमरस को पियो।

इस कलश में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना का अभाव कर आत्मा के अनुभवरूप ज्ञानचेतना की भावना सदा भाओ – यही मार्ग है। यह ही वास्तविक धर्म है, शेष सब क्रियाकाण्ड का धर्म से कोई नाता नहीं है। धर्म के नाम पर उसमें समय और शक्ति गँवाना अमूल्य नरभव की हार है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ?

वास्तविक धर्म भी यही है, यही करने योग्य एकमात्र कार्य है; इससे अतिरिक्त धर्म के नाम पर जो कुछ हो रहा है; वह धर्म नहीं है, कर्म ही है, कर्मबंध का ही कारण है, कर्मचेतना ही है, कर्मफलचेतना ही है, अज्ञानचेतना ही है; ज्ञानचेतना कदापि नहीं।

एकमात्र ज्ञानचेतना ही धर्म है, धर्म का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, साक्षात् मुक्ति ही है।

यह सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार है। इसमें अभीतक यह बताया जा रहा था कि सर्वविशुद्धज्ञान पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

उक्त विषय को स्पष्ट करनेवाली गाथाओं की उत्थानिका के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने एक कलश लिखा है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ।।२३४।।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।।३९३।।

(दोहा)

अपने में ही मगन है, अचल अनाकुल ज्ञान।
यद्यपि जाने ज्ञेय को, तदपि भिन्न ही जान।।२३४।।

अब यहाँ से आगे की गाथाओं में कहते हैं कि समस्त वस्तुओं से भिन्नत्व के निश्चय के

द्वारा यह ज्ञान पदार्थों के विस्तार के साथ गुँथित होने से उत्पन्न होनेवाली क्रिया से रहित एक ज्ञानक्रियामात्र अनाकुल और दैदीप्यमान निश्चल रहता है।

इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि ज्ञान ज्ञेयों के साथ गुँथित होने पर भी, ज्ञेयों को जानते रहने पर भी, ज्ञेयों का नहीं हो जाता, ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, ज्ञेयों से पृथक् ही रहता है।

अब इसी बात को विस्तार से आगामी गाथाओं में कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९०।।
शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९१।।
रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९२।।
वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९३।।

गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।।३९४।।

ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति।।३९५।।
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो य याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।।४००।।

गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९४।।
रस नहीं है ज्ञान क्योंकि रस भी कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रस अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९५।।
स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९६।।
कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९७।।
धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९८।।
अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९९।।
काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।४००।।

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवन्ति।।३९०।।
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना ब्रुवन्ति।।३९१।।
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति।।३९२।।
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति।।३९३।।

गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना ब्रुवन्ति।।३९४।।
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति।।३९५।।
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति।।३९६।।

आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।४०१।।
अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे।
इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।४०२।।
नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है।
है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना।।४०३।।
ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी।
सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान हैं – यह बुध कहें।।४०४।।

कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति।।३९७।।
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९८।।
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९९।।
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति।।४००।।
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित्।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति।।४०१।।
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत्।।४०२।।
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्।।४०३।।
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः।।४०४।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है; क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

वर्ण ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

गंध ज्ञान नहीं है; क्योंकि गंध कुछ जानती नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रस ज्ञान नहीं है; क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

स्पर्श ज्ञान नहीं है; क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः।

न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः।

न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः।

धर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अधर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

काल ज्ञान नहीं है; क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और काल अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

आकाश ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान अन्य है और

अध्यवसान अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

चूँकि जीव निरन्तर जानता है; इसलिए यह ज्ञायक जीव ज्ञानी है, ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है, अभिन्न है – ऐसा जानना चाहिए।

बुधजन (ज्ञानीजन) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) और दीक्षा मानते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''श्रुत (वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है; क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (भिन्नता) है। शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेकभिन्नता है। रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेकभिन्नता है। वर्ण ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेकभिन्नता है। गंध ज्ञान नहीं है; क्योंकि गंध अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गंध के व्यतिरेकभिन्नता है।

रस ज्ञान नहीं है; क्योंकि रस अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेकभिन्नता है। स्पर्श ज्ञान नहीं है; क्योंकि स्पर्श अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेकभिन्नता है। कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म के व्यतिरेकभिन्नता है। धर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेकभिन्नता है। अधर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक–

न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः।

इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं, चेतनत्वात्; ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः।

न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः। एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः।

अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञान–चारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्यन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञान–घनस्वभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम्।

भिन्नता है। काल ज्ञान नहीं है; क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेकभिन्नता है। आकाश ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेकभिन्नता है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अध्यवसान के व्यतिरेकभिन्नता है।

इसप्रकार ज्ञान का अन्य सब परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि निश्चय से विचार करें तो ज्ञान परद्रव्यों से भिन्न ही है।

अब यह निश्चित करते हैं कि जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभेद) है।

इस बात की रंचमात्र भी आशंका नहीं करना चाहिए कि ज्ञान और जीव में किंचित्मात्र भी व्यतिरेक होगा; क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। इसप्रकार ज्ञान और जीव के अभिन्न होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या है।

इसप्रकार ज्ञान का जीव की पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक (अभेद) निश्चयसाधित देखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जीवपर्यायों का जीव के साथ अभेद निश्चय से ही है।

इसप्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को दूर करते हुए; अनादि विभ्रम के कारण होनेवाले पुण्य-पाप एवं शुभ-अशुभरूप धर्म-अधर्मात्मक परसमय को दूर करके, स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप प्रव्रज्या को प्राप्त करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है - ऐसे त्याग-ग्रहण से रहित साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप एक शुद्धज्ञान को निश्चल देखना चाहिए अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से निश्चल अनुभव करना चाहिए।''

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्त-विभागमुक्त-सहजस्फार-प्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ।।२३५।।

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण पर दृष्टिपात करने पर एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से उभर कर सामने आती है कि इन गाथाओं में उन सभी परपदार्थों को ज्ञानस्वभावी आत्मा से भिन्न बताया गया है; जो हैं तो ज्ञेय; पर जिन्हें भ्रम से ज्ञान समझ लिया जाता है।

पिछली गाथाओं में शुभाशुभक्रियाओं और शुभाशुभभावों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध किया गया है और यहाँ इन गाथाओं में ज्ञेयपदार्थों से एकत्व-ममत्व का निषेध किया जा रहा है।

शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और अध्यवसान (मिथ्यात्व) - इन सभी में ज्ञानत्व (आत्मापन) का निषेध किया गया है।

ये सभी आत्मा के ज्ञेय हैं। इनसे आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के अलावा कोई संबंध नहीं है; फिर भी अज्ञानीजन इनमें अपनापन स्थापित कर लेते हैं; किन्तु ज्ञानीजन यह भलीभाँति जानते हैं कि इनसे आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है।

ये जो परपदार्थ जानने में आते हैं, सो इनको जानना भी आत्मा के सहजस्वभाव का ही सहज परिणमन है।

इन गाथाओं में से किसी भी रूप में यह ध्वनि नहीं निकलती है कि आत्मा इन्हें जानता ही नहीं है या इन्हें जानना आत्मा का स्वभाव नहीं; विभाव है, अपराध है।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि अन्तिम गाथा में सम्यग्दर्शन, अंगपूर्वगत सूत्र, संयम, धर्म-अधर्म और प्रव्रज्या को आत्मा से अनन्य अर्थात् आत्मा ही कहा गया है।

गजब की बात तो यह है कि परद्रव्यों से भिन्नता और निज पर्यायों से अभिन्नता - इन दोनों को ही निश्चयसाधित कहकर निश्चयनय का कथन बताया गया है। इन्हीं के आधार पर अर्थात् सर्व परद्रव्यों से व्यतिरेक और सर्वदर्शनादि जीवस्वभावों से अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से रहितपना सिद्ध करके निश्चल अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है।

मूल बात यह है कि इस सम्पूर्ण प्रकरण में परज्ञेयों से भिन्नता की बात ही मुख्य है; उन्हें आत्मा जानता ही नहीं है - यह बात बिलकुल ही नहीं है।

अब इसी भाव के पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्याग से।
यह ज्ञाननिधि निज में नियत वस्तुत्व को धारण किये।।
है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन।
हो सहज महिमा प्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन।।२३५।।

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह।।२३६।।

जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों को स्वयं में।
सब ओर से धारण किया हो स्वयं को ही स्वयं में।।
मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया।
अर जो ग्रहण के योग्य वह सब भी उन्हीं ने पा लिया।।२३६।।

अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ, ग्रहण-त्याग से रहित यह अमल ज्ञान (आत्मा) इसप्रकार अनुभव में आता है कि जिसकी आदि, मध्य और अन्त रूप विभागों से रहित सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे।

सर्व शक्तियों को स्वयं में समेट लिया है, जिसने ऐसे इस आत्मा के द्वारा पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना ही छोड़ने योग्य सभी को छोड़ना और ग्रहण करने योग्य सभी को ग्रहण करना है।

इसप्रकार इन कलशों में इस सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार है। पहले प्रतिक्रमण, आलोचना और

प्रत्याख्यान के माध्यम से पर में कर्तृत्व की भावनारूप कर्मचेतना का निषेध किया; फिर कर्मों की १४८ प्रकृतियों के फल के उपभोग की भावनारूप कर्मफलचेतना का निषेध किया।

इसप्रकार अज्ञानचेतना के निषेधपूर्वक ज्ञानचेतना की स्थापना करते हुए स्वपरप्रकाशक ज्ञान की स्थापना कर पर में होनेवाले एकत्व-ममत्व का भी निषेध कर दिया।

ज्ञान के सर्वज्ञस्वभाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान सबको जानता है, पर सब रूप नहीं होता - यह ज्ञान का सहज स्वभाव है। अपने इस सहज स्वभाव में एकत्व धारण करनेवाला ज्ञान जब निज में लीन हो जाता है तो सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। सर्वज्ञता प्रगट होने पर ज्ञान के साथ अनन्त गुण पूर्णत: प्रगट हो जाते हैं और फिर अनन्तकाल तक पूर्ण ही रहते हैं।

जब आत्मा स्वयं में अपनापन स्थापित करके स्वयं में लीन होता है, तब मानो छूटने योग्य सब छूट गया है और पाने योग्य सब पा लिया है। अब कुछ करने को शेष नहीं रहता। अत: अब विकल्पात्मक प्रतिक्रमणादिक करने की भी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि इस शुद्धोपयोग की दशा में सभी धर्म समाहित हो जाते हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार यह है कि त्रिकाल संबंधी दुष्कृतों के विकल्पात्मक व्यवहार प्रतिक्रमणादि की उपयोगिता तभीतक है; जबतक कि यह आत्मा स्वयं में समा नहीं जाता, शुद्धोपयोगरूप पूर्णत: परिणमित नहीं हो जाता है। जब यह आत्मा पूर्णत: शुद्धोपयोगरूप परिणमित हो जाता है; तब तो अन्तर्मुहूर्त में ही वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाता है, अनन्तसुखी हो जाता है।

(अनुष्टुभ्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ।।२३७।।

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु।।४०५।।
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि।।४०६।।
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

यह शुद्धोपयोगरूप परिणमित होना ही निश्चयप्रतिक्रमणादि हैं। सभी धर्म इसी में समाहित हैं। यही एकमात्र करने योग्य कार्य है। इसके अतिरिक्त जिन भावों को धर्म कहा जाता है, वे इसके सहचारी होने से धर्म कहे जाते हैं।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सोरठा)

ज्ञानस्वभावी जीव, परद्रव्यों से भिन्न ही।
कैसे कहें सदेह, जब आहारक ही नहीं।।२३७।।

इसप्रकार यह ज्ञान परद्रव्यों से पूर्णत: पृथक् स्थापित हुआ। ऐसी स्थिति में वह ज्ञान (आत्मा) आहार करनेवाला कैसे हो सकता है कि जिससे इसे देहवान होने की शंका की जा सके।

तात्पर्य यह है कि जब यह ज्ञानस्वभावी आत्मा आहारक ही नहीं है तो देहवाला कैसे हो सकता है ? आत्मा को देहवाला कहना एकदम असद्भूत है, असत्यार्थ है, असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

जो बात उक्त कलश में कही गई है; अब उसी को गाथाओं द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

(हरिगीत)

आहार पुद्गलमयी है बस इसलिए है मूर्तिक।
ना अहारक इसलिए ही यह अमूर्तिक आतमा।।४०५।।
परद्रव्य का ना ग्रहण हो ना त्याग हो इस जीव के।
क्योंकि प्रायोगिक तथा वैस्रसिक स्वयं गुण जीव के।।४०६।।
इसलिए यह शुद्धातमा पर जीव और अजीव से।
कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता।।४०७।।

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहार: खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु।।४०५।।
नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम्।
स कोऽपि च तस्य गुण: प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि।।४०६।।
तस्मात्तु या विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित्।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययो:।।४०७।।

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुंचति च, प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुण–सामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहार:। ततो ज्ञानं नाहारकं भवति। अतो ज्ञानस्य देहो न शङ्कनीय:।

इसप्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है, वह वस्तुत: आहारक नहीं है; क्योंकि आहार पुद्गलमय होने से मूर्तिक है।

परद्रव्य को न तो छोड़ा जा सकता है और न ही ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि आत्मा के कोई ऐसे ही प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण हैं।

इसलिए विशुद्धात्मा जीव और अजीव परद्रव्यों से कुछ भी ग्रहण नहीं करते और न छोड़ते ही हैं।

ध्यान रहे, यहाँ प्रायोगिक से आशय परनिमित्त से उत्पन्न होता है और वैस्रसिक का आशय

स्वाभाविकरूप से ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि न तो आत्मा के स्वभाव में ही ऐसी बात है कि वह परद्रव्यों को ग्रहण करे और छोड़े और न किसी निमित्त के कारण वह ऐसा करे – ऐसी ही कोई विवशता है। अत: आत्मा परद्रव्यों को ग्रहण करे या छोड़े – ऐसी कोई बात ही नहीं बनती।

उक्त गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में किया गया है, एक प्रकार से गाथाओं के सामान्य अर्थ को ही मात्र दुहरा दिया गया है, जो इसप्रकार है –

''ज्ञान परद्रव्य को किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है; क्योंकि प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग अशक्य है। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य का कर्म–नोकर्मरूप परद्रव्य आहार नहीं है; क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है, इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है। इसीलिए ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए कि ज्ञान (आत्मा) के देह होगी।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के समान ही करते हैं; तथापि वे प्रायोगिक और वैस्रसिक का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि **प्रायोगिक: कर्मसंयोग–जनित: वैस्रसिक: स्वभावत:** – जो कर्म के संयोग से उत्पन्न हो, उसे प्रायोगिक कहते हैं और जो स्वभाव से हो, उसे वैस्रसिक कहते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि यह अमूर्तिक आत्मा पुद्गलमयी मूर्तिक आहार ग्रहण नहीं कर सकता है; क्योंकि परद्रव्यों को ग्रहण करने का न तो आत्मा का स्वभाव ही है और न पर निमित्त के संयोग से ऐसा करने का आत्मा का स्वभाव है।

(अनुष्टुभ्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ।।२३८।।

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।।४०८।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति।।४०९।।

अत: निष्कर्ष यही है कि यह आत्मा परजीवों और अजीव द्रव्यों से न तो कुछ ग्रहण ही करता है और न कुछ त्यागता ही है। आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है; उसका भी यही कार्य है। त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति का मूल उत्स भी यही प्रकरण है।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलशकाव्य कहते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

शुद्धज्ञानमय जीव, के जब देह नहीं कही।
तब फिर देही लिंग, शिवमग कैसे हो सके।।२३८।।

इसप्रकार शुद्धज्ञान (आत्मा) के देह ही नहीं है; इसकारण ज्ञाता जीव को देहमय चिह्न

(लिंग) मोक्ष का कारण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जब शुद्धज्ञानस्वभावी आत्मा के देह ही नहीं है; तब फिर देहमय चिह्न (लिंग) मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् भावलिंगी संतों के भी नग्न दिगम्बरदशा मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रय ही है।

यद्यपि यह सत्य है कि नग्न दिगम्बरदशा धारण किये बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, तथापि देह की नग्नता मुक्ति का कारण नहीं है। देह की नग्नता के साथ मिथ्यात्व और तीन कषाय के अभावरूप जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वे ही मुक्ति के कारण हैं।

जो बात विगत कलश में कही गई है; उसी बात को अब गाथाओं के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
यह लिंग ही है मुक्तिमग यह कहें कतिपय मूढ़जन ।।४०८।।
पर मुक्तिमग ना लिंग क्योंकि लिंग तज अरिहंत जिन।
निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें।।४०९।।

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति।।४१०।।
तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

पाषण्डिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति।।४०८।।
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते।।४०९।।
नाप्येष मोक्षमार्गः पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना ब्रुवन्ति।।४१०।।
तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे।।४११।।

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते। तदनुपपन्नम्; सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां, शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात्।

बस इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग मुक्ति का।

जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग मुक्ति
क । । ४ १ ० । ।
बस इसलिए अनगार या सागार लिंग को त्यागकर।
जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपंथ में।।४११।।

बहुत प्रकार के पाखण्डी (मुनि) लिंगों अथवा गृहस्थ लिंगों को धारण करके मूढ़जन यह कहते हैं कि यह लिंग मोक्षमार्ग है।

परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरिहंतदेव लिंग को छोड़कर अर्थात् लिंग पर से दृष्टि हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।

मुनियों और गृहस्थों के लिंग (चिह्न) मोक्षमार्ग नहीं; क्योंकि जिनदेव तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं।

इसलिए गृहस्थों और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर उनमें से एकत्वबुद्धि तोड़कर मोक्षमार्गरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्वयं को लगाओ।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही धारण करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि सभी अरिहंत भगवन्तों के शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है। इसलिए शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है।

अथैतदेव साधयति – न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शन-ज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्।

यत् एवम् – यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव, मोक्षमार्गत्वात्, आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः।

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३९।।

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह द्रव्यलिंग शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है; क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।

चूँकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिए सभी द्रव्यलिंगों का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही स्थित होओ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग होने से इनमें ही आत्मा को लगाना योग्य है – ऐसी सूत्र की अनुमति है।''

उक्त चारों गाथाओं का सार यह है कि आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाला दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिंग ही सच्चा मोक्षमार्ग है; शरीर की नग्नदिगम्बर अवस्था और महाव्रतादि के शुभभावरूप द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है; उसे तो भावलिंग का अनिवार्य

सहचारी होने से उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि यद्यपि नग्नदिगम्बरदशारूप द्रव्यलिंग के बिना मोक्ष नहीं होता; तथापि सच्चा मुक्तिमार्ग तो निश्चयरत्नत्रयरूप भावलिंग ही है।

अब इसी बात का पोषक कलश काव्य कहते हैं; जो आगामी गाथा की उत्थानिका भी प्रस्तुत करता है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

मोक्षमार्ग बस एक ही, रत्नत्रयमय होय।
अत: मुमुक्षु के लिए, वह ही सेवन योग।।२३९।।

आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मक है; इसलिए मुमुक्षुओं के लिए दर्शनज्ञानचारित्र–स्वरूप इस एक मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए।

~~उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दया आदि के परिणाम शुभभाव होने से पुण्यबंध के कारण हैं~~ और इसीकारण उन्हें व्यवहार से धर्म भी कहा जाता है। फिर भी वे दयादि के परिणाम विकल्परूप हैं; अत: उनसे निस्तरंगरूप अनुभवदशा की प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तविक धर्म तो निस्तरंगरूप अनुभवदशा ही है। वह ही दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणाम है। इसलिए जो व्यक्ति निश्चयदर्शनज्ञान–चारित्ररूप परिणमित होकर आत्मा में ही स्थिर होता है; वही अनुभवी और समझदार है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु।।४१२।।

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु।।४१२।।

आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि, स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयातिनिश्चलमात्मानं; तथा समस्तचिन्तांतरनिरोधेना–त्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व; तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्यस्वभाववशत: प्रतिक्षण–विजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेक–मेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षी:।

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर।

निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार
क र । । ४ १ २ । ।

हे भव्य ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तदर्थ अपने आत्मा का ही ध्यान कर, आत्मा में ही चेत, आत्मा का ही अनुभव कर और निज आत्मा में ही सदा विहार कर; परद्रव्यों में विहार मत कर।

~~तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा में ही उपयोग को लगा, परद्रव्यों में उलझने से कोई लाभ~~ नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि यह अपना आत्मा अनादिकाल से अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य और राग–द्वेषादि में निरन्तर स्थित है; तथापि हे आत्मन् ! तू अपनी प्रज्ञा के गुण के द्वारा स्वयं को वहाँ से हटाकर ज्ञान–दर्शन–चारित्र में निरन्तर स्थापित करके, समस्त चिन्ता (चिन्तवन–विकल्प) का निरोध करके अपने में अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ही ध्यान कर तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही चेत, अनुभव कर तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले परिणामों के द्वारा तन्मय परिणामवाला (दर्शन–ज्ञान–चारित्रवाला) होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र में ही विहार कर तथा एक ज्ञानरूप को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ ज्ञेयरूप समस्त परद्रव्यों की उपाधियों में किंचित्मात्र भी विहार मत कर।''

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक–
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ।।२४०।।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अनादि से ही स्वयं की प्रज्ञा के दोष से अर्थात् स्वयं की ही विभावपरिणमनरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं ही राग–द्वेषरूप परिणम रहा है; तथापि स्वयं ही प्रज्ञा के गुण से अर्थात् स्वयं की ही स्वभाव–परिणामरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं को विकारी परिणमन से हटाकर दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणमन कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि न तो इसके विकाररूप परिणमन में किसी पर का कोई दोष है और न स्वभावरूप परिणमन ही कोई और करायेगा। यह स्वयं ही विकारी परिणमन को छोड़कर स्वभावरूप परिणमन कर सकता है।

अत: हे आत्मन् ! अब सम्यग्रत्नत्रयरूप परिणमन कर स्वयं को स्वयं ही मोक्षमार्ग में स्थापित कर।

जिस भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की उत्पत्ति होती है; समस्त

विकल्पों का अभाव करके एकमात्र उसी का ध्यान कर, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के अभावपूर्वक ज्ञानचेतना में ही चेत और निज भगवान आत्मा में ही विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर; क्योंकि तुझे वहाँ कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है।

अरहंत भगवान भी अपनी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि तू हमारी ओर क्या देखता है ? स्वयं की ओर देख; क्योंकि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति तो तुझे स्वयं के ही आश्रय से होगी, हम तो तेरे लिए परद्रव्य ही हैं। तू परद्रव्य में विहार मत कर, स्वयं में ही विहार कर! इसप्रकार आचार्यदेव यहाँ अपने उपयोग को समस्त जगत से हटाकर आत्मा में ही लगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

दृगज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ।
थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष।।
जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत।
वे पुरुष ही अतिशीघ्र ही समैसार को पावें उदित।।२४०।।

जो पुरुष दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप नियत मोक्षमार्ग में स्थित होता है, उसी का ध्यान करता है, उसी में चेतता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करता हुआ निरन्तर उसी में विहार करता है; वह पुरुष नित्योदित समयसार को अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा–
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते।।२४१।।

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।४१३।।

अब आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें।
तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिंग में ममता धरें।।
वे नहीं देखें आतमा निज अमल एक उद्योतमय।
अर अखण्ड अभेद चिन्मय अज अतुल आलोकमय।।२४१।।

जो पुरुष उक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहारमार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यलिंग में ममता धारण करते हैं; वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ बोध से रहित होने से समय के साररूप नित्य प्रकाशमान, अखण्ड, एक, अतुल, अमल चैतन्यप्रकाशमय आत्मा को नहीं

देखते, आत्मा का अनुभव नहीं करते।

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार मात्र इतना ही है कि मुक्ति के मार्ग में द्रव्यलिंग अर्थात् नग्नदिगम्बर दशा एवं पंचमहाव्रतादि के शुभभाव होते तो अवश्य हैं; क्योंकि उनके बिना मुक्तिमार्ग नहीं बनता; फिर भी नग्नदिगम्बरदशा शरीर की क्रिया है और महाव्रतादि के शुभभाव रागभाव हैं; इसकारण वे मुक्ति के कारण नहीं हो सकते। शरीर की क्रिया तो परद्रव्य की क्रिया होने से न तो बंध की ही कारण है और न मोक्ष की ही कारण है; किन्तु शुभराग आत्मा की विकारी परिणति होने से बंध का ही कारण है, पुण्यबंध का ही कारण है; मुक्ति का कारण नहीं।

अत: आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाली निश्चयरत्नत्रयरूप निर्मलपरिणति ही एकमात्र मुक्ति का कारण है – ऐसा जानना-मानना ही योग्य है। शास्त्रों में भी सर्वत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

अत: सर्वविकल्पों का शमन करके एकमात्र निज भगवान आत्मा का ही आश्रय करो, उसी की शरण में चले जाओ, उसे ही जानो, मानो और उसी में जम जाओ, रम जाओ; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को मूल गाथा में स्पष्ट करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
उनमें करें ममता, न जानें वे समय के सार को।।४१३।।

पाषंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वंति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः।।४१३।।

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढ-व्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यंति।

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम्।।२४२।।

जो व्यक्ति बहुत प्रकार के मुनिलिंगों या गृहस्थलिंगों में ममत्व करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि ये द्रव्यलिंग ही मोक्ष के कारण हैं; उन्होंने समयसार को नहीं जाना।

उक्त गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप; किन्तु अत्यन्त सशक्त भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''मैं श्रमण हूँ या मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ – इसप्रकार द्रव्यलिंग में ही जो पुरुष ममत्वभाव से मिथ्या अहंकार करते हैं; अनादिरूढ़ व्यवहारविमूढ़, प्रौढ़विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़ वे पुरुष निश्चितरूप से परमार्थसत्य समयसार (शुद्धात्मा) को नहीं देखते हैं।''

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में मुनिलिंग और गृहस्थलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते

हुए कहते हैं कि ''**वीतराग स्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिंग से रहित नग्नदिगम्बर निर्ग्रन्थदशा को धारण करनेवाले मुनिलिंगी और लँगोटी आदि चिह्नों से जाने जानेवाले ऐलक-क्षुल्लक गृहस्थलिंगी कहे जाते हैं।**''

देखो, यहाँ निश्चय से रहित व्यवहार में रमनेवालों को व्यवहारविमूढ़ कहा है। यह कहा है कि यह तो अनादि से ही चलती आई व्यवहारविमूढ़ता है। जबतक तुम निश्चय पर आरूढ़ होकर इस व्यवहारविमूढ़ता को नहीं छोड़ोगे, तबतक कारणसमयसाररूप भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

तुष माहिं मोहित जगतजन ज्यों एक तुष ही जानते।
वे मूढ़ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते।।
व्यवहारमोहित मूढ़ त्यों व्यवहार को ही जानते।
आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते।।२४२।।

जिसप्रकार तुष को ही चावल मान लेनेवाले तुष विमोहित दृष्टिवाले लोग असली चावल को नहीं जानते; उसीप्रकार व्यवहार में विमोहित बुद्धिवाले लोग परमार्थ को नहीं जानते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि छिलके सहित चावलों को धान कहे जाने के कारण कुछ नासमझ जगतजन यह नहीं समझ पाते कि खाने योग्य तो चावल ही हैं, उसका छिलका

(स्वागता)

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४३।।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिङ्गानि।।४१४।।

नहीं; उसीप्रकार मुक्ति प्राप्ति की कामनावाले कुछ अज्ञानीजन बाह्यक्रिया, शुभभाव और रत्नत्रय परिणति – इन सभी को मुक्ति का कारण कहे जाने के कारण सभी को एक-सा ही मुक्ति का कारण मान लेते हैं। इस भेद को नहीं समझते कि मुक्ति का वास्तविक कारण तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रय ही है; नग्नदशा और शुभराग तो निश्चयरत्नत्रय के सहचारी होने से व्यवहार से मोक्षमार्ग कहे जाते हैं, वे वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं हैं। सम्यग्ज्ञानी जीव इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

यद्यपी परद्रव्य है द्रवलिंग फिर भी अज्ञजन।

बस उसी में ममता धरें द्रवलिंग मोहित अन्धजन।।
देखें नहीं जानें नहीं सुखमय समय के सार को।
बस इसलिए ही अज्ञजन पाते नहीं भवपार को।।२४३।।

यद्यपि द्रव्यलिंग वस्तुत: अन्य द्रव्यस्वरूप है; मात्र ज्ञानस्वरूपी आत्मा ही निज है; तथापि द्रव्यलिंग के एकत्व-ममत्व के द्वारा बन्द हो गये हैं नेत्र जिनके, ऐसे अज्ञानी जीव समयसाररूप आत्मा को नहीं देखते।

उक्त कथन का सार यह है कि शरीरादि की नग्नदशा एवं शुभभावरूप द्रव्यलिंग परद्रव्यरूप होने से आत्मा का धर्म नहीं हैं। उनमें एकत्व-ममत्व करना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। द्रव्यलिंग में धर्म माननेवाले ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को देखने-जानने में असमर्थ हैं।

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को गाथा द्वारा कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

व्यवहार से ये लिंग दोनों कहे मुक्तीमार्ग में।
परमार्थ से तो नहीं कोई लिंग मुक्तीमार्ग में।।४१४।।

व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग - दोनों को ही मोक्षमार्ग कहता है; परन्तु निश्चयनय किसी भी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता।

य: खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकार: स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थ:, तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुष-सचेतनं परमार्थ:, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्।

ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयंते, ते समयसारमेव न संचेतयंते; य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयंते, ते एव समयसारं चेतयंते।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है -

''श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से द्रव्यलिंग दो प्रकार का कहा गया है; उसे मोक्षमार्ग बतानेवाला कथन मात्र व्यवहारकथन है, परमार्थ कथन नहीं है; क्योंकि उक्त कथन स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवनस्वरूप होने से अपरमार्थ है; उसके परमार्थत्व का अभाव है।

श्रमण और श्रमणोपासक के विकल्प से अतिक्रान्त दर्शन-ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्त परिणति मात्र शुद्धज्ञान का ही एक निस्तुष (निर्मल) अनुभवन परमार्थ है; क्योंकि वह अनुभवन स्वयं शुद्धद्रव्य का अनुभवनस्वरूप होने से वस्तुत: परमार्थ है।

इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से परमार्थ मानकर अनुभव करते हैं; वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; किन्तु जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं; वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।''

यद्यपि यहाँ ४१४ वीं गाथा में समागत प्रकरण समाप्त हो गया है; तथापि आचार्य जयसेन यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करते हैं; जो ३२०वीं गाथा के उपरान्त की गई चर्चा के समान ही अत्यन्त उपयोगी है।

वह चर्चा इसप्रकार है – **''यहाँ शिष्य कहता है कि केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध है। छद्मस्थ का वह अशुद्धज्ञान शुद्ध केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि इसी शास्त्र में कहा है कि सुद्धं तु वियाणन्तो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो – शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।**

शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान सर्वथा अशुद्ध नहीं है, वह कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है।

यद्यपि छद्मस्थ का ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा शुद्ध नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और रागादि से रहित वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र सहित होने से शुद्ध ही है। अभेदनय से छद्मस्थ का वह भेदज्ञान आत्मस्वरूप ही होता है, आत्मानुभूतिस्वरूप ही होता है; इसकारण एकदेशव्यक्तिरूप ज्ञान के द्वारा सकलादेशव्यक्तिरूप केवलज्ञान के हो जाने में कोई दोष नहीं है।

इस पर यदि यह मत व्यक्त किया जाये कि सावरण होने से अथवा क्षायोपशमिक होने से छद्मस्थ का ज्ञान शुद्ध नहीं हो सकता; ऐसी स्थिति में तो फिर किसी भी छद्मस्थ को मोक्ष होगा ही नहीं; क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि एकदेश निरावरण है, तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा नियम से सावरण होने से क्षायोपशमिक ही है।

इस पर यदि आपका अभिप्राय यह हो कि छद्मस्थ के शुद्धपारिणामिकभाव होने से उसे मोक्ष हो जायेगा तो यह भी घटित नहीं होगा; क्योंकि केवलज्ञान होने से पहले पारिणामिकभाव शक्तिरूप से शुद्ध है, व्यक्तिरूप से नहीं।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है कि पारिणामिकभाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के रूप में तीन प्रकार का है। इसमें अभव्यत्व तो मुक्ति का कारण होता ही नहीं है; अब रहे जीवत्व और भव्यत्व; सो इन दोनों का शुद्धत्व तो तब प्रगट होता है, जब यह छद्मस्थ जीव दर्शन–ज्ञान–चारित्र अर्थात् मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणमित होता है।

यह शुद्धता मुख्यरूप से तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव संबंधी है, पारिणामिक भाव संबंधी बात तो यहाँ गौण है अर्थात् गौणरूप से है। शुद्ध पारिणामिकभाव न तो बंध का कारण है और न मोक्ष का – यह बात पंचास्तिकाय के निम्नांकित श्लोक में स्पष्ट है–

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधा।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव मोक्ष को करते हैं, औदयिकभाव बंध करता है और पारिणामिकभाव निष्क्रिय है अर्थात् कुछ नहीं करता।

इससे यह सिद्ध होता है कि निर्विकल्पशुद्धात्मपरिछित्तिलक्षणवाला वीतरागसम्यक्त्वचारित्र के अविनाभूत अभेदनय से शुद्धात्मानुभूति शब्द से कहे जानेवाला भावश्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होने पर भी मोक्ष का कारण होता है।

एकदेशव्यक्तिलक्षण में कथंचित् भेदाभेदरूप द्रव्यपर्यायात्मक जीवपदार्थ की शुद्धभावना (स्वानुभूति) की अवस्था में शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयभूत द्रव्य है, ध्यान करने योग्य विषय है ~~और वह शुद्धपारिणामिकभाव ध्यानपर्यायरूप नहीं है; क्योंकि ध्यान की पर्याय नश्वर है।''~~

आज भी आत्मार्थी जैनसमाज में ऐसे लोग हैं, जो यह मानते हैं कि एकमात्र परमपारिणामिकभाव रूप त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा ही मुक्ति का कारण है; अन्य क्षयोपशमादिभाव नहीं।

इसप्रकार के लोग आचार्य जयसेन के समय में भी रहे होंगे। इसीकारण उन्हें इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का भाव आया।

यद्यपि वे स्वयं इस विषय की चर्चा करते हुए ३२०वीं गाथा की टीका में इस भाव को व्यक्त कर चुके थे; तथापि यहाँ पुन: उसी विषय पर और अधिक स्पष्टता से प्रकाश डालने का विकल्प उन्हें आया। वे यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि मोक्षमार्ग तो पर्यायरूप ही होता है, परिणमनरूप ही होता है; चूँकि त्रिकालीध्रुव पारिणामिकभाव परिणमनरूप नहीं है, निष्क्रिय है; अत: बंध-मोक्ष का कारण भी नहीं है; बंध के कारण तो औदयिकभाव हैं और मुक्ति के कारण औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं। पारिणामिकभाव द्रव्य की अपेक्षा शुद्ध है और ये औपशमिक भाव पर्यायों की अपेक्षा शुद्ध हैं तथा औदयिकभाव अशुद्ध हैं; इसीकारण बंध के भी कारण हैं।

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-
विस्फूर्ति-मात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।२४४।।

इसप्रकार अन्त में यही सुनिश्चित रहा कि औपशमिकादि शुद्धभावों से परिणमित निश्चयरत्नत्रय धारी जीव मुक्तिमार्गी हैं और ये निश्चयरत्नत्रय के भाव मुक्ति का मार्ग है। यह निश्चयरत्नत्रयभाव ही भावलिंग है, जो मुक्ति का वास्तविक कारण है और इसके साथ अनिवार्यरूप से होनेवाले महाव्रतादि के शुभभाव और नग्नदिगम्बरादि क्रियारूप द्रव्यलिंग उपचरित कारण हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी अनिवार्य उपस्थिति होने पर भी वे मुक्ति के वास्तविक कारण नहीं हैं।

अब इस प्रकरण को समेटते हुए इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो।।
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से।।२४४।।

अधिक कहने से क्या लाभ है, अधिक दुर्विकल्प करने से भी क्या लाभ है; यहाँ तो मात्र इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस एक परमार्थस्वरूप आत्मा का ही नित्य अनुभव करो; निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होनेरूप समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।

यहाँ समयसार का अर्थ निश्चय से परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा है और व्यवहारनय से समयसार नामक ग्रन्थाधिराज है।

इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु वह निज भगवान आत्मा ही है, जिसके आश्रय से निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसे निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने का नाम सम्यक्चारित्र है; वह त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा ही वास्तविक आत्मा है, अपने लिए अपने आत्मा से महान अन्य कुछ भी नहीं है। इसीप्रकार जगत में जितने शास्त्र हैं; उन सब शास्त्रों में समयसार सबसे श्रेष्ठ शास्त्र है; उससे महान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है।

इसप्रकार इस कलश में समयसाररूप शुद्धात्मा और समयसार नामक ग्रन्थाधिराज की महिमा बताई गई है; साथ में यह आदेश दिया गया है, उपदेश दिया गया है कि अब इस विकल्पजाल से मुक्त होकर निज आत्मा की शरण में जाओ ! आत्मा के कल्याण का एकमात्र उपाय आत्मानुभव ही है; अन्य कुछ नहीं।

(अनुष्टुभ्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत्।।२४५।।

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्।।४१५।।

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य, विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाश–

उक्त कलश का सार मात्र इतना ही है कि जो कुछ कहना था; वह विस्तार से कहा जा चुका है इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। जिसकी समझ में आना होगा, उसकी समझ में आने के लिए, देशनालब्धि के लिए इतना ही पर्याप्त है; जिसकी समझ में नहीं आना है, उसके लिए कितना ही क्यों न कहो, कुछ भी होनेवाला नहीं है। अतः अब हम (आचार्यदेव) विराम लेते हैं; क्योंकि

आखिर यह प्रतिपादन भी विकल्पजाल ही तो है; तुम भी विकल्पों से विराम लेकर स्वयं में समा जाओ और हम तो स्वयं में जाते ही हैं।

शुद्धात्मा के स्वरूप का प्रतिपादक यह ग्रन्थाधिराज अब समापन की ओर जा रहा है। इसलिए अब अन्तिम गाथा ४१५ में समयसार के अध्ययन का फल बताते हुए इसके माध्यम से निज आत्मा को जानकर उसी में स्थित होने की प्रेरणा दी जा रही है।

उक्त अन्तिम गाथा की उत्थानिकारूप जो कलश लिखा गया है, उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को, करता हुआ प्रत्यक्ष।
अरे पूर्ण अब हो रहा, यह अक्षय जगचक्षु ।।२४५।।

आनन्दमय विज्ञानघन शुद्धात्मारूप समयसार को प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय जगतचक्षु समयसार नामक ग्रन्थाधिराज पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

अब आचार्य कुन्दकुन्ददेव ग्रन्थ का समापन करते हुए इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का फल उत्तम सुख की प्राप्ति बताते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्त्वार्थ से जो जानकर।
निज अर्थ में एकाग्र हों वे परमसुख को प्राप्त हों ।।४१५।।

जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर, अर्थ और तत्त्व से जानकर इसके विषयभूत अर्थ में स्वयं को स्थापित करेगा; वह उत्तमसुख (अतीन्द्रिय आनन्द) को प्राप्त करेगा।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''जो विश्वप्रकाशक होने से विश्वमय समयसारभूत भगवान आत्मा का प्रतिपादन करता है; इसलिए स्वयं शब्दब्रह्म के समान है; ऐसे इस समयसार शास्त्र को जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ परमार्थभूत, चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा का निश्चय रूपमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञान–घने परमब्रह्माणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भर–स्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति।

(अनुष्टुभ्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।।२४६।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः।

करता हुआ इस शास्त्र को अर्थ से और तत्त्व से जानकर; उसी के अर्थभूत एक पूर्ण विज्ञानघन भगवान परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा; वह आत्मा उसी समय साक्षात् प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव से सुस्थित और निराकुल होने से जो परमानन्द शब्द से वाच्य उत्तम और अनाकुल सुखस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा।''

इसप्रकार इस गाथा में ग्रन्थ के अध्ययन का फल बताते हुए यह कहा गया है कि इस समयसार के प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व को तत्त्व और अर्थ से जानकर उसी में जमने–रमनेवालों को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है, मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

इसके उपरान्त आत्मख्याति के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका का समापन करते हुए इस अधिकार के अन्तिम कलश में कहते हैं कि उक्त सम्पूर्ण कथन से अन्ततोगत्वा यही सिद्ध

परिशिष्ट

(अनुष्टुभ्)

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते।।२४७।।

मंगलाचरण

(दोहा)

वस्तु व्यवस्था तत्त्व की, भाव उपाय–उपेय।
स्याद्वाद की सिद्धि को, थोड़ा–बहुत प्रमेय।।

इसप्रकार यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयसार का अन्तिम अधिकार सर्वविशुद्ध–ज्ञानाधिकार भी पूर्ण हो जाता है तथा ४१५ गाथाओं की आत्मख्याति टीका और उसमें समागत २४६ कलश भी पूर्ण हो जाते हैं।

इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र परिशिष्ट के रूप में कुछ नया प्रमेय उपस्थित करते हुए कुछ छन्द एवं गद्य टीका लिखते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा आत्मख्याति के परिशिष्ट में प्रस्तुत नये प्रमेय की सूचना देनेवाले २४७ वें कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया, कुछ भी रहा न शेष।
फिर भी इस परिशिष्ट में, सहज प्रमेय विशेष।।
सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय भावमय।
ज्ञानमात्र आतम समझाते स्याद्वाद से।।
परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके।
परम ज्ञानमय परमातम का चिन्तन करते।।२४७।।

इस समयसार नामक परमागम में आत्मवस्तु का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी अब यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय–उपेयभाव के संबंध में थोड़ा–बहुत चिन्तवन फिर से करते हैं।

इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि यद्यपि समयसार की ४१५ गाथाओं में आत्मवस्तु का स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा जा चुका है और उसकी टीका करते हुए मैंने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर वह सब कुछ लिख दिया है, जो इस संदर्भ में लिखा जा सकता था; तथापि इस समयसार ग्रन्थाधिराज के स्वाध्याय करने से कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो सकती है कि इसमें एकान्त से कथन है; क्योंकि इसमें आत्मा को सर्वत्र ही एक ज्ञानमात्र कहा गया है।

स्याद्वादाधिकार

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्म-कमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात्।

तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक-वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः।

यह परिशिष्ट दो भागों में विभक्त है - प्रथम भाग में वस्तु के अनेकान्तस्वभाव को सिद्ध करते हुए १४ प्रकार के एकान्तों का निषेध किया गया है - पहले गद्य में फिर पद्य में। तदुपरान्त आत्मवस्तु की उछलती हुई अनन्त शक्तियों में से ४७ शक्तियों का विशद विवेचन है।

दूसरे भाग में उपाय-उपेयभाव का विवेचन किया गया है।

इसप्रकार प्रथम अधिकार का नाम है - स्याद्वादाधिकार और दूसरे का नाम है - उपाय-उपेयाधिकार (साध्य-साधकद्वार)।

मंगलाचरण

(दोहा)

अध्यातम के जोर में, जो एकान्त अपार।
निराकरण को कहा यह, स्याद्वाद अधिकार।।

अब यहाँ स्याद्वाद का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली आत्मख्याति टीका का भाव लिखते हैं -

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला सर्वज्ञ अरहंत भगवान का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। समस्त वस्तुयें अनेकान्त-स्वभावी होने से वह स्याद्वाद यह कहता है कि सब वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं।

अब यहाँ यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्र कहने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व (अनन्तधर्मात्मक-पना) है।

अनेकान्त का स्वरूप ऐसा है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही वस्तु अतत्स्वरूप भी है; जो वस्तु एक है, वही अनेक है; जो वस्तु सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है - इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक (उपजानेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

इसलिए यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है; तथापि उसमें उक्त तत्-अतत्पना आदि भी विद्यमान ही हैं; क्योंकि उक्त ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के अंतरंग में चकचकायमान ज्ञानस्वरूप से तत्पना और उसमें प्रकाशित होनेवाले अनंत पररूप ज्ञेयों के उससे भिन्न होने के कारण उनसे या उनकी अपेक्षा अतत्पना है।

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावत्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।

ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांत प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः ?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ज्ञानरूप ही है, परज्ञेयरूप नहीं। इसप्रकार स्वरूप से तत्पना और परज्ञेयरूप से अतत्पना आत्मवस्तु में एकसाथ ही विद्यमान हैं।

इसीप्रकार एकसाथ रहनेवाले (गुण) और क्रमशः प्रवर्तमान (पर्याय) अनंत चैतन्य अंशों (गुण-पर्यायों) के समुदायरूप अविभागी द्रव्य की अपेक्षा आत्मा में एकत्व है और अविभागी एक द्रव्य में व्याप्त सहभूत प्रवर्तमान (गुण) और क्रमशः प्रवर्तमान (पर्याय) अनंत चैतन्य अंशरूप पर्यायों (अनंत गुण और अनंत पर्यायों) की अपेक्षा आत्मा में अनेकत्व है।

इसीप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है; उस स्वभाव वाला होने से आत्मा सत्त्वस्वरूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव; उस स्वभाववाला होने से आत्मा असत्त्वस्वरूप है।

इसीप्रकार अनादिनिधन अविभागी एक वृत्तिरूप परिणत होने से आत्मा नित्य है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति अंशों रूप से परिणत होने के कारण आत्मा अनित्य है।

इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में तत्पना-अतत्पना, एकपना-अनेकपना, सत्त्वपना-असत्त्वपना और नित्यपना-अनित्यपना आदि परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली दो-दो शक्तियाँ (धर्म) स्वयमेव प्रकाशित होती हैं; इसलिए अनेकान्त भी स्वयेमव ही प्रकाशित होता है।

तत् और अतत्, एक और अनेक, सत् और असत् तथा नित्य और अनित्य - यद्यपि ये सभी धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; पर वस्तुतः परस्पर विरोधी हैं नहीं; क्योंकि वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं, सहज हैं, आत्मा के स्वभाव हैं, आत्मा में स्वाभाविकरूप से रहते हैं।

यद्यपि ये सभी धर्म एक ही वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं; तथापि इनको जानने या कहने में अपेक्षा लगाना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि अपेक्षा लगाये बिना न तो इनको समझा ही जा सकता है और न कहा ही जा सकता है।

अब आगे आत्मख्याति टीका में आत्मा के सन्दर्भ में उक्त स्याद्वाद को ही शंका-समाधान द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

शंका : यदि ज्ञानमात्रता होने पर भी आत्मा के अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है तो फिर अरहंत भगवान उसके साधन के रूप में अनेकान्त (स्याद्वाद) का उपदेश क्यों देते हैं?

अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्धयर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति।

तथाहि – इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निर्द्धुषेमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव।

(१–२) तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयाऽनादिज्ञेय–परिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति।

यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

समाधान : ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अज्ञानियों की भी समझ में आ जाये – इस उद्देश्य से स्याद्वाद का स्वरूप समझाया जाता है – ऐसा हम कहते हैं; क्योंकि स्याद्वाद के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की सिद्धि–प्रसिद्धि संभव नहीं है।

अब इसी बात को विस्तार से समझाते हैं –

स्वभाव से ही बहुत से भावों (पदार्थों) से भरे इस विश्व में सर्व भावों (पदार्थों) का स्वभाव से (सत्स्वभाव से – अस्तित्व की अपेक्षा – महासत्ता की अपेक्षा) अद्वैत होने पर भी द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तुयें स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों (अस्तित्व और नास्तित्व) से सहित हैं।

आचार्यदेव के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि अनन्त–धर्मात्मक आत्मवस्तु को स्याद्वाद से ही समझा जा सकता है; क्योंकि बिना अपेक्षा के वस्तु के स्वरूप को समझ पाना असंभव है।

अब इसी बात को १४ बोलों द्वारा पहले गद्य में और फिर १४ छन्दों द्वारा पद्य में विस्तार से समझाते हैं।

***(१–२) तत्–अतत्* – जब यह ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) शेष भावों (पदार्थों) के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता–ज्ञेय संबंध के कारण अनादिकाल से ज्ञेयाकार परिणमन के द्वारा ज्ञानतत्त्व (आत्मा) को ज्ञेयरूप (परज्ञेयरूप) जानकर अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव में स्वरूप (ज्ञानरूप) से तत्पना प्रकाशित करके ज्ञातारूप (ज्ञानाकार) परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त (स्याद्वाद) ही उसका उद्धार करता है।**

और जब वही ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) अज्ञानतत्त्व को (आत्मा से भिन्न पदार्थों को) 'वस्तुतः यह सब आत्मा ही है' – इसप्रकार स्वरूप (ज्ञानरूप) से अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है; तब पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके ज्ञान को विश्व से भिन्न दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे (ज्ञानमात्रभाव को) अपना नाश नहीं करने देता।

(३-४) यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन्ने-नेकांत एव तमुज्जीवयति।

यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

(५-६) यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।

यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्येन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

(७-८) यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वक्षेत्रे-णास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।

(३-४) एक-अनेक – एक और अनेक संबंधी तीसरे और चौथे भंग के सन्दर्भ में आत्मख्याति में जो भाव प्रगट किया है; वह इसप्रकार है –

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयाकारों (ज्ञेय के आकारों) के द्वारा अपना सकल (सम्पूर्ण-अखण्ड) एक ज्ञानाकार (ज्ञान के आकार) को खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

और जब यह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञानाकार (ज्ञान के आकार) को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।

(५-६) स्वद्रव्य-परद्रव्य – स्वद्रव्य और परद्रव्य संबंधी पाँचवें और छठवें भंगों की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

जब यह ज्ञानमात्रभाव परद्रव्यों के जाननेरूप परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्यरूप अपने आत्मा को परद्रव्यरूप मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव को स्वद्रव्य से सत्त्व (अस्तित्व) प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

और जब यह ज्ञानमात्रभाव 'सभी ज्ञेयद्रव्य मैं ही हूँ या सभी द्रव्य आत्मा ही हैं' – इसप्रकार परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर अपना नाश करता है; तब परद्रव्य से असत्त्व (नास्तित्व) प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।

(७-८) स्वक्षेत्र-परक्षेत्र – स्वक्षेत्र और परक्षेत्र संबंधी सातवें-आठवें भंग की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

जब यह ज्ञानमात्रभाव परक्षेत्रगत ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

(९-१०) यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।

यदा त्वार्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

(११-१२) यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।

यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

इसीप्रकार जब यह ज्ञानमात्रभाव स्वक्षेत्र में होने के लिए, रहने के लिए, परिणमने के लिए परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है; तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से परक्षेत्रगत से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, अपना नाश नहीं करने देता।

(९-१०) स्वकाल-परकाल – स्वकाल और परकाल संबंधी नौवे-दशवें भंग की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

जब यह ज्ञानमात्रभाव पहले जाने हुए पदार्थों के नष्ट होने पर ज्ञान का भी असत्पना मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वकाल से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है।

जब यह ज्ञानमात्रभाव पदार्थों के जानते समय ही ज्ञान का सत्पना मानकर अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का परकाल से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

(११-१२) स्वभाव-परभाव – अब स्वभाव और परभाव संबंधी ग्यारहवें और बारहवें भंग की चर्चा करते हैं। आत्मख्याति में इन भंगों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

जब यह ज्ञानमात्रभाव जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वभाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

जब यह ज्ञानमात्रभाव 'सर्वभाव मैं ही हूँ' – इसप्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।

(१३-१४) यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति, तदा ज्ञानसामान्य-रूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।

यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेष-रूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।

(१३-१४) नित्य-अनित्य - अब नित्य और अनित्य संबंधी तेरहवें और चौदहवें भंग की चर्चा करते हैं। आत्मख्याति में इन भंगों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य स्वभाव को खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का ज्ञानसामान्यरूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।

आत्मख्याति की आरम्भिक चार पंक्तियों में सामान्यत: सभी पदार्थों पर अस्तित्व और नास्तित्व को घटित किया गया है, परस्पर विरोधी दिखनेवाले धर्मों का एक वस्तु में, एकसाथ रहना दिखाया गया है।

सर्वप्रथम यह कहा गया है कि यह विश्व अनन्त पदार्थों का समुदायरूप है। इसमें अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्यात कालाणु-कालद्रव्य - इसप्रकार अनंतानंत पदार्थों का समूहरूप जो विश्व है, वह सामान्य सत्ता की अपेक्षा, महासत्ता की अपेक्षा, सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा सत् है; फिर भी प्रत्येक द्रव्य का स्वरूपास्तित्व, उनकी अवान्तर सत्ता भिन्न-भिन्न ही है, एक का दूसरे में अभाव ही है।

यही कारण है कि यहाँ यह कहा गया है कि स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति अर्थात् स्व की अपेक्षा अस्तित्व और पर की अपेक्षा नास्तित्व - इसप्रकार अस्तित्व और नास्तित्व - परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों धर्म प्रत्येक वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं; इनके एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

इसके बाद इसी सिद्धान्त को ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य पर घटित किया गया है। कहा गया है कि आत्मा का स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से उसमें स्व और पर - दोनों प्रकार के पदार्थ झलकते हैं। परज्ञेयों के साथ आत्मा का अनिवार्य किन्तु सहज ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है।

अज्ञानी जीव इस वास्तविक स्थिति को तो समझता नहीं और ज्ञान में झलकनेवाले परज्ञेयों के साथ एकत्व-ममत्व स्थापित कर लेता है, उनसे कर्तत्व-भोक्तृत्व जोड़ लेता है। उन ज्ञेयों रूप ही स्वयं को मान स्वयं के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देता है; तब उस ज्ञानमात्र स्वभाव को स्वरूप से तत्पना (अस्तित्व) प्रकाशित करते हुए ज्ञातारूप परिणमन के कारण ज्ञानी बताकर अनेकान्त (स्याद्वाद) ही उसे एकान्तवाद से बचाकर उसका उद्धार करता है।

भवंति चात्र श्लोकाः –

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन–
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति।।२४८।।
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्टवा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन–
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्।।२४९।।

इसीप्रकार जब यह आत्मा आत्मा में झलकनेवाले ज्ञेयों में भी 'ये सब आत्मा ही हैं' – ऐसा मानकर आत्मा का नाश करता है; तब पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके, उनकी स्वयं में नास्ति बताकर, उन्हें अपने से भिन्न बताकर अनेकान्त ही उन्हें अपना नाश नहीं करने देता।

तात्पर्य यह है कि जाननेवाला ज्ञानतत्त्व आत्मा अलग है और उसमें झलकनेवाले ज्ञेयपदार्थ अलग हैं – यह बतानेवाला अनेकान्त ही है और यही ज्ञानियों का जीवन है।

तत्पना और अतत्पना – इन दो बोलों से सम्बन्धित जो दो कलश आत्मख्याति में आये हैं; उनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया निजव्यक्तता से रिक्त जो।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है।।
पर से विमुख हो स्वोन्मुख सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो।
'स्वरूप से ही ज्ञान है' - इस मान्यता से पुष्ट है।।२४८।।
इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है।
अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें।।
अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें।।२४९।।

जो बाह्य पदार्थों द्वारा सम्पूर्णतः पी लिया गया है; ऐसा अज्ञानी–पशु का ज्ञान अपनी व्यक्तिता (प्रकटता) को छोड़ देने से स्वयं में शून्य और पररूप में ही सम्पूर्णतः विश्रांत होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; परन्तु 'जो तत् है, वह स्वरूप से ही तत् है' – ऐसी मान्यता के कारण स्याद्वादी का ज्ञान अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनस्वभाव के भार से सम्पूर्णतः उदित होता है।

'विश्व ज्ञान है अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ ही आत्मा हैं' – ऐसा विचार कर समस्त विश्व को

निजतत्त्व के रूप में देखकर विश्वमय होकर सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी पशु की भाँति स्वच्छन्द चेष्टा करता है और स्याद्वादी ज्ञानी तो यह मानता है कि जो स्वरूप से तत् है, वह पररूप से तत् नहीं है; इसलिए ज्ञानीजन तो विश्व से रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले विश्व से भिन्न निजतत्त्व का स्पर्श करते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मात्र परज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा को ज्ञानस्वरूप माननेवालों के ज्ञान को तो ज्ञेय ही पी गये हैं; क्योंकि उन्होंने पर को जाननेरूप ही अपना अस्तित्व स्वीकार किया है।

यद्यपि आत्मा का स्वभाव पर को भी जानने का है; तथापि उसका अस्तित्व परज्ञेयों के कारण नहीं है; वह तो अपने ज्ञायकभाव से ही तत्स्वरूप है। अपने आत्मा के साथ-साथ परज्ञेयों का जानना भी आत्मा का स्वभाव ही है, उसमें परज्ञेयों का कुछ भी नहीं है। परज्ञेयों का ज्ञान भी परज्ञेयों के कारण नहीं होता; अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण ही होता है। परपदार्थ तो उसमें मात्र ज्ञेयरूप निमित्त हैं।

अधिक परपदार्थों को जाना तो मैं बड़ा हो गया और परपदार्थ थोड़े कम जानने में आये तो मैं छोटा हो गया - ऐसा माननेवालों ने अपना अस्तित्व पर से माना; अत: वे अज्ञानी हैं; क्योंकि आत्मा का अस्तित्व स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। आत्मा का बड़प्पन तो स्वयं को जानने में है, पर को जानने में नहीं।

पर से अपना अस्तित्व माननेवालों को यहाँ अज्ञानी कहा है, पशु कहा है।

पर को जानने के कारण स्वयं को पररूप या विश्वरूप माननेवाले अपने स्वतंत्र अस्तित्व से इन्कार करनेवाले हैं और पर (समस्त विश्व) को जानने के कारण समस्त विश्व को निजरूप माननेवालों ने पर के स्वतंत्र अस्तित्व से इन्कार कर दिया है। अत: वे भी अज्ञानी हैं। उनको भी यहाँ पशु कहा गया है।

इसप्रकार निज को पररूप और पर को निजरूप माननेवाले अज्ञानी हैं और निज को निजरूप और पर को पररूप माननेवाले ज्ञानी हैं।

सबको जानना आत्मा की स्वतंत्र स्वरूपसम्पदा है और ज्ञान का ज्ञेय बनना समस्त पदार्थों की सहज स्वरूपसम्पदा है; इनमें परस्पर कोई पराधीनता नहीं है। इनमें परस्पर पराधीनता स्वीकार करना ही अज्ञान है और सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना ही ज्ञान है।

इसप्रकार यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा स्व की अपेक्षा तत्स्वरूप है और पर की अपेक्षा अतत्स्वरूप है।

उक्त दोनों कलशों में क्रमश: यह कहा गया है कि स्व को पररूप जाननेवाले तथा पर को स्वरूप माननेवाले अज्ञानी हैं और स्व को स्वरूप और पर को पररूप माननेवाले स्याद्वादी ज्ञानी हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ।।२५०।।
ज्ञेयाकारकलंकमेचकमिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ।।२५१।।

अब एक-अनेक संबंधी छन्दों को प्रस्तुत करते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु।
छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से।।
एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दें।
वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें।।२५०।।
जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से।
स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों।।
अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं।
वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित तत्त्व का अनुभव करें।।२५१।।

बाह्यपदार्थों को ग्रहण करने (जानने) के स्वभाव की अतिशयता के कारण चारों ओर प्रगट होनेवाले अनेकप्रकार के ज्ञेयाकारों से छिन्न-भिन्न हो गई है विवेक शक्ति जिसकी; वह अज्ञानी (पशु) पूर्णतः खण्ड-खण्ड होता हुआ नष्ट हो जाता है और अनेकान्त को जाननेवाले ज्ञानी सदा उदित एक द्रव्यत्व के कारण भेद के भ्रम को नष्ट करते हुए जिसका अनुभव निर्बाध है - ऐसे ज्ञान को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

ज्ञेयाकाररूप कलंक से स्वयं को मलिन मानकर उसको धो डालने की कल्पना करता हुआ अज्ञानी प्रगटरूप अनेकाकार ज्ञान को एकाकार करने की इच्छा से अनेकाकार न मानकर नष्ट होता है; परन्तु अनेकान्त को जाननेवाले ज्ञानी पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानते हुए विचित्र (अनेकरूप) होने पर भी अविचित्रता (एकता) को प्राप्त ज्ञान को स्वयं से क्षालित (धुला हुआ) अनुभव करता है।

यद्यपि द्रव्यस्वभाव से ज्ञान एक है, एकाकार है, ज्ञानाकार है; तथापि ज्ञानपर्याय में अनेक ज्ञेय जानने में आते हैं; इसलिए उसे अनेक भी माना गया है। वह ज्ञान अनेकों को जाननेवाला होने से अनेकाकार और ज्ञेयों को जाननेवाला होने से ज्ञेयाकार कहा जाता है।

इसप्रकार ज्ञान एक भी है और अनेक भी है, एकाकार भी है और अनेकाकार भी है, ज्ञानाकार भी है और ज्ञेयाकार भी है। यही एकानेक सम्बन्धी अनेकान्त है।

उक्त अनेकान्त से अपरिचित एकान्तवादी या तो ज्ञान को एक ही मानते हैं या फिर अनेक ही मानते हैं, एकाकार ही मानते हैं या फिर अनेकाकार ही मानते हैं, ज्ञानाकार ही मानते हैं या फिर ज्ञेयाकार ही मानते हैं।

ज्ञान को एक ही माननेवाले एकान्तवादियों का कहना यह है कि अनेक ज्ञेयों को जानने से ज्ञान मलिन हो जाता है; इसकारण ज्ञेयाकारज्ञान अशुद्धि का जनक है; अत: ज्ञान को एक ज्ञानाकार मानना ही ठीक है; पर उन्हें इस बात का पता नहीं है कि अनेक ज्ञेयों को जानना ज्ञान का सहज स्वभाव है, विभाव नहीं; इसकारण अनेक ज्ञेयों को जानने से ज्ञान का मलिन होना संभव ही नहीं।

ज्ञान को अनेक माननेवाले एकान्तवादियों का कहना यह है कि अनेक ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञान अनेक ही दिखाई देता है; अत: वह अनेक ही है, अनेकाकार ही है। इसीप्रकार ज्ञेयों को जानने के अतिरिक्त ज्ञान का और कार्य भी क्या है ? अत: वह ज्ञेयाकार ही है।

स्याद्वादी कहते हैं कि ज्ञान द्रव्यस्वभाव से एकाकार है, ज्ञानाकार है; इसलिए एक भी है और पर्यायस्वभाव से अनेकाकार है, ज्ञेयाकार है; इसलिए अनेक भी है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि ज्ञान एक भी है और अनेक भी है। द्रव्यस्वभाव से एक है और पर्यायस्वभाव से अनेक है। यद्यपि अनेक परज्ञेयों के जानने की अपेक्षा ही ज्ञान अनेक कहा गया है; तथापि अनेक ज्ञेयों के जानने से ज्ञान की एकता खण्डित नहीं होती। इसप्रकार ज्ञान एक होकर भी अनेक है और अनेक होकर भी एक है।

प्रथम और द्वितीय तत् और अतत् संबंधी भंग में स्वरूप से तत् और पररूप से अतत् की अपेक्षा बात स्पष्ट की थी तथा एक और अनेक संबंधी तीसरे और चौथे भंग में अनेक ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञानमात्र भाव को अनेकाकार-ज्ञेयाकार और जाननस्वभाव के कारण एकाकार-ज्ञानाकार कहा गया है।

अब आगामी आठ भंगों में स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, स्वकाल-परकाल और स्वभाव-परभाव संबंधी वस्तुस्थिति स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि दोनों का यह सहज स्वभाव ही है, इसमें किसीप्रकार की पराधीनता नहीं है; तथापि कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि ज्ञान में ज्ञेयों के आ जाने से वे ज्ञेय ज्ञानरूप ही हो गये तथा कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञान ज्ञेयरूप ही हो गया है।

इसप्रकार अज्ञानी तो एक स्व का अपलापक हो जाता है और दूसरा अज्ञानी पर का अपलापक हो जाता है। स्याद्वादी इस परमसत्य को भलीभाँति जानते हैं; अत: दोनों अपेक्षाओं को भलीभाँति जानकर-मानकर परमसत्य को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न : वह कौन-सा परमसत्य है, जिसे जान लेने से स्याद्वादी परमसत्य को प्राप्त कर लेते हैं ?

उत्तर : यही कि पर को जानने मात्र से न तो ज्ञान पररूप होता है और न ज्ञान में जानने में आने से ज्ञेय ज्ञानरूप ही होते हैं; दोनों की सत्ता पूर्णत: भिन्न-भिन्न ही रहती हैं और उनमें परस्पर एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी स्थापित नहीं होता।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति।।२५२।।
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्।।२५३।।

इसप्रकार इन दोनों भंगों में स्वद्रव्य से अस्तित्व और परद्रव्य से नास्तित्व सिद्ध करते हुए अस्ति और नास्ति संबंधी अनेकान्त की स्थापना की गई है। उक्त भंगों संबंधी कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ में।
एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखें नहीं।।
निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें।
वे स्याद्वादी ज्ञान से परिपूर्ण हो जीवित रहें।।२५२।।
सब द्रव्यमय निज आतमा यह जगत की दुर्वासना।
बस रत रहे परद्रव्य में स्वद्रव्य के भ्रमबोध से।।
परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकार कर सब द्रव्य में।
निजज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में।।२५३।।

मात्र प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) दिखाई देनेवाले स्थूल शरीरादि परपदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करने से ठगा गया एकान्तवादी अज्ञानी स्वद्रव्य को देखता ही नहीं है और स्वद्रव्य को नहीं देखने से सभी ओर से शून्य होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

परन्तु स्याद्वादी तो अपने आत्मारूप स्वद्रव्य के अस्तित्व को देखता हुआ, जानता हुआ, स्वीकार करता हुआ; अतिशीघ्र प्रगट हुए विशुद्धज्ञानप्रकाश से पूर्ण होता हुआ जीता है, नाश को प्राप्त नहीं होता।

दुर्वासना से वासित अर्थात् दुर्नय के आग्रह से दुराग्रही अज्ञानी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है, उन्हें ही निजरूप मानकर उन्हीं में जमता-रमता है; किन्तु स्याद्वादी तो समस्त वस्तुओं में परद्रव्यों की नास्ति स्वीकार करता हुआ शुद्धज्ञान की महिमा में ही रत रहता हुआ स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्।।२५४।।
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्।।२५५।।

वस्तुतः बात यह है कि अनादिकाल से इस आत्मा ने निज भगवान आत्मा को तो देखा-जाना नहीं और इन्द्रियों के माध्यम से परपदार्थों को ही देखा जाना है; इसलिए वह पर के अस्तित्व में ही निज का अस्तित्व अनुभव करता है। इसप्रकार स्वयं के अस्तित्व से इन्कार करनेवाला अज्ञानी नाश को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार निज आत्मा को नहीं जाननेवाले कुछ अज्ञानी अपने आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, अपने में जो पर का नास्तित्व है; उससे इन्कार कर देते है।

स्वयं को जानने-देखनेवाले, स्वयं का अनुभव करनेवाले स्याद्वादी ज्ञानी स्वयं का अस्तित्व स्वयं से स्वीकार कर और समस्त परद्रव्यों का स्वयं में अभाव स्वीकार कर आनन्द से निज भगवान आत्मा में रमण करते हैं और सुखी रहते हैं।

अब स्वक्षेत्र-परक्षेत्र संबंधी कलश काव्य लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

परक्षेत्रव्यापी ज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय।
यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन।।
जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें।।२५४।।
मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत।
जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर।।
हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत।
रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़ें नहीं।।२५५।।

सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी अपने से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों के साथ आत्मा का जो सहज सुनिश्चित ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; उसमें प्रवर्तता हुआ आत्मा को सम्पूर्णतः बाहर पड़ता देखकर स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर नाश को प्राप्त होता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि।।२५६।।

किन्तु स्वक्षेत्र के अस्तित्व में रुके हुए वेगवाले स्याद्वादवेदी तो आत्मा में प्रतिबिम्बित ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाले होकर टिके रहते हैं, जीवित रहते हैं, नाश को प्राप्त नहीं होते।

सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी स्वक्षेत्र में रहने के लिए अपने से पृथक् परक्षेत्र में रहे हुए अनेकप्रकार के ज्ञेयपदार्थों को छोड़ने से ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का वमन करता (छोड़ता) हुआ तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है।

किन्तु स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहते हुए और परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानते हुए परक्षेत्र स्थित ज्ञेयपदार्थों को छोड़ते हुए भी परपदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खोजते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को छोड़ते नहीं हैं; इसीकारण तुच्छता को भी प्राप्त नहीं होते, नष्ट नहीं होते, जीवित रहते हैं।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि कुछ अज्ञानी तो अपने से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान को परक्षेत्ररूप ही मानकर स्वक्षेत्र के अस्तित्व से इनकार कर देते हैं और कुछ लोग स्वक्षेत्र में रहने की भावना से परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेयों के वमन के साथ-साथ उन्हें जाननेवाले ज्ञान का भी वमन कर देते हैं। - इसप्रकार दोनों एकान्तवादी नाश को प्राप्त होते हैं; किन्तु स्याद्वादी स्वक्षेत्र से अपना अस्तित्व स्वीकार करते हुए परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानकर भी उनसे अपना नास्तित्व स्वीकार करके उन्हें जाननेवाले ज्ञान को नहीं छोड़ते हैं। - इसप्रकार वे जीवित रहते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन में मूल बात यह है कि ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के ज्ञान में परक्षेत्ररूप ज्ञेय झलकते हैं और उन्हें देखकर यह अज्ञानी जीव या तो स्वयं को परक्षेत्ररूप मान लेता है या परक्षेत्र को निजरूप मान लेता है। - इसकी यह मान्यता ही अज्ञान है, एकान्त है।

स्याद्वादी ज्ञानी यह जानते हैं कि परज्ञेयों के क्षेत्र, प्रदेश या आकार जीव के ज्ञान में झलकते तो हैं; पर न तो वे जीवरूप होते हैं और न जीव ही उन रूप होता है। ज्ञान उन्हें जानता तो है, पर उन रूप नहीं होता। इसीप्रकार परक्षेत्ररूप ज्ञेय ज्ञान में झलकते तो हैं; पर वे भी ज्ञानरूप नहीं होते।

ज्ञान परक्षेत्र को जानकर भी स्वक्षेत्र में रहता है और परक्षेत्ररूप ज्ञेय ज्ञान में झलक कर भी अपने क्षेत्र में ही रहते हैं, ज्ञान के क्षेत्र में नहीं आते।

इसप्रकार ज्ञान और उसमें झलकनेवाले परज्ञेय - दोनों की सत्ता और क्षेत्र पृथक्-पृथक ही हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ।।२५७।।

अब स्वकाल-परकाल संबंधी कलश काव्य लिखते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(हरिगीत)

निजज्ञान के अज्ञान से गतकाल में जाने गये।
जो ज्ञेय उनके नाश से निज नाश मानें अज्ञजन।।
नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे।
निजकाल से अस्तित्व है - यह जानते हैं विज्ञजन।।२५६।।
अर्थावलम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है।
यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें।।
परकाल से नास्तित्व लखकर स्याद्वादी विज्ञजन।
ज्ञानमय आनन्दमय निज आतमा में दृढ़ रहें।।२५७।।

जिन्हें पहले जाना था - ऐसे ज्ञेय पदार्थों के नाश के काल में ज्ञान का भी नाश मानता हुआ सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञानवस्तु को कुछ भी नहीं जानता है। तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा के अस्तित्व को भी नहीं जानता - ऐसा एकान्तवादी अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

परन्तु स्याद्वादी ज्ञानी तो अपने आत्मा का निजकाल से अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेय वस्तुओं के बार-बार उत्पन्न हो-होकर नाश होने पर भी स्वयं पूर्ण रहता है।

ज्ञेयपदार्थों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व मानता हुआ अज्ञानी बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन के लिए लालायित चित्त से बाह्य में भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वाद का ज्ञाता तो परकाल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, आत्मा में दृढ़ता से रहता हुआ और नित्य सहज ज्ञानपुंजरूप वर्तता हुआ रहता है, नाश को प्राप्त नहीं होता।

अनादि से लेकर अनन्तकाल तक तीनकाल के जितने समय होते हैं; प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की उतनी ही पर्यायें होती हैं। आत्मा के ज्ञानगुण की पर्यायें भी उतनी ही हैं, जितने तीनकाल के समय हैं और प्रत्येक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय सुनिश्चित है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान की किस समय की पर्याय में कौन ज्ञेय जाना जायेगा - यह अनादि से ही सुनिश्चित है और यह सुनिश्चितपना किसी के द्वारा किया हुआ नहीं है, स्वयं से सहजसिद्ध है। ज्ञान की प्रत्येक पर्याय की योग्यता में उसका ज्ञेय भी शामिल है।

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ।।२५८।।

इसमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान की प्रतिसमय होनेवाली पर्याय का ज्ञेय का सुनिश्चितपना ज्ञान की उक्त पर्याय का सहज स्वभाव है और जो ज्ञेय उसमें जाना गया है, जाना जा रहा है या जाना जायेगा; उस ज्ञेय का उक्त पर्याय में जानने में आना – यह उक्त ज्ञेय का सहजस्वभाव है।

जाननेवाली ज्ञानपर्याय और जानने में आनेवाले ज्ञेय में परस्पर कोई पराधीनता नहीं है, कारण-कार्यपना नहीं है।

ऐसी स्थिति में ज्ञेय से ज्ञान की उत्पत्ति की बात ही कहाँ रहती है और ज्ञेय के अभाव से ज्ञान के अभाव की बात भी कहाँ ठहरती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वकाल-परकाल संबंधी भंगों के संदर्भ में हुई सम्पूर्ण चर्चा का सार यह है कि कुछ एकान्तवादी अज्ञानी तो भूतकाल में जाने हुए ज्ञेयपदार्थों के नाश के साथ-साथ उन्हें जाननेवाले ज्ञान का भी नाश मानकर अपना नाश करते हैं और कुछ एकान्तवादी अज्ञानी ऐसा मानकर नाश को प्राप्त होते हैं कि ज्ञान जब ज्ञेयों को जानता है, तभी वह सत्स्वरूप है; इस मान्यता के कारण परज्ञेयों के जानने में ही उलझकर रह जाते हैं।

स्याद्वादी ज्ञानी तो परज्ञेयों के काल से अपना नास्तित्व मानते हैं, अपने काल से ही अपना अस्तित्व मानते हैं। इसलिए अपने में ही रहते हुए ज्ञानपुंज रहते हैं, अपना नाश नहीं होने देते।

अब स्वभाव-परभाव संबंधी कलश काव्य लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

परभाव से निजभाव का अस्तित्व मानें अज्ञजन।
पर में रमें जग में भ्रमें निज आतमा को भूलकर।।
पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमें निजभाव में।
बस इसलिए इस लोक में वे सदा ही जीवित रहें।।२५८।।

एकान्तवादी अज्ञानी परभावों से अपना भाव (अस्तित्व) मानने के कारण बाह्यवस्तुओं में ही विश्राम करता हुआ अपने स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़ जैसा) होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वादी तो अपने सुनिश्चित स्वभाव से ही अपना अस्तित्व मानने के कारण परभावों से भिन्न वर्तता हुआ अपने सहज स्वभाव को स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जीवित रहता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युत:
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभय: स्वैरं पशु: क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा–
दारूढ: परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपित: ।।२५९।।

(हरिगीत)

सब ज्ञेय ही हैं आतमा यह मानकर स्वच्छन्द हो।
परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों।।
पर स्याद्वादी तो सदा आरूढ़ हैं निजभाव में।
विरहित सदा परभाव से विलसें सदा निष्कम्प हो।।२५९।।

एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञेयरूप से जाने गये सभी परपदार्थों में अपनापन स्थापित करके अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ सभी परभावों में स्वच्छन्दतया क्रीड़ा करता है; किन्तु परभावों से अपना अस्तित्व नहीं मानता हुआ स्याद्वादी तो अपने स्वभाव में आरूढ़ होता हुआ निष्कम्प वर्तते हुए अत्यन्त शुद्ध सुशोभित होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन स्वभाव और परभाव संबंधी भंगों में यही बताया गया है कि जाननेरूप अपने ज्ञानभाव में जानने में आनेवाले परज्ञेयों के कारण कुछ अज्ञानी एकान्तवादियों को तो ऐसा लगता है कि इन ज्ञेयों को जानने के कारण, ज्ञेयाकाररूप परिणमित हो जाने के कारण यह भगवान आत्मा भी ज्ञेयरूप ही हो गया है। इसप्रकार आत्मा की स्वतंत्र सत्ता से इनकार करने के कारण अपने स्वभाव से अपने अस्तित्व को न स्वीकारते हुए वे अज्ञानी नाश को प्राप्त होते हैं।

इसीप्रकार कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि हमारे ज्ञान में जब सभी पदार्थ आ गये, जाने गये तो वे हमारे ही हो गये। इसप्रकार सर्व पदार्थों को स्व के रूप में स्वीकार करनेवाले ये लोग नास्तित्व धर्म से इनकार करते हैं; जबकि परभावों की तो आत्मा में नास्ति है; परन्तु ये लोग उन परभावों को स्व में अस्तिरूप स्वीकार कर रहे हैं। इसप्रकार नास्तित्व के इनकार से एकान्तवादी हो रहे हैं।

इसप्रकार कुछ अज्ञानी तो जानने में आनेवाले ज्ञेयपदार्थों में अपनापन स्थापित करके अपने स्वभाव के अस्तित्व से इनकार करके एकान्ती हो गये हैं और कुछ अज्ञानी ज्ञेयों को अपना स्वभाव मानकर परभाव के नास्तित्व से इनकार करके एकान्ती हो गये हैं।

स्वभाव (ज्ञानस्वभाव) से अस्तित्व और ज्ञेयरूप परभावों से नास्तित्व स्वीकार करनेवाले स्याद्वादी अनेकान्तवादी होकर जीवित रहते हैं अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रादुर्भाव–विराम–मुद्रित–वहज्ज्ञानांश–नानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ।।२६०।।

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
दाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन्।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृंशश्चिस्तुवृत्तिक्रमात् ।।२६१।।

अब नित्यानित्य संबंधी कलशों की चर्चा करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय के रूप में बहते हुए परिणाम लख।
क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन।।
चैतन्यमय निज आतमा क्षणभंग है पर नित्य भी-
यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन।।२६०।।
है बोध जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से।
चिद्परिणति निर्मल उछलती से सतत् इनकार कर।।
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन।
अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें।।२६१।।

एकान्तवादी अज्ञानी उत्पाद–व्यय से लक्षित और परिणमित होते हुए ज्ञान की अंशरूप अनेकता के द्वारा ही आत्मा का निर्णय करता हुआ क्षणभंगुरता के मोह में पड़कर प्रायः नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वादी चैतन्यात्मक निज आत्मवस्तु को नित्योदित और टंकोत्कीर्ण ज्ञानघनरूप अनुभव करता हुआ जीवित रहता है।

एकान्तवादी अज्ञानी टंकोत्कीर्ण विशुद्धज्ञानविस्ताररूप सर्वथा नित्य आत्मतत्त्व की आशा से उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न आत्मतत्त्व चाहता है; किन्तु ऐसा आत्मा तो कहीं है ही नहीं। स्याद्वादी तो चैतन्यवस्तु की परिणति के द्वारा आत्मा की अनित्यता को अनुभव करता हुआ नित्य ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल अनुभव करता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का मर्म यह है कि आत्मवस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है; वह नित्यानित्य है। ऊपर–ऊपर से मात्र पर्यायों को देखनेवाले जैनी अनित्यैकान्तवादी बौद्धों के समान आत्मा को सर्वथा अनित्य मान लेते हैं। इसीप्रकार पर्यायों की अनित्यता को अनिष्टबुद्धि से देखनेवाले जैनी नित्यैकान्तवादी सांख्यों के समान आत्मा को सर्वथा नित्य ही मान लेते हैं।

स्याद्वादी कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिकनय से आत्मा अनित्य है; इसप्रकार आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। आत्मा में नित्यत्व और अनित्यत्व – दोनों ही धर्म विद्यमान हैं; अत: वह नित्यानित्य है। – ऐसा माननेवाले स्याद्वादी वस्तु के सत्यस्वरूप को प्राप्त कर अनन्त सुखी होते हैं और उक्त दोनों एकान्तवादी वस्तुस्वरूप से अपरिचित रहने के कारण सच्चे सुख से वंचित रहते हैं।

स्याद्वाद संबंधी उक्त १४ भंगों के संदर्भ में जो कुछ भी कहा गया है; उक्त सम्पूर्ण कथन का मूल आधार एकमात्र यही है कि ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है; इसकारण उसमें स्व और पर सभीप्रकार के अनंत ज्ञेय पर्यायगत योग्यता के अनुसार निरन्तर जानने में आते रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानपर्याय में परज्ञेयों के जानने को किसी भी स्थिति में रोकना संभव नहीं है; क्योंकि वह ज्ञानपर्याय का सहजस्वाभाविक परिणमन है।

यद्यपि परज्ञेयों का ज्ञान में जानने में आना कोई अपराध नहीं है, विभाव नहीं है; तथापि कुछ एकान्तवादी अज्ञानी तो ऐसा मान लेते हैं कि ज्ञान की सार्थकता उक्त ज्ञेयों के जानने में ही है, ज्ञान का अस्तित्व ही उनके जानने में है। मानो उनको जाने बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। – इसप्रकार वे परज्ञेयों से अपना अस्तित्व मानकर एकप्रकार से स्वयं के स्वाधीन अस्तित्व से ही इनकार कर देते हैं। ऐसे लोग स्वतंत्र निज अस्तित्व के अपलापी एकान्तवादी हैं।

ऐसे लोग मात्र अन्यमतवादी ही नहीं हैं, अपने को आध्यात्मिक माननेवाले जैनियों में भी ऐसे लोग हैं। क्या ऐसे लोगों की कमी है जो ऐसा मानते हैं कि मैं डॉक्टर हूँ, इन्जीनियर हूँ, शास्त्री हूँ, न्यायतीर्थ हूँ; यदि मुझे शास्त्रों का ज्ञान नहीं होता तो मैं एकप्रकार से कुछ भी नहीं था। बाह्यपदार्थों के ज्ञान से अपना अस्तित्व माननेवाले लोग कहीं भी मिल जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि भाई तेरा अस्तित्व तो तेरे से है, पर को जानने से नहीं।

इसके विरुद्ध कुछ अज्ञानी ऐसे हैं कि जो ऐसा मानते हैं कि जो-जो परपदार्थ मेरे जानने में आते हैं, मानो वे मेरे ही हैं। इसप्रकार परज्ञेयों को निजरूप माननेवाले लोग ज्ञान में परज्ञेयों के नास्तित्व से इनकार करनेवाले लोग हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान में परज्ञेय जानने में तो आते हैं; किन्तु परज्ञेयों के जानने में परज्ञेयों का रंचमात्र भी योगदान नहीं है, रंचमात्र भी ज्ञेयाधीनता नहीं है।

ज्ञान का अस्तित्व स्वरूप से ही है तथा परज्ञेय ज्ञान में जानने में आने से वे ज्ञानरूप नहीं हो जाते; ज्ञान में तो उनकी नास्ति ही रहती है।

इसलिए न तो परज्ञेयों को जानने का निषेध करने की आवश्यकता है और न उन्हें जानने में आने के कारण उन्हें निजरूप मानने की ही आवश्यकता है। यही स्वरूप से अस्ति और पररूप से नास्ति का वास्तविक अर्थ है।

यहाँ इसी मूल धारणा के आधार पर ही १४ प्रकार के एकान्तों का निषेध कर स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

(अनुष्टुभ्)

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ।।२६२।।
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ।।२६३।।

इन १४ भंग और तत्संबंधी कलशों के उपरान्त अब इस प्रकरण का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र दो कलश लिखते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह, ज्ञानमात्र समझाय।
अनेकान्त अनुभूति में, उतरा आतमराय ।।२६२।।
अनेकान्त जिनदेव का, शासन रहा अलंघ्य।
वस्तुव्यवस्था थापकर, थापित स्वयं प्रसिद्ध ।।२६३।।

इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानविमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।

इसप्रकार जिनदेव का अलंघ्य शासनरूप अनेकान्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्था द्वारा स्वयं को स्थापित करता हुआ स्वयं व्यवस्थित हो गया।

इसप्रकार इन समापन के कलशों में मात्र यही कहा गया है कि स्याद्वाद के माध्यम से समझने पर 'ज्ञानमात्र आत्मा'– इस कथन का वास्तविक आशय अत्यन्त विमूढ़ अज्ञानियों की भी समझ में सहज ही आ जाता है।

यह स्याद्वाद जिनेन्द्र भगवान का अलंघ्य शासन है, अभेद्य किला है; जिसका न तो कोई उल्लघंन कर सकता है और न इसे किसी के द्वारा भेदा ही जा सकता है।

यह स्याद्वाद वस्तुव्यवस्था को भलीभाँति स्पष्ट करके, स्थापित करके स्वयं स्थापित हो गया है। तात्पर्य यह है कि इस स्याद्वाद ने वस्तुस्वरूप को इसप्रकार समझाया है, सिद्ध किया है, स्थापित किया है कि जिससे न केवल वस्तुस्वरूप की व्यवस्था ही स्पष्ट हुई है; अपितु यह स्याद्वाद का सिद्धान्त भी स्वयं स्थापित हो गया, विद्वज्जनों को सर्वमान्य हो गया है।

जब स्याद्वादाधिकार आरंभ किया गया था, तब आचार्यदेव ने इसे सर्वज्ञ भगवान का अस्खलित शासन कहा था और यहाँ अब समापन के प्रसंग पर इस स्याद्वाद को उन्हीं सर्वज्ञ भगवान का अलंघ्य शासन कहा जा रहा है।

तात्पर्य यह है कि न तो इस अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्त में कहीं कोई स्खलन है और न इसका उल्लंघन ही किया जा सकता है। वस्तुतः बात यह है कि यह अनेकान्त सिद्धान्त तथा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली संपूर्णतः अस्खलित है, अलंघ्य है, अकाट्य है और अद्भुत है।

सैंतालीस शक्तियाँ

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्ध-र्चर्थम्। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं, तदसाधारणगुणत्वात्। तेन ज्ञानप्रसिद्धया तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः।

ननु किमनया लक्षणप्रसिद्धया, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम्। नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः।

ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्धया ततो भिन्नं प्रसिध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्र-व्यत्वेनाभेदात्।

तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ?

मंगलाचरण

(दोहा)

अनंत शक्तियाँ उल्लसित, यद्यपि आतमराम।
ज्ञानमात्र के ज्ञान को, सैंतालीस बखान।।

इसके बाद आत्मख्याति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ज्ञानमात्र आत्मा का जो अनेकान्तात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है; वह इसप्रकार है –

''प्रश्न : अनेकान्तात्मक होने पर भी यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा गया है; क्योंकि ज्ञानमात्र कहने से तो ज्ञान को छोड़कर अन्य धर्मों-गुणों का निषेध समझा जाता है।

उत्तर : लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि-सिद्धि करने के लिए यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जा रहा है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यों में ज्ञान नहीं पाया जाता है। इसलिए ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से ज्ञान के लक्ष्यभूत आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है, प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न : इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है, क्या लाभ है ? मात्र लक्ष्य ही प्रसिद्धि करने योग्य है, लक्ष्यभूत आत्मा की प्रसिद्धि करना ही उपयोगी है; क्योंकि आत्मा का कल्याण तो आत्मा के जानने से होगा।

उत्तर : जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो; उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है; उसे ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। यही कारण है कि पहले लक्षण को समझाते हैं, तदुपरान्त लक्षण द्वारा लक्ष्य को समझायेंगे।

प्रश्न : ज्ञान से भिन्न ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा प्रसिद्ध किया जाता है ?

उत्तर : ज्ञान से भिन्न कोई लक्ष्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान और आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न ही हैं।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है ?

प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः।

ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वम् ?

परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तयः उत्प्लवंते।

उत्तर : प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है; क्योंकि ज्ञानमात्र के स्वसंवेदन से सिद्धपना है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान सभी प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है। इस प्रसिद्ध ज्ञान लक्षण से उसके साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाला अनंत धर्मों के समूहरूप आत्मा प्रसाध्यमान है।

इसलिए ज्ञानमात्र में अचलित स्थापित दृष्टि के द्वारा कुछ क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान एवं उस ज्ञान के साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाला अनन्तधर्मों के समुदायरूप जो भी लक्षित होता है, पहिचाना जाता है; वह सब वास्तविक आत्मा है। यही कारण है कि यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

प्रश्न : अरे भाई ! जिस आत्मा में क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्तधर्म हैं; उस आत्मा को ज्ञानमात्र कैसे कहा जा सकता है ? उसमें ज्ञानमात्रता किसप्रकार घटित होती है ?

उत्तर : परस्पर भिन्न अनंत धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्रभावरूप स्वयं होने से यह भगवान आत्मा ज्ञानमात्रभावरूप है। यही कारण है कि उसमें ज्ञानमात्रभाव की अन्तःपातिनी अनंत शक्तियाँ उछलती हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के अनंत धर्मों में परस्पर लक्षणभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा के एक परिणाम में सभी गुणों का परिणमन रहता है। यही कारण है कि आत्मा के एक ज्ञानमात्रभाव में अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, परिणमित होती हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि इस भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं, अनंत धर्म हैं, अनंत शक्तियाँ हैं, अनंत स्वभाव हैं। यद्यपि यह भगवान आत्मा इन सबका अखण्ड पिण्ड है; तथापि उसे यहाँ ज्ञानमात्र कहा जा रहा है; क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान आत्मा का लक्षण है। ज्ञानलक्षण से जो लक्ष्यभूत आत्मा लक्षित किया जाता है, पहिचाना जाता है, जाना जाता है; वह आत्मा ज्ञानमात्र कहे जाने पर भी अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड है, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगलों का अखण्ड पिण्ड है, अनंत स्वभावों का स्वभाववान है और उछलती हुई अनंत शक्तियों का संग्रहालय है।

यहाँ आत्मा को जानने का काम भी ज्ञान करता है और वह आत्मा ज्ञानलक्षण से ही जाना-पहिचाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा ज्ञानपर्याय में जानने में आता है। लक्षण भी ज्ञान और उस लक्षण से आत्मा की पहिचान भी ज्ञान ही करता है।

अरे भाई ! परिणमित ज्ञान आत्मा का लक्षण है और ज्ञान परिणमन ही आत्मा को जानता है।

प्रश्न : जब आत्मा में अनन्त गुण हैं तो उसे ज्ञानमात्र क्यों कहा ? क्या ज्ञानमात्र के समान आत्मा को सुखमात्र भी कहा जा सकता है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है और लक्षण से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का एकमात्र यही कारण है।

'ज्ञानमात्र' पद के प्रयोग के संदर्भ में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

१. पहली बात तो यह कि 'ज्ञानमात्र' पद से ज्ञान के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले गुणों का निषेध इष्ट नहीं है; अपितु पर और विकारी भावों का निषेध ही इष्ट है।

२. दूसरी बात यह है कि अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड होने के आधार पर आत्मा को सुखमात्र, वीर्यमात्र आदि न कहकर ज्ञानमात्र इसलिए कहा गया है कि ज्ञान आत्मा का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव – इन तीनों दोषों से रहित निर्दोष लक्षण है; आत्मा की पहिचान का चिह्न है।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यह भगवान आत्मा अनंत शक्तियों का संग्रहालय है; इसमें अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं; तो वे अनन्त शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?

अरे भाई ! क्या अनन्त को भी गिनाया जा सकता है ?

न सही अनन्त, पर कुछ तो बताइये न !

इसी प्रश्न के उत्तर में आगे ४७ शक्तियों की चर्चा की गई है; जो इसप्रकार है–

१. जीवत्वशक्ति २. चितिशक्ति ३. दृशिशक्ति ४. ज्ञानशक्ति ५. सुखशक्ति ६. वीर्यशक्ति ७. प्रभुत्वशक्ति ८. विभुत्वशक्ति ९. सर्वदर्शित्वशक्ति १०. सर्वज्ञत्वशक्ति ११. स्वच्छत्वशक्ति १२. प्रकाशशक्ति १३. असंकुचित-विकासत्वशक्ति १४. अकार्यकारणत्वशक्ति १५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति १६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति १७. अगुरुलघुत्वशक्ति १८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति १९. परिणामशक्ति २०. अमूर्तत्वशक्ति २१. अकर्तृत्वशक्ति २२. अभोक्तृत्वशक्ति २३. निष्क्रियत्वशक्ति २४. नियतप्रदेशत्वशक्ति २५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति २६. साधारण-असाधारणसाधारणासाधारण-धर्मत्वशक्ति २७. अनन्तधर्मत्वशक्ति २८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति २९. तत्त्वशक्ति ३०. अतत्त्वशक्ति ३१. एकत्वशक्ति ३२. अनेकत्वशक्ति ३३. भावशक्ति ३४. अभावशक्ति ३५. भाव-अभावशक्ति ३६. अभाव-भावशक्ति ३७. भाव-भावशक्ति ३८. अभाव-अभावशक्ति ३९. भावशक्ति ४०. क्रियाशक्ति ४१. कर्मशक्ति ४२. कर्तृत्वशक्ति ४३. करणशक्ति ४४. सम्प्रदानशक्ति ४५. अपादानशक्ति ४६. अधिकरणशक्ति ४७. संबंधशक्ति।

यद्यपि प्रत्येक शक्ति का स्वतंत्ररूप से अनुशीलन अपेक्षित है; तथापि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो सभी शक्तियों पर समानरूप से घटित होते हैं; इसकारण उनका स्पष्टीकरण आरंभ में ही अपेक्षित है। उक्त तथ्यों के जान लेने से सभी शक्तियों को समझने में सुविधा रहेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावों में कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय निमित्त होता है; किन्तु पारिणामिकभाव में कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है। जीव की इन शक्तियों में भी कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है; इसकारण ये सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं।

दूसरी बात यह है कि इन शक्तियों के प्रकरण में जिस भगवान आत्मा की बात चल रही है; उस भगवान आत्मा में आत्मद्रव्य के साथ-साथ उसमें विद्यमान अनंत गुण और उनका निर्मल परिणमन शामिल है। ध्यान रहे, निर्मल परिणमन (पर्यायें) तो शामिल है, पर विकारी परिणमन शामिल नहीं है।

यद्यपि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं; तथापि यहाँ उछलती हुई शक्तियों की बात कही गई है; इसकारण यहाँ निर्मलपर्याय को भी शामिल करके बात हो रही है। उछलने का आशय मात्र परिणमन नहीं; अपितु निर्मल परिणमन है। शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं और उनका उछलना अर्थात् निर्मल परिणमन औपशमिक और क्षायिकभावरूप है तथा सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशमभावरूप भी है।

ध्यान रहे, औपशमिक और क्षायिकभाव तो सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं; किन्तु क्षयोपशमभाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ औपशमिक, क्षायिक और सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भावों को निर्मल परिणमन कहा गया है।

उक्त भावों रूप परिणमित होना ही शक्तियों का उछलना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शक्तियाँ मूलत: तो पारिणामिकभाव रूप ही हैं, पर उनका परिणमन ज्ञानियों के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभावरूप है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब निर्मल परिणमन को उछलती हुई शक्तियों में शामिल कर लिया तो फिर विकारी परिणमन को भी शामिल कर लेना चाहिए; क्योंकि वह विकारी परिणमन भी तो आखिर उसी का है और ज्ञानियों के भी होता ही है।

यद्यपि विकारी परिणमन भी उसी का है और वह ज्ञानियों के भी होता है; तथापि वह शक्तिरूप नहीं, कमजोरीरूप है। क्या कमजोरी को भी शक्तियों में शामिल किया जा सकता है?

यद्यपि अज्ञानियों को भूल से और ज्ञानियों को कमजोरी के कारण रागादि पाये जाते हैं; तथापि उन्हें उछलना तो नहीं कहा जा सकता, उल्लसित होना तो नहीं कहा जा सकता।

यही कारण है कि विकारी परिणमन को उछलती हुई शक्तियों में शामिल नहीं किया गया है।

तीसरी बात यह है कि इन शक्तियों में परस्पर प्रदेशभेद नहीं होने पर भी भावभेद है, लक्षणभेद है। यद्यपि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; तथापि एक शक्ति में दूसरी शक्ति का रूप अवश्य है; जिसके कारण वे सभी शक्तियाँ परस्परानुबिद्ध हैं।

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।

प्रश्न : 'एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; फिर भी एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में है' – इसका भाव ख्याल में नहीं आया। इसे जरा विस्तार से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : विस्तार से स्पष्टीकरण तो इन शक्तियों के विशेष अनुशीलन में यथास्थान होगा; किन्तु संक्षेप में आशय यह है कि यदि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप हो तो फिर दोनों एक ही हो जायेंगी, उनमें परस्पर प्रदेशभेद तो है ही नहीं, भावभेद भी नहीं रहेगा।

इसीप्रकार यदि एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में, उनकी निर्मल पर्यायों में तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न मानें तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बनेगा।

जीवत्वशक्ति का रूप यदि अन्य शक्तियों में न हो; उनकी निर्मल पर्यायों में न हो तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न हो तो फिर शेष शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व आत्मद्रव्य अजीव हो जायेंगे। इसीप्रकार उनमें चितिशक्ति का रूप नहीं मानने पर आत्मद्रव्य की शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व उनका आधारभूत द्रव्य सभी जड़ हो जायेंगे; दृशि और ज्ञानशक्ति के रूप से इनकार करने पर सभी ज्ञान-दर्शन से रहित अचेतन हो जायेंगे। यहाँ तक कि प्रमेयत्वशक्ति के रूप को अस्वीकार करने पर सभी अप्रमेय हो जाने से जानने में ही नहीं आयेंगे।

इसीप्रकार सभी शक्तियों के संदर्भ में घटित किया जा सकता है।

आत्मा की अनंत शक्तियों में परस्पर प्रत्येक शक्ति का रूप अन्य शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा जीव है, चेतन है, ज्ञान-दर्शनमय है, प्रमेय है, त्यागोपादानशून्य है। इसप्रकार प्रत्येक शक्ति, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड आत्मा अनंत शक्तिसंपन्न है, अनंत शक्तियों का संग्रहालय है और अनंत गुणों का गोदाम है।

अब प्रत्येक शक्ति का विवेचन प्रसंगप्राप्त है; जो इसप्रकार है –

१. जीवत्वशक्ति

अब आचार्य अमृतचन्द्र जीवत्वशक्ति के बारे में लिखते हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है–

आत्मद्रव्य के हेतुभूत चैतन्यभाव को धारण करना है लक्षण जिसका, वह जीवत्वशक्ति है।

इस जीवत्वशक्ति के बीज समयसार की दूसरी गाथा में विद्यमान हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि जीव का लक्षण चेतना है। चेतना ही जीव के भावप्राण हैं और उसके कारण ही इस जीव नामक पदार्थ का जीवन है। पंचास्तिकाय में निश्चय से जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो जीता था, जीता है और जियेगा; वही जीव है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव अपने जीवन के लिए परपदार्थों पर निर्भर नहीं है। इसमें चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है, जीवनशक्ति है; इसके कारण ही यह सदा जीवित रहा है अर्थात् अबतक जीवित रहा है, अभी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगा।

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः। अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः, साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

ध्यान रहे, इस जीवत्वशक्ति के कारण ही आत्मवस्तु का नाम जीव पड़ा है। यह जीव न तो आहार-पानी से जीता है और न आयुकर्म के उदय से ही जीता है; इसके जीवन का आधार तो जीवत्वशक्ति है।

सांसारिक अवस्था में देह के संयोगरूप जीवन में भी आहार-पानी बहिरंग निमित्त और आयुकर्म का उदय अन्तरंग निमित्त है; उपादान तो जीव की पर्यायगत योग्यता ही है।

इस जीव को मरणभय ही सर्वाधिक परेशान करता है; इसलिए आचार्यदेव ने सबसे पहले जीवत्वशक्ति की चर्चा करके इसके मरणभय को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

इसप्रकार जीवत्वशक्ति की चर्चा कर अब चितिशक्ति की चर्चा करते हैं –

२. चितिशक्ति

चितिशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – **अजड़त्व अर्थात् जड़रूप नहीं होना, चेतनरूप होना है लक्षण जिसका, उसे चितिशक्ति कहते हैं।**

जीवत्वशक्ति से सम्पन्न आत्मा में चिति नामक एक ऐसी भी शक्ति है, जिसके कारण यह आत्मा जड़रूप नहीं है या जड़रूप नहीं होता। यही कारण है कि इस चितिशक्ति को अजड़त्वात्मिका कहा है, अजड़रूप कहा है।

यह भगवान आत्मा जीवत्वशक्ति के कारण जीव है और चितिशक्ति के कारण अजीव नहीं है, जड़ नहीं है। चितिशक्ति यह बताती है कि तू देहरूप नहीं है और जीवत्वशक्ति यह बताती है कि देह के संयोग से तेरा जीवन नहीं है, तेरा जीवन तो चैतन्यरूप भावप्राणों से है।

यह चितिशक्ति अर्थात् चैतन्यरूप रहना आत्मा का लक्षण है और जीवत्वशक्ति इस लक्षण से लक्षित किया जानेवाला, पहिचाना जानेवाला लक्ष्य है।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि यह जीव जीवत्वशक्ति से जीवित रहता है और चितिशक्ति से चेतनरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता।

अब आगे दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति की चर्चा करते हैं –

३-४. दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति

दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है और साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं हैं; ऐसे दर्शनोपयोगमयी सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप दर्शनक्रियारूप दृशिशक्ति है और जो ज्ञेयपदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है; वह ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः।

ध्यान रहे, यहाँ शक्तियों का प्रकरण होने से सामान्य अवलोकनरूप दर्शन गुण को दृशिशक्ति और विशेष जाननेरूप ज्ञानगुण को ज्ञानशक्ति कहा गया है।

इसप्रकार जीवत्वशक्ति में यह बताया था कि यह आत्मा त्रिकाल अपने चेतनप्राणों से जीवित रहता है और चितिशक्ति में यह बताया था कि वह जड़रूप नहीं होता तथा अब इन दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि आत्मा का वह चेतनस्वरूप सामान्यग्राही दर्शनोपयोग और विशेषग्राही ज्ञानोपयोगरूप है।

यह भगवान आत्मा लक्ष्यरूप जीवत्वशक्ति, लक्षणरूप चितिशक्ति और चितिशक्ति के ही विशेष देखने-जाननेरूप उपयोगमयी दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होता है।

इस भगवान आत्मा को जीवत्वशक्ति के कारण जीव, चितिशक्ति के कारण चेतन और ज्ञान व दृशिशक्ति के कारण ज्ञाता-दृष्टा कहा जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारे मूल प्रयोजनभूत जीवतत्त्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप अब धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है।

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति की चर्चा करने के बाद अब सुखशक्ति की चर्चा करते हैं -

५. सुखशक्ति

सुखशक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं -

अनाकुलता लक्षणवाली सुखशक्ति है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनाकुलत्व लक्षणवाली यह सुखशक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए ४७ शक्तियों के निरूपण में जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति के तत्काल बाद इसकी चर्चा की गई है। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना तो भगवान आत्मा का लक्षण है; अतः उनकी चर्चा तो सर्वप्रथम होनी ही चाहिए थी। आत्मा को सच्चिदानन्द कहा जाता है। सत् में जीवत्व, चित् में चिति और ज्ञान-दर्शन तथा आनन्द में सुखशक्ति आ जाती है। इसप्रकार सच्चिदानन्द में आरंभ की पाँच शक्तियाँ आ जाती हैं।

यद्यपि आत्मा में जो अनंत शक्तियाँ हैं, वे सब भगवान आत्मा में एकसाथ ही रहती हैं, उनमें आगे-पीछे का कोई क्रम नहीं है; तथापि कहने में तो क्रम पड़ता ही है; क्योंकि सभी को एकसाथ कहना तो संभव है नहीं।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि किस शक्ति को पहले रखें और किसको बाद में; फिर भी 'वस्तुस्वरूप आसानी से समझ में आ जाये' -इस दृष्टि से प्रस्तुतीकरण में आचार्यदेव एक क्रमिक विकास तो रखते ही हैं।

सुखशक्ति में श्रद्धाशक्ति और चारित्रशक्ति भी शामिल समझनी चाहिए; क्योंकि ४७ शक्तियों में श्रद्धा और चारित्रशक्ति का नाम नहीं है। सुखशक्ति के निर्मल परिणमन में अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगने में श्रद्धा और चारित्रगुण के निर्मल परिणमन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्ति:।

प्रश्न : इस सुखशक्ति के जानने से क्या लाभ है?

उत्तर : अनादि से यह आत्मा परपदार्थों में ही सुख जानता-मानता रहा है; परपदार्थों में ही सुख की खोज करता रहा है; तथापि आजतक उसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई है; इसीकारण आकुल-व्याकुल हो रहा है। इस सुखशक्ति के स्वरूप को समझने से इसे यह पता चलेगा कि यह भगवान आत्मा तो स्वयं सुख का पिण्ड है, आनन्द का कंद है; सुख प्राप्ति के लिए इसे पर की ओर देखने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, यह आत्मा जिन शुभभावों और पुण्यकर्म को सुख का कारण जानकर आज तक अपनाता रहा है; वे सुख के कारण नहीं हैं, सुख का कारण तो स्वयं अपना आत्मा है - यह जानकर अपने उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने आत्मा के सम्मुख करेगा।

इसप्रकार इस सुखशक्ति को समझने के उपरान्त अब वीर्यशक्ति की चर्चा करते हैं -

६. वीर्यशक्ति

वीर्यशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार समझाया गया है- **स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है।**

जब यह भगवान आत्मा अरहंत-सिद्धदशा को प्राप्त हो जाता है; तब उसके अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट हो जाते हैं। इन्हें अनंतचतुष्टय कहते हैं।

उक्त अनंतचतुष्टय दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति और वीर्यशक्ति का ही परिपूर्ण प्रस्फुटन है। वैसे तो अरहंत-सिद्ध अवस्था में सभी शक्तियाँ पूर्णत: प्रस्फुटित हो जाती हैं, पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हो जाती हैं; तथापि प्रमुखरूप से अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लेख उक्त शक्तियों के निर्मल परिणमन का ही होता रहा है।

ज्ञान-दर्शन तो आत्मा का लक्षण है और सुख एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी कामना सभी को है तथा वीर्यशक्ति के बिना इनकी रचना कौन करेगा; क्योंकि प्रत्येक वस्तु के स्वरूप की रचना करनेवाली अर्थात् उनके निर्मल परिणमन में हेतु तो यही वीर्यशक्ति है।

इसप्रकार ये चार शक्तियाँ अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लसित होती हैं; प्रस्फुटित होती हैं, उछलती हैं। यही कारण है कि इनका निरूपण आरंभ में ही किया गया है।

जीवत्वशक्ति तो जीव का जीवन ही है और चितिशक्ति उसके चेतनत्व को कायम रखनेवाली शक्ति है। चितिशक्ति के ही दो रूप हैं - ज्ञान और दर्शन; जो आत्मा के लक्षण हैं। जिसके अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमन की चाह सभी को है, वह अनाकुलत्वलक्षण सुखशक्ति आनन्दरूप है। इनके निरूपण के उपरान्त वीर्यशक्ति का निरूपण क्रमप्राप्त ही है; क्योंकि अनन्तचतुष्टय में तीन चतुष्टय तो आरंभ की पाँच या तीन शक्तियों में ही समाहित हो गये हैं; अब इस वीर्यशक्ति के निरूपण से हमारे लिए परम इष्ट अनन्त चतुष्टय पूर्ण हो जायेंगे।

अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः। सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आरंभ की छह शक्तियों में अनंतचतुष्टय के बीज विद्यमान हैं।

ध्यान रहे, इस वीर्यशक्ति का माता-पिता के रज-वीर्य से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वे तो जड़ हैं, पुद्गल के परिणमन हैं। इसीप्रकार तीर्थंकर को जन्म से ही प्राप्त होनेवाले अतुल्यबल से भी इसका कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वह भी शारीरिक बल से ही संबंध रखता है।

इस वीर्यशक्ति का संबंध अनंतचतुष्टय में शामिल अनंतवीर्य से है। अनंतवीर्य इस वीर्यशक्ति के पूर्ण निर्मल परिणमन का ही नाम है।

इसप्रकार वीर्यशक्ति की चर्चा के बाद अब प्रभुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

७. प्रभुत्वशक्ति

प्रभुत्वशक्ति का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

अखण्डितप्रताप और स्वतंत्रता से सम्पन्न होना है लक्षण जिसका; वह प्रभुत्वशक्ति है।

प्रभु अर्थात् प्रभावशाली, पूर्णतः समर्थ। अनंत महिमावंत, अखण्डित प्रताप से सम्पन्न और पूर्णतः स्वतंत्र पदार्थ; जिसमें रंचमात्र भी दीनता न हो, जिसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं हो; वह पदार्थ प्रभु कहा जाता है।

अपना भगवान आत्मा भी एक ऐसा ही प्रभु पदार्थ है, अनंतप्रभुता से सम्पन्न है, अनंत महिमावंत है, अखण्डित प्रतापवंत है, पूर्णतः स्वतंत्र समर्थ पदार्थ है; क्योंकि वह प्रभुत्वशक्ति से सम्पन्न है। उसमें और उसके असंख्य प्रदेशों में, अनन्त गुणों में और उनकी निर्मलपर्यायों में प्रभुत्वशक्ति का रूप विद्यमान है। इसकारण यह भगवान आत्मा प्रभु है, उसके असंख्य प्रदेश प्रभु हैं, उसके अनंत गुण प्रभु हैं और उनकी अनंत निर्मलपर्यायें भी प्रभु हैं।

इसप्रकार की अनंत प्रभुता से सम्पन्न भगवान आत्मा तू स्वयं है, मैं स्वयं हूँ, हम सब स्वयं हैं; – ऐसा जानकर हे आत्मन्! तू अपनी प्रभुता को पहिचान। ऐसा करने से तेरी वर्तमान पर्याय में विद्यमान पामरता समाप्त होगी और प्रभुत्व शक्ति का निर्मल परिणमन होकर तेरी पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो जायेगी।

इसप्रकार प्रभुत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब विभुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

८. विभुत्वशक्ति

विभुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक एक भावरूप होती है।

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञान आदि सभी भावों अर्थात् शक्तियों में व्याप्त एकभावरूप शक्ति का नाम विभुत्वशक्ति है।

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयीसर्वदर्शित्वशक्तिः, विश्वविश्वविशेषभाव-परिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति भी विद्यमान है कि जो स्वयं तो सभी भावों (शक्तियों) में व्याप्त है ही; साथ में इसका रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ भी एक-दूसरे में व्याप्त हैं।

शक्तियों के परस्पर भिन्न होने पर भी इस शक्ति के कारण वे शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त हैं; इसीकारण यह भगवान आत्मा अखण्ड है, अविभक्त है, एक है।

इसप्रकार प्रभुत्वशक्ति और विभुत्वशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं।

९-१०. सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति

इन शक्तियों का स्वरूप आत्मख्याति में जिसप्रकार स्पष्ट किया गया है, उसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है -

सर्वदर्शित्वशक्ति समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से परिणत आत्मदर्शनमयी है और सर्वज्ञत्वशक्ति समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप से परिणत आत्मज्ञानमयी है।

दोनों शक्तियों का स्वरूप थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग एक जैसा ही है। यद्यपि दोनों शक्तियाँ मूलतः आत्ममयी हैं; तथापि दोनों में अन्तर है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी होते हुए भी समस्त विश्व के सामान्यभाव (सत्सामान्य) को देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमयी होते हुए भी समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप है। सर्वदर्शित्वशक्ति देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति जाननेरूप है तथा सर्वदर्शित्वशक्ति सामान्य भाव को विषय बनाती है और सर्वज्ञत्वशक्ति विशेष भावों को विषय बनाती है।

किसी वस्तु को जानने के पहले जो सामान्य अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहा जाता है। यह पहले और बाद का भेद भी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के ही होता है, सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान के नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के स्वपर समस्त वस्तुओं संबंधी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एकसाथ ही होते हैं। चूँकि यहाँ दृशि और ज्ञानशक्ति की बात नहीं है, यहाँ तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति की बात चल रही है; अतः यहाँ पहले और बाद का भेद किए बिना यह कहना ही ठीक है कि सामान्यावलोकन दर्शन है और विशेषावलोकन ज्ञान है।

ध्यान रहे कि अवलोकन शब्द अकेले दर्शन का वाचक नहीं; अपितु दर्शन (देखने) और ज्ञान (जानने) दोनों को ही अवलोकन कहा जाता है।

इसीप्रकार प्रकाशन शब्द का उपयोग देखने और जानने - दोनों ही अर्थों में होता है; क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ समानरूप से स्वपरप्रकाशक हैं और दोनों का विषय भी लोकालोक है।

लोकालोक को देखने-जानने के कारण यह आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता, आत्ममय ही रहता है - यह बताने के लिए ही दोनों के स्वरूप में आत्मदर्शनमयी और आत्मज्ञानमयी पदों का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि दोनों ही शक्तियाँ आत्मामय हैं, लोकालोकमय नहीं।

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः।

यद्यपि दृशि और ज्ञानशक्ति में देखने-जानने की बात आ गई थी; तथापि सबको देखने-जानने की बात नहीं आई थी। इसकारण ही यहाँ समस्त लोकालोक को देखने-जाननेरूप परिणमित होने की बात को सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के रूप में कहा जा रहा है।

इन शक्तियों के नाम से ही बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ स्वपर सभी को देखने-जानने की बात है; क्योंकि इनके नाम ही सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति हैं।

ध्यान रहे, भगवान आत्मा में ये सभी शक्तियाँ वस्तुरूप से हैं; काल्पनिक नहीं। अत: यह कथन निश्चयनय का है, व्यवहारनय का नहीं। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में स्वपर को देखने-जानने की शक्ति है - यह बात परमसत्य है।

सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब स्वच्छत्वशक्ति की चर्चा करते हैं -

११. स्वच्छत्वशक्ति

इस ग्यारहवीं स्वच्छत्वशक्ति का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है -

अमूर्तिक प्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेकाकार उपयोग है लक्षण जिसका, वह स्वच्छत्वशक्ति है।

जिसप्रकार पौद्गलिक अचेतन दर्पण स्वभावत: ही स्वच्छ होता है, उसके सामने जो भी पौद्गलिक (मूर्तिक) पदार्थ आते हैं; वे सभी पदार्थ बिना किसी भेदभाव के एकसाथ उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी स्वभाव से अत्यन्त स्वच्छ है, निर्मल है और इसमें भी सभी पदार्थ एकसाथ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं, देख लिये जाते हैं, जान लिये जाते हैं।

ध्यान रहे, पौद्गलिक दर्पण में तो मात्र मूर्तिक पुद्गल ही झलकते हैं; किन्तु इस भगवान आत्मा में मूर्तिक पदार्थों के साथ-साथ अमूर्तिक जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये सभी पदार्थ, इनके गुण तथा उनकी समस्त भूत, भावी और वर्तमान पर्यायें भी प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।

एक बात और भी है कि दर्पण में तो वही मूर्तिक पदार्थ झलकते हैं; जो उसके सामने आते हैं; परन्तु भगवान आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में तो समीपवर्ती, दूरवर्ती, भूतकालीन, वर्तमान एवं भावी, सूक्ष्म और स्थूल सभी पदार्थ एकसाथ एक जैसे स्पष्ट झलक जाते हैं। दर्पण में तो समीपवर्ती पदार्थ स्पष्ट और दूरवर्ती पदार्थ अस्पष्ट झलकते हैं; किन्तु आत्मा में तो समीपवर्ती-दूरवर्ती, स्थूल-सूक्ष्म, भूतकालीन एवं भावी सभी पदार्थ वर्तमानवत् ही स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। अत: यहाँ दर्पण का उदाहरण मात्र पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने तक ही सीमित रखना चाहिए।

भगवान आत्मा में पदार्थों के झलकने का जो अद्भुत स्वच्छ स्वभाव है, उसी का नाम स्वच्छत्वशक्ति है।

दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सर्वदर्शित्वशक्ति और सर्वज्ञत्वशक्ति के साथ-साथ यह स्वच्छत्वशक्ति और आगे की आनेवाली प्रकाशशक्ति - ये सभी शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंधित हैं। दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में सामान्यरूप देखने-जानने की बात कही गई है तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति में सभी को देखने-जानने की बात कही गई है।

सभी पदार्थों के देखने-जाननेरूप कार्य में आत्मा को सभी ज्ञेयों के पास जाना पड़े - ऐसा नहीं है; क्योंकि इस भगवान आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में समस्त लोकालोक सहजभाव से दिखाई देता है, जानने में आ जाता है। आत्मा के इस सहज निर्मल स्वभाव का नाम ही स्वच्छत्वशक्ति है।

इस भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में मात्र परपदार्थ ही नहीं झलकते; अपने आत्मा का अनुभव भी होता है। अपना आत्मा अनुभव में आये - ऐसा भी आत्मा का स्वभाव ही है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही प्रकाशशक्ति है। प्रकाशशक्ति की चर्चा विस्तार से यथास्थान की जायेगी। इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त छह शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंध रखती हैं।

जिसप्रकार दर्पण में कितने ही पदार्थ क्यों न झलकें, उनका बोझा दर्पण पर नहीं पड़ता; इनके झलकने से उसमें किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होती। उसीप्रकार इस भगवान आत्मा के स्वच्छत्वस्वभाव में सम्पूर्ण लोकालोक झलकें तो आत्मा पर कुछ बोझा नहीं पड़ता, कुछ विकृति नहीं आती; क्योंकि वे पदार्थ उसके जानने में तो आते हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं करते, उसके पास भी नहीं फटकते। न तो परपदार्थ आत्मा में आते हैं और न आत्मा ही उन्हें जानने के लिए उनके पास जाता है। न तो उन ज्ञेय पदार्थों के कारण आत्मा की स्वाधीनता पर ही कुछ फर्क पड़ता है और न ही आत्मा के जानने के कारण उन ज्ञेय पदार्थों की स्वतंत्रता ही बाधित होती है।

जब इस स्वच्छत्वशक्ति का पूर्ण निर्मल परिणमन होता है; तब सारा लोकालोक आत्मा में झलकता है और जब अल्प निर्मलता होती है, तब पदार्थ कुछ अस्पष्ट झलकते हैं; पर झलकते तो हैं ही। इसप्रकार यह स्वच्छत्वशक्ति आत्मा के उस निर्मल स्वभाव का नाम है कि जिसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है - ऐसा होने पर भी वह निर्भार ही रहता है, स्वाधीन ही रहता है; लोकालोक के झलकने से उसकी सुख-शान्ति में कोई बाधा नहीं आती।

इस स्वच्छत्वशक्ति का रूप सभी गुणों में है; इसकारण सभी गुण स्वच्छ हैं। ज्ञान स्वच्छ है, श्रद्धा स्वच्छ है, चारित्र स्वच्छ है, सुख स्वच्छ है। अरे भाई ! सभी गुणों के साथ-साथ यह भगवान आत्मा भी स्वच्छ है। जब यह स्वच्छत्वशक्ति पर्याय में परिणमित होती है तो इस शक्ति का रूप सभी अविकारी पर्यायों में होने से वे भी स्वच्छतारूप परिणमन करती हैं।

ज्ञेयों के कारण ज्ञान रंचमात्र भी विकृत नहीं होता - यह सब इस स्वच्छत्वशक्ति का ही प्रताप है। द्वादशांग के पाठी इन्द्रादि जैसे लोग स्तुति करें तथा कोई हजारों गालियाँ देवें - दोनों बातें ज्ञान की ज्ञेय बनें, फिर भी स्तुति करनेवालों के प्रति राग न हो और गालियाँ देनेवालों के प्रति द्वेष न हो - ऐसी वीतरागता भी तो चारित्रगुण में स्वच्छत्वशक्ति का रूप होने से ही हुई है।

स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्ति:। क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्ति:।

इस स्वच्छत्वशक्ति का स्वरूप ख्याल में आये तो कमाल हो जाये; पर के जानने से ज्ञान मलिन हो जायेगा, मेचक हो जायेगा, अनेकाकार हो जायेगा – इसप्रकार की आकुलता ही नहीं होगी। इसीकारण पर के जानने को मिथ्यात्व कहना भी सहज संभव न रहेगा।

स्वच्छत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब प्रकाशशक्ति की चर्चा करते हैं –

१२. प्रकाशशक्ति

इस बारहवीं प्रकाशशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

जो स्वयंप्रकाशमान है, विशद, स्पष्ट और निर्मल स्वसंवेदनमय स्वानुभव से युक्त है; वह प्रकाशशक्ति है।

११ वीं स्वच्छत्वशक्ति में इस बात पर वजन दिया गया है कि यह आत्मा लोकालोक को जाने अथवा लोकालोक इसके ज्ञान में झलकें – ऐसा इसका स्वभाव है। अब इस १२ वीं प्रकाशशक्ति में यह कहा जा रहा है कि न केवल लोकालोक को, अपितु स्वयं को स्पष्टरूप से जाने अर्थात् आत्मा का अनुभव करे – ऐसी भी एक शक्ति आत्मा में है, जिसका नाम है प्रकाशशक्ति।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोकालोक में अपना आत्मा भी तो आ गया; अत: स्वच्छत्वशक्ति के कारण वह भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव में, स्वच्छस्वभाव में झलक जायेगा, जान लिया जायेगा। उसके लिए अलग से इस प्रकाशशक्ति की क्या आवश्यकता है?

अरे भाई ! यह प्रकाशशक्ति स्वसंवेदनमयी है, स्वच्छत्वशक्ति स्वसंवेदनमयी नहीं है। परपदार्थ तो मात्र आत्मा में देखे-जाने ही जाते हैं; किन्तु अपने भगवान आत्मा का अनुभव किया जाता है। वह अनुभव स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति का ही कार्य है।

इस शक्ति की श्रद्धा और ज्ञान होने से आत्मानुभव के लिए पर के सहयोग की आकांक्षा से उत्पन्न होनेवाली आकुलता का अभाव होकर निराकुल शान्ति की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार प्रकाशशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब असंकुचितविकासत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

१३. असंकुचितविकासत्वशक्ति

इस तेरहवीं असंकुचितविकासत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

असंकुचितविकासत्वशक्ति क्षेत्र और काल से अमर्यादित चिद्विलासात्मक (चैतन्य के विलासस्वरूप) है।

अनंत शक्तियों से सम्पन्न इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा बिना किसी संकोच के पूर्णरूप से विकसित होता है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का प्रत्येक गुण पर्याय में निर्मलता के साथ-साथ पूर्णता को भी प्राप्त होता है। ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप परिणमित होता है, श्रद्धागुण क्षायिकसम्यक्त्वरूप परिणमित होता है।

अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः।

यह शक्ति क्षेत्र और काल से अबाधित है और चैतन्य के विलासरूप है।

तात्पर्य यह है कि इस आत्मा के चैतन्य के विलास में क्षेत्र और काल संबंधी कोई संकोच नहीं है, सीमा नहीं है; मर्यादा नहीं है। इस शक्ति का रूप सभी गुणों में होने से वे भी असंकुचितविकासत्व को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं। उन्हें अपने अविच्छिन्न विकास के लिए क्षेत्र व काल संबंधी किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता, बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि उनमें असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है।

अपने स्वभाव और सीमा में परिपूर्ण विकसित होने के लिए तुझे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि तुझमें एक असंकुचितविकासत्व नाम की शक्ति है; जिसके कारण तू स्वयं में परिपूर्ण विकास कर सकता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपने स्वभाव की सीमा में असीमित विकास होना, असंकुचितविकास होना ही असंकुचितविकासत्वशक्ति का कार्य है। इस शक्ति का रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियों का अपने-अपने स्वभावानुसार अपनी-अपनी सीमा में असीमित विकास हो सकता है और यह विकास अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से होता है।

इसप्रकार असंकुचितविकासत्वशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब अकार्यकारणत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

१४. अकार्यकारणत्वशक्ति

इस चौदहवीं अकार्यकारणत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में इसप्रकार दी गई है –

इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो अन्य से किया जाता है और न अन्य को करता ही है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, कारण नहीं है, कार्य नहीं है – यह सभी द्रव्यों के संदर्भ में जैनदर्शन का सामान्य कथन है। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर यहाँ अपने आत्मा पर घटित किया जा रहा है। अनंत शक्तियों के संग्रहालय इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। द्रव्य और गुण तो अनादि-अनंत होते हैं; इसकारण वे कार्य ही नहीं हैं; अतः उनके संदर्भ में तो किसी परद्रव्य के कार्य होने का प्रश्न खड़ा नहीं होता। कार्य तो परिणमन को कहा जाता है, पर्याय को कहा जाता है।

इस भगवान आत्मा का परिणमन भी किसी परद्रव्य का कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में होनेवाला परिणमन पर के कारण नहीं होता। इसीप्रकार परद्रव्यों के द्रव्य-गुण भी त्रिकाली होने से कार्य नहीं होते; उनका परिणमन ही उनका कार्य है। उनके परिणमन का कारण यह आत्मा नहीं है; इसलिए यह किसी का कारण भी नहीं है। इसप्रकार न तो यह भगवान आत्मा किसी परद्रव्य का

परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः। अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।

कार्य है और न किसी परद्रव्य का कारण है। किसी परद्रव्य का कार्य या कारण न बने – इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अकार्यकारणत्वशक्ति है।

यह शक्ति अनंत स्वाधीनता की सूचक और निर्भार रहने का अमोघ उपाय है। यदि एकबार यह बात चित्त की गहराई में उतर जाये तो पर में कुछ करने की अनंत आकुलता और पर मुझमें कुछ कर न दें – इसप्रकार का भय उसी समय समाप्त हो सकता है।

यह भगवान आत्मा पूर्णत: स्वाधीन है; न तो इसे पर में कुछ करना है और न स्वयं के कार्य के लिए पर के भरोसे ही रहना है; क्योंकि इसमें अनन्त शक्तियों के साथ-साथ एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण ही है। किसी का कार्य व किसी का कारण नहीं होना ही अकार्यकारणत्वशक्ति का स्वभाव है, कार्य है।

इसप्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

१५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति

इस पन्द्रहवीं परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में इसप्रकार दी गई है –

परनिमित्तिक ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और स्वनिमित्तिक ज्ञानाकारों के ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

देखो, पहले अकार्यकारणत्वशक्ति में यह बताया गया था कि आत्मा न तो पर का कार्य है और न पर का कारण। अब इस परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि पर का कार्य या कारण नहीं होने पर भी यह आत्मा पर को जानता है और पर के द्वारा जाना भी जाता है। न केवल पर को जानता है और पर के द्वारा जाना जाता है; अपितु स्वयं को भी जानता है और स्वयं के द्वारा जाना भी जाता है। इसप्रकार इस आत्मा का स्वभाव स्व और पर के जानने एवं स्व और पर के द्वारा जानने में आने का है।

मैं स्वयं को जानूँ और पर को भी जानूँ; इसीप्रकार स्वयं के द्वारा जाना जाऊँ और पर के द्वारा भी जाना जाऊँ – इसप्रकार इसमें चार बिन्दु हो गये।

पहला स्वयं को जानना, दूसरा पर को जानना, तीसरा स्वयं के द्वारा जानने में आना और चौथा पर के द्वारा जानने में आना। इन चारों प्रकार की योग्यता का नाम ही परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति के उपरान्त अब त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

१६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

जो न तो कम है और न अधिक ही है – ऐसे सुनिश्चित स्वरूप में रहने रूप है स्वरूप जिसका, वह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है।

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्व-शक्तिः। क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।

यह भगवान आत्मा स्वयं में परिपूर्ण तत्त्व है, इसमें न तो कोई कमी है और न कुछ अधिकता ही है। यदि कमी होती तो ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता और अधिकता होती तो उसका त्याग करना भी अनिवार्य हो जाता।

ग्रहण और त्याग क्रमशः कमी और अधिकता के सूचक हैं। यदि हमें कुछ ग्रहण करने का भाव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने स्वभाव में कुछ न्यूनता का अनुभव करते हैं। इसीप्रकार त्यागने के भाव के साथ भी यह प्रतीति कार्य करती है कि हममें कुछ अधिकता है, जिसे छोड़ना आवश्यक है। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे त्यागा जाये और ऐसी कोई कमी भी नहीं है कि बाहर से उसकी पूर्ति करनी पड़े। भगवान आत्मा के इस परिपूर्ण स्वभाव का नाम ही त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का कथन निश्चयनयाश्रित होने से परमार्थ है, सत्यार्थ है और ग्रहण-त्याग की चर्चा व्यवहारनयाश्रित होने से असत्यार्थ है, अभूतार्थ है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति समझने के उपरान्त अब अगुरुलघुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं -

१७. अगुरुलघुत्वशक्ति

अगुरुलघुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है -

अगुरुलघुत्वशक्ति षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि रूप से परिणमित स्वरूप प्रतिष्ठत्व का कारणरूप विशेष गुणात्मक है।

न केवल आत्मा में, अपितु प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय में षट्गुणी वृद्धि और षट्गुणी हानि निरन्तर हुआ करती है। गजब की बात तो यह है कि यह वृद्धि और हानि एक ही वस्तु में एकसाथ ही होती है। इसप्रकार अगुरुलघुत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की चर्चा करते हैं -

१८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति

इस अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है -

क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्तिरूप वर्तना है लक्षण जिसका, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है।

प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है तथा सत् द्रव्य का लक्षण है; जो उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि अनन्त शक्तियों से सम्पन्न भगवान आत्मा में एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयं ही उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से सहित है। उक्त शक्ति का नाम ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति है।

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणाम-शक्तिः।

तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा को स्वयं का अस्तित्व धारण करने के लिए, स्वयं को कायम रखने के लिए पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। न तो ध्रुव अस्तित्व को टिकाये रखने में पर के सहयोग की आवश्यकता है और न स्वयं में प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तन करने के लिए ही पर के सहयोग की अपेक्षा है; क्योंकि यह भगवान आत्मा इस शक्ति के कारण स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सम्पन्न है।

इस उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति को समझाने के उपरान्त अब परिणामशक्ति की चर्चा करते हैं -

१९. परिणामशक्ति

इस उन्नीसवीं परिणामशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

द्रव्य के स्वभावभूत उत्पादव्ययध्रौव्य से आलिंगित सदृश और विसदृश एक रूप वाली अस्तित्वमयी परिणामशक्ति है।

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व द्रव्य के स्वभाव हैं। इनमें ध्रुवत्वभाव सदृश परिणाम है, सदा एक जैसा रहनेवाला परिणाम है तथा उत्पाद-व्यय विसदृश परिणाम हैं; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक का स्वभाव उत्पन्न होनेरूप है और दूसरे का स्वभाव नाश होनेरूप है; इसकारण वे परस्पर विरुद्धस्वभाववाले हैं, विसदृशस्वभाववाले हैं।

उत्पाद-व्यय विसदृश व ध्रौव्य सदृशस्वभाववाला होने पर भी तीनों एक ही हैं; क्योंकि अस्तित्व तीनों का एक रूप में ही है। तीनों का नाम ही परिणाम है।

कुछ लोग परिणमन को ही परिणाम या भाव समझते हैं; किन्तु परिणाम व भाव शब्द परिणमित होनेवाले उत्पाद-व्यय के लिए भी प्रयुक्त होता है और अपरिणामी ध्रुव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

परिणमित होकर भी ध्रुव रहना और ध्रुव रहकर भी परिणमित होना ही परिणामशक्ति का कार्य है अथवा परिणामशक्ति है।

कुछ लोग उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति और परिणामशक्ति में भेद नहीं कर पाते हैं। इन दोनों में भेद करना आसान भी नहीं है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति को क्रमाक्रमवृत्तवृत्ति लक्षणवाली कहा गया है और परिणामशक्ति को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित सदृश-विसदृश परिणामों की एकरूपतारूप कहा गया है।

दोनों शक्तियों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व तो है ही। इस कारण भेद समझने में कठिनाई होती है; परन्तु एक शक्ति में क्रमवर्ती पर्यायें और अक्रमवर्ती गुणोंवाले उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से संयुक्त द्रव्यस्वभाव की चर्चा है तो दूसरी शक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में विद्यमान सदृशता-विसदृशता की एकरूपता की चर्चा है।

कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः।

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः। सकल-कर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का कार्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त होना मात्र है और परिणामशक्ति का कार्य परस्पर विरुद्ध-अविरुद्ध परिणामों का टिका रहना और परिणमित होते रहना है। ध्रुवरूप परिणाम तो अपरिणामी ही है, वह सदा अपरिणामी ही रहे - यह भी परिणामशक्ति का कार्य है और निरन्तर बदलनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिणाम अपने सुनिश्चितक्रमानुसार बदलते रहें, एक समय को भी बदले बिना न रहें - यह भी परिणामशक्ति का कार्य है।

ध्रुवरूप में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होना और उत्पाद-व्ययरूप में निरन्तर परिणमित होते रहना आत्मवस्तु का मूलस्वरूप है। आत्मवस्तु के इसी मूलस्वरूप का नाम परिणामशक्ति है।

परिणामशक्ति के स्वरूप को जानने का पहला लाभ तो यह है कि हमारा मूल ध्रुवस्वभाव इसी शक्ति के कारण पूर्ण सुरक्षित है। वह अनादि से जैसा है, अनन्त काल तक वैसा ही रहेगा; न तो उसका नाश ही हो सकता है और न उसमें कोई बदलाव ही होता है।

दूसरे हममें होनेवाले सुनिश्चित परिवर्तन के लिए भी हमें पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस परिणामशक्ति के कारण मूल स्वभाव अर्थात् स्वभाव की ध्रुवता सहज ही कायम रहती है और पर्यायों में परिवर्तन भी सहज ही हुआ करता है।

इसप्रकार परिणामशक्ति की चर्चा के करने के उपरान्त अब अमूर्तत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

२०. अमूर्तत्वशक्ति

इस बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

यह अमूर्तत्वशक्ति कर्मबंध के अभाव से व्यक्त सहज स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशात्मक है।

उक्त अमूर्तत्वशक्ति के कारण भगवान आत्मा रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अमूर्त पदार्थ है। यह देह स्पर्शादिमय होने से मूर्त है और भगवान आत्मा अमूर्त है; अतः आत्मा देहादि से भिन्न ही है। आत्मद्रव्य के सभी गुणों और पर्यायों में अमूर्तत्वशक्ति का रूप होने से सभी गुण और पर्यायें भी अमूर्त हैं।

इसप्रकार अमूर्तत्वशक्ति का स्वरूप समझने के उपरान्त अब अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति का स्वरूप समझते हैं -

२१-२२. अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति

इस इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति और बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित होनेरूप अकर्तृत्वशक्ति है। इसीप्रकार ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी परिणामों के अनुभव से, भोक्तृत्व से रहित होनेरूप अभोक्तृत्वशक्ति है।

सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।

दोनों शक्तियों के उक्त स्वरूप पर दृष्टिपात करने से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि दोनों के स्वरूप में **करणोपरम** और **अनुभवोपरम** के अलावा कोई अन्तर नहीं है। अभोक्तृत्वशक्ति की परिभाषा में अकर्तृत्वशक्ति की परिभाषा से **करणोपरम** पद को निकाल कर उसके स्थान पर **अनुभवोपरम** पद रख दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित अकर्तृत्वशक्ति है और उन्हीं के भोक्तृत्व से रहित अभोक्तृत्वशक्ति है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अकर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा रागादि का अकर्ता है और अभोक्तृत्वशक्ति के कारण रागादि का अभोक्ता है।

इसप्रकार अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब निष्क्रियत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

२३. निष्क्रियत्वशक्ति

इस तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

निष्क्रियत्वशक्ति समस्त कर्मों के उपरम (अभाव) से प्रवर्तित होनेवाली आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप है।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्तियों में मोहनीय कर्मोदयजन्य रागादि भावों के करने से उपरम (विराम-अभाव) और भोगने के उपरम (विराम-अभाव) की बात कही थी तो अब यहाँ निष्क्रियत्वशक्ति में सम्पूर्ण कर्मों के उपरम (विराम-अभाव) से होनेवाली आत्मप्रदेशों की अकंपदशा की बात कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा कर्मोदयजन्य आत्मप्रदेशों के कंपनरूप योगों से भी रहित है, अकंपस्वभावी है, निष्क्रिय है।

यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ न तो क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गति से है और न काल से कालान्तररूप परिणमन से ही है; यहाँ तो आत्मा के प्रदेशों में होनेवाले कंपन का नाम ही क्रिया है। भगवान आत्मा ऐसी क्रिया से रहित है; अतः निष्क्रिय है, निष्क्रियत्वशक्ति से सम्पन्न है।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वशक्ति में आत्मा को रागादिविभाव के अभावस्वरूप अमल बताया था और निष्क्रियत्वशक्ति में आत्मप्रदेशों की चंचलता के अभावरूप अचल बताया जा रहा है।

यह भगवान आत्मा अमल भी है और अचल भी है। पर्याय में घातिकर्मों के अभाव से पूर्ण अमलता प्रगट होती है और अघातिकर्मों के अभाव से अचलता प्रगट होती है। अरहंत भगवान पूर्णतः अमल हैं, पर अचल नहीं; किन्तु सिद्ध भगवान अमल भी हैं और अचल भी।

यह तो पर्याय में प्रगट अमलता और अचलता की बात है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा का स्वभाव त्रिकाल अमल और अचल है।

जिसप्रकार की अकंपदशा सिद्ध भगवान में प्रगट हुई है; उसीप्रकार की अचलता आत्मा के स्वभाव में सदा विद्यमान है; क्योंकि उसमें निष्क्रियत्वशक्ति है। निष्क्रियत्वशक्ति का कार्य ही यह है कि वह आत्मा को सदा अचल रखे।

आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मिता-त्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।

सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।

इसप्रकार निष्क्रियत्वशक्ति के उपरान्त अब नियतप्रदेशत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

२४. नियतप्रदेशत्वशक्ति

इस चौबीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

अनादिकाल से संसार-अवस्था में संकोच-विस्तार से लक्षित और सिद्ध-अवस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून परिमाण तथा लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के समान असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा का अवयव है लक्षण जिसका, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं; उतने ही असंख्यात प्रदेश इस भगवान आत्मा में हैं। संसार-अवस्था में वे प्रदेश देहप्रमाण रहते हैं। जितनी देह हो, उतने ही आकार में आत्मा के प्रदेश समा जाते हैं। छोटी देह में संकुचित हो जाते हैं और बड़ी देह में फैल जाते हैं; पर रहते हैं देहप्रमाण ही तथा उनकी जो असंख्यात संख्या है, उसमें कोई कमी-वेशी नहीं होती। सिद्ध-अवस्था में देह छूट जाने पर अन्तिम देह के आकार में रहते हैं, पर अन्तिम देह से कुछ न्यून (कम) आकार में रहते हैं। आत्मा में जितने प्रदेश हैं, सदा उतने ही रहते हैं, कम-अधिक नहीं होते; विभिन्न आकारों में रहने पर भी वे सदा नियत ही हैं, जितने थे, उतने ही रहते हैं।

आत्मा के असंख्यप्रदेशों का उक्त कथनानुसार आकार रहना ही नियतप्रदेशत्वशक्ति का कार्य है।

नियतप्रदेशत्वशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का विवेचन करते हैं–

२५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

इस पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

सभी शरीरों में एकरूप रहनेवाली स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।

यह भगवान आत्मा अपने धर्मों में ही व्याप्त होता है, शरीरादि में नहीं; क्योंकि इसमें स्वधर्मव्यापकत्व नाम की एक शक्ति है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसके कारण यह आत्मा स्वधर्मों में ही व्यापक होता है। यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से अबतक अनंत शरीरों में रहा है; तथापि यह उनमें कभी भी व्याप्त नहीं हुआ; शरीररूप न होकर सदा ज्ञानानन्दस्वभावी ही रहा है।

यह भगवान आत्मा इस स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति के कारण अपने अनंत गुणों में, धर्मों में, शक्तियों और निर्मलपर्यायों में तो व्यापता है; पर शरीरों और रागादि विकारी परिणामों में व्याप्त नहीं होता। रागादि होते हुए भी, शरीरों में रहता हुआ भी उसमें व्याप्त नहीं होता, स्वसीमा में ही रहता है।

स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणा साधारणधर्मत्वशक्तिः। विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः।

इसप्रकार स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं -

२६. साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति

इस छब्बीसवीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

स्व और पर - दोनों में परस्पर समान, असमान और समानासमान - ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारण करनेरूप यह साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है।

सामान्य गुणों को साधारण धर्म कहते हैं और विशेष गुणों को असाधारण धर्म कहते हैं और जिन धर्मों में सामान्यपना और विशेषपना - दोनों विशेषतायें प्राप्त हों; उन धर्मों को साधारणासाधारण धर्म कहते हैं।

सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि गुण या धर्म साधारण धर्म हैं। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि पदार्थों में नहीं पाये जाने और केवल आत्मा में ही पाये जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुखादि असाधारण धर्म हैं तथा मात्र पुद्गल में न पाये जानेवाला अमूर्तत्व पुद्गल का असाधारण धर्म और आत्मा, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्यों में पाये जाने के कारण वह साधारण धर्म भी है; इसप्रकार अमूर्तत्व साधारणासाधारण धर्म है।

अस्तित्वादि साधारण, ज्ञानादि असाधारण और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ होने से यह आत्मा साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति से सम्पन्न है।

अस्तित्वादि गुण सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण साधारण, अकेले आत्मा में पाये जाने के कारण ज्ञानादि गुण असाधारण तथा सभी द्रव्यों में न पाये जाने और पाँच द्रव्यों में पाये जाने के कारण अमूर्तत्व साधारणासाधारण गुण है। इसप्रकार इस भगवान आत्मा में साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है।

इसप्रकार साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब अनंतधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं -

२७. अनंतधर्मत्वशक्ति

इस सत्ताईसवीं अनंतधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

परस्पर भिन्न लक्षणोंवाले अनंत स्वभावों से भावित - ऐसा एक भाव है लक्षण जिसका - ऐसी अनंतधर्मत्वशक्ति है।

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति से यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि भगवान आत्मा में साधारण, असाधारण और साधारण-असाधारण - ये तीनप्रकार के धर्म (गुण)

पाये

तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः। तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः।

जाते हैं; पर यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि वे धर्म हैं कितने ? अर्थात् इस एक आत्मा में कितने धर्मों को धारण करने की शक्ति है ? अतः अनंतधर्मत्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में अनंत धर्मों को धारण करने की शक्ति है। विभिन्न लक्षणों के धारक, विभिन्न अनंतगुणों को धारण करने की शक्ति का नाम ही अनंतधर्मत्वशक्ति है।

अनंतधर्मत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब विरुद्धधर्मत्वशक्ति का निरूपण करते हैं –

२८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति

इस अट्ठाईसवीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है, उस शक्ति का नाम विरुद्धधर्मत्वशक्ति है।

अनंतधर्मत्वशक्ति में यह तो स्पष्ट हो गया था कि भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनंत धर्म आत्मा में रहते हैं; पर यह बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी कि क्या परस्पर विरुद्धस्वभाववाले धर्म भी एकसाथ एक आत्मा में रह सकते हैं। यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति यह बताती है कि न केवल अनंत धर्म हैं; किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनंतधर्मयुगल भी आत्मा में एकसाथ रहते हैं। विभिन्न लक्षणोंवाले अनंतगुणों को धारण करना अनंतधर्मत्वशक्ति का कार्य है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगलों को धारण करना विरुद्धधर्मत्वशक्ति का कार्य है।

इस विरुद्धधर्मत्वशक्ति में मात्र यही बताया गया है कि इस भगवान आत्मा में न केवल विभिन्न लक्षणवाले गुण एकसाथ रहते हैं; अपितु यह भी स्पष्ट किया गया है कि परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्म भी एकसाथ ही रहते हैं।

इसप्रकार विरुद्धधर्मत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

२९-३०. तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

इन उनतीसवीं और तीसवीं तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

तद्भवनरूप तत्त्वशक्ति और अतद्भवनरूप अतत्त्वशक्ति है।

२५वीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति में यह बताया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने सभी धर्मों (गुणों) में व्याप्त है। उसके बाद २६वीं शक्ति में यह बताया गया कि जिन धर्मों में आत्मा व्याप्त है; उन धर्मों में कुछ धर्म साधारण, कुछ धर्म असाधारण और कुछ साधारणासाधारण हैं। फिर २७ वीं अनंतधर्मत्वशक्ति में यह बताया गया है कि वे साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्म अनंत हैं। उसके बाद २८ वीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति में कहा गया है कि उन अनंत धर्मों में कुछ धर्म

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों को धारण करने की शक्ति इस भगवान आत्मा में है, जिसका नाम है विरुद्धधर्मत्वशक्ति।

इन विरुद्ध धर्मों में तत् और अतत् धर्मों की चर्चा करते हुए इन तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में जो भी धर्म हैं; उन सभी के होनेरूप तत्त्वशक्ति है और उनसे भिन्न पदार्थों और उन पदार्थों के धर्मों रूप नहीं होने की शक्ति का नाम अतत्त्वशक्ति है।

ये तत्त्व और अतत्त्व शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसके भी आगे आनेवाली एकत्व-अनेकत्व और भाव-अभाव आदि शक्तियाँ भी परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसप्रकार परस्पर विरुद्धधर्मत्वशक्ति के उपरान्त इन तत्त्व-अतत्त्व आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रतिपादन प्रसंगोचित ही है। इन परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रतिपादन में एक क्रमिक विकास है। गहराई से देखने पर वह सहज ही ख्याल में आता है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा तत्त्वशक्ति के कारण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है और निरन्तर परिणमित भी होता है तथा अतत्त्वशक्ति के कारण न तो परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से है ही और न उनरूप, उनकी पर्यायोंरूप परिणमित ही होता है।

इसप्रकार स्वयं की अनंतशक्तियोंरूप होना तत्त्वशक्ति का कार्य है और पररूप नहीं होना अतत्त्वशक्ति का कार्य है। इसप्रकार तत्त्वशक्ति के कारण आत्मा ज्ञानादि गुणों रूप और उनके निर्मल परिणमन रूप है और अतत्त्वशक्ति के कारण रूपादि और रागादिरूप नहीं है।

तात्पर्य यह है कि स्वचतुष्टयरूप रहना और परचतुष्टयरूप नहीं होना इस आत्मा का सहज स्वभाव है और आत्मा के इस सहज स्वभाव का नाम ही तत्त्वशक्ति व अतत्त्वशक्ति है। स्व की अस्ति तत्त्वशक्ति का और पर की नास्ति अतत्त्वशक्ति का कार्य है। इन शक्तियों के ज्ञान-श्रद्धान से स्वरूप में रहने की चिन्ता और पररूप न हो जाने का भय समाप्त हो जाता है।

ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि आरंभ में आनेवाली दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि शक्तियाँ गुणरूप शक्तियाँ हैं और ये तत्त्व-अतत्त्व, एक-अनेक आदि शक्तियाँ धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

परिशिष्ट के आरम्भिक अंश में ज्ञानमात्र आत्मा में अनेकान्तपना सिद्ध करते हुए जिन १४ भंगों की चर्चा की गई है; उन भंगों में चर्चित तत्-अतत्, एक-अनेक आदि धर्म ही यहाँ तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि शक्तियों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

वहाँ जो अनेकान्त की चर्चा की गई है, उसमें अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। पहली अनंत गुणों के समुदाय के रूप में और दूसरे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों के रूप में। उसी को आधार बनाकर यहाँ पहले गुणरूप शक्तियों की चर्चा की गई और बाद में धर्मरूप शक्तियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रश्न : क्या शक्तियाँ गुण और धर्मरूप ही होती हैं ?

उत्तर : गुण और धर्मों के अतिरिक्त कुछ शक्तियाँ स्वभाव रूप भी होती हैं। त्यागोपादानशून्यत्व

जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप हैं।

प्रश्न : त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप क्यों हैं ?

अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्व रूपा अनेकत्वशक्तिः।

उत्तर : क्योंकि त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियों की न तो पर्यायें होती हैं और उनका कोई प्रतिपक्षी होता है। जिन शक्तियों की पर्यायें होती हैं और जिनका प्रतिपक्षी नहीं होता; वे गुणरूप शक्तियाँ हैं और जिनकी पर्यायें तो नहीं होतीं, पर प्रतिपक्षी अवश्य होता है, वे धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

जिनकी न पर्यायें हों और न प्रतिपक्षी ही हों; वे स्वभावशक्तियाँ हैं। इस त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति की न तो पर्यायें होती हैं और न कोई प्रतिपक्षी ही होता है; इसकारण वे स्वभावरूप शक्तियाँ हैं।

इनमें बस बात इतनी ही है कि भगवान आत्मा का ऐसा स्वभाव ही है कि वह न तो किसी से कुछ ग्रहण ही करता है और न किसी का त्याग ही करता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि शक्तियों में गुण, धर्म और स्वभाव – सभी को समाहित कर लिया गया है।

इसप्रकार तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति का निरूपण करते हैं –

३१–३२. एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति

इन इकतीस और बत्तीसवीं एकत्व और अनेकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अनेक पर्यायों में व्यापक और एकद्रव्यमयपने को प्राप्त एकत्वशक्ति है और एक द्रव्य से व्याप्त (व्यापने योग्य) अनेक पर्यायोंमय अनेकत्वशक्ति है।

इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। आत्मा के इसप्रकार के स्वभाव का नाम ही एकत्वशक्ति है।

इसीप्रकार इसमें एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयंरूप एक द्रव्य में व्याप्त रहने पर भी अनेक पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है। आत्मा के इसप्रकार के सामर्थ्य का नाम अनेकत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा एक रहकर भी अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होने की शक्ति से सम्पन्न है तथा अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होते हुए भी इसकी एकता भंग नहीं हो – ऐसी शक्ति से भी सम्पन्न है।

यद्यपि एकत्व और अनेकत्व भाव परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; तथापि इस भगवान आत्मा में एकत्व और अनेकत्व – दोनों ही पाये जाते हैं। वह अनेक पर्यायों में परिणमित होते हुए भी एक ही रहता है और एक रहते हुए भी अनेक पर्यायों में परिणमन की सामर्थ्य रखता है; क्योंकि यह आत्मा अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमय है और एक द्रव्य में व्याप्त अनेकपर्यायमय भी है।

इस आत्मा की अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमयता एकत्वशक्ति है और एकद्रव्य में व्याप्य अनेकपर्यायमयता अनेकत्वशक्ति है।

३३. भूतावस्थत्वरूपा भावशक्ति: ३४. शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्ति: ३५. भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्ति: ३६. अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्ति: ३७. भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्ति: ३८. अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्ति:।

इसप्रकार एकत्व और अनेकत्वशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति, भावभावशक्ति और अभावाभावशक्ति – इन छह शक्तियों की चर्चा करते हैं –

३३–३८. भाव–अभावादि छह शक्तियाँ

३३ वीं भावशक्ति से ३८ वीं अभावाभावशक्ति तक इन छह शक्तियों का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

वर्तमान अवस्था से युक्त होनेरूप भावशक्ति, शून्य अवस्था से युक्त होने रूप अभावशक्ति, वर्तती पर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति, पूर्व में न वर्तती पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति, होने योग्य पर्याय के होने रूप भावभावशक्ति और नहीं होने योग्य पर्याय के नहीं होने रूप अभावाभावशक्ति है।

ये भाव–अभावादि शक्तियाँ भी सामान्यस्वभाव रूप होने से सभी (छह) द्रव्यों में पाई जाती हैं। इनके स्वरूप की सम्यक् जानकारी पर्यायों की क्रमबद्धता के निर्णय में भी अत्यन्त उपयोगी है।

'क्रमबद्धपर्याय' नामक मेरी कृति में इनका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है–

''प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य अपनी वर्तमान अवस्था से युक्त होता है अर्थात् उसकी निश्चित अवस्था होती ही है; उसे भावशक्ति कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति होती है, जिसके कारण वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नहीं होती; इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है। उक्त दोनों शक्तियों के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय सुनिश्चित पर्याय ही होती है, अन्य नहीं।

प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति है, जिसके कारण वर्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय में अभाव हो जायेगा; उस शक्ति का नाम है भावाभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है, जिसके कारण आगामी समय में होनेवाली पर्याय नियम से उत्पन्न होगी ही। इस शक्ति का नाम है अभावभावशक्ति।

जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से होगी ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है, जिसका नाम है भावभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह नियम से नहीं होगी, उस शक्ति का नाम है अभावाभावशक्ति।

उक्त छह शक्तियों का स्वरूप यह सिद्ध करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय,

अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वयं नियम से उसी समय, वैसी ही होती है; उसमें परपदार्थ की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं होती।''

सभी पदार्थों पर घटित होनेवाली इन भाव-अभावादि शक्तियों की चर्चा आत्मख्याति में आत्मा की विशिष्ट शक्तियों के संदर्भ में ही हुई है।

सैंतालीस शक्तियों में आरंभिक गुण-शक्तियों की चर्चा में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्व और पर दोनों को देखता-जानता है, दोनों उसके ज्ञान-दर्शन दर्पण में झलकते हैं; किसी को देखने-जानने के लिए उसे उन ज्ञेय पदार्थों के पास नहीं जाना पड़ता और न उन ज्ञेय पदार्थों को आत्मा के समीप ही आना पड़ता है। सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रहता है।

न केवल अपने आत्मा में स्व और पर को जानने की शक्ति है, अपितु परजीवों के ज्ञान का ज्ञेय बनने की भी शक्ति है। इसप्रकार यह आत्मा स्व और पर - दोनों को जानता है और स्व और पर - दोनों के द्वारा जाना भी जाता है। पर पदार्थों में थोड़े-बहुतों को ही नहीं; अपितु जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को, उनके अनन्त गुणों को और उनकी अनंतानंत पर्यायों को एक समय में एक साथ जानने की सामर्थ्य इसमें है।

इसप्रकार आरंभिक शक्तियों में अपने आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त आत्मा के प्रदेशों की स्थिति के संदर्भ में अनेक शक्तियों का विवेचन किया गया है। इसके बाद धर्म-शक्तियों के विवेचन में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है और अब इन भाव-अभाव आदि स्वभावरूप शक्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में प्रतिसमय जो भी परिणमन हो रहा है, उसे करने की पूरी सामर्थ्य उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। इसके लिए उसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

यदि किसी को यह आशंका हो कि आत्मा में जिस समय जो पर्याय होनी है, यदि वह उस समय नहीं हुई तो क्या होगा ? उक्त आशंका का यही समाधान है कि भगवान आत्मा में भाव नाम की एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय होगी ही।

इसीप्रकार यदि यह आशंका हो कि जो पर्याय इस समय नहीं होनी है, यदि वह पर्याय हो गई तो क्या होगा ? इसका समाधान अभावशक्ति में है। अभावशक्ति के कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से नहीं होगी।

भावशक्ति का कार्य है कि विवक्षित पर्याय स्वसमय पर हो ही और अभावशक्ति का कार्य है कि अविवक्षित पर्याय उस समय किसी भी स्थिति में न हो।

अब प्रश्न उपस्थित होता है यदि विद्यमान पर्याय का अगले समय में अभाव ही न हो तो फिर नई पर्याय कैसे होगी ? आचार्य कहते हैं कि आत्मा में भावाभाव नाम की एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण विद्यमान पर्याय का अगले समय में नियम से अभाव होगा ही।

इसीप्रकार यदि यह प्रश्न हो कि यदि अगले समय में जो पर्याय आनी थी, यदि वह पर्याय अगले

समय नहीं आई तो क्या होगा ? आचार्य कहते हैं कि अभाव-भाव नाम की एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण अगले समय में होनेवाली पर्याय अगले समय में गारंटी से होगी ही।

कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः। कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः।

जो पर्याय होनी है, वह न होकर कोई अन्य पर्याय हो जाये और जिस पर्याय का अभाव होना है, उसका अभाव न हो तो क्या होगा ? आत्मा में भावभाव और अभाव-अभाव नाम की ऐसी शक्तियाँ हैं कि जिनके कारण जो पर्याय होनी हो, वही होती है और जो नहीं होनी हो, वह नहीं होती।

इसप्रकार उक्त छह शक्तियों के स्वरूप को सही रूप में समझ लेने से यह आशंका समाप्त हो जाती है कि कोई कार्य समय पर नहीं हुआ तो क्या होगा?

इन शक्तियों के नामों से ही इनका स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। भाव शब्द का अर्थ होता है - होना। अतः जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय उस पर्याय का नियमरूप से होना ही भावशक्ति का कार्य है। इसीप्रकार अभाव शब्द का अर्थ होता है - नहीं होना। अतः जिस समय जिस पर्याय का नहीं होना निश्चित हो; उस पर्याय का उस समय नहीं होना ही अभावशक्ति का कार्य है।

इसीप्रकार भावाभाव अर्थात् भाव का अभाव। जो पर्याय अभी विद्यमान है, उसका अगले समय में निश्चितरूप से अभाव हो जाना ही भाव-अभावशक्ति है और अभावभाव अर्थात् अभाव का भाव होना। जो पर्याय अभी नहीं है और अगले समय में नियम से होनेवाली है; उस अभावरूप पर्याय का भावरूप होना ही अभावभावशक्ति का कार्य है।

भावभाव अर्थात् भाव का भाव और अभाव-अभाव अर्थात् अभाव का अभाव। तात्पर्य यह है कि जो पर्याय होनेवाली है, उसी पर्याय का होना अन्य का नहीं होना भावभावशक्ति का कार्य है और जो पर्याय होनेवाली नहीं है अथवा जिसका अभाव सुनिश्चित है; उस पर्याय का नहीं होना अभाव-अभावशक्ति का कार्य है।

उक्त भावादि छह शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब ३९वीं भावशक्ति और ४०वीं क्रियाशक्ति की चर्चा करते हैं -

३९-४०. भावशक्ति और क्रियाशक्ति

इन भावशक्ति और क्रियाशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति है और कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति है।

देखो, यह भावशक्ति कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित मात्र होनेरूप है और क्रियाशक्ति कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप है।

भावशक्ति यह बताती है कि आत्मा रागादि विकारी भावों के षट्कारकों से रहित है और क्रियाशक्ति यह बतलाती है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों के षट्कारकों से सहित है।

३३वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति है और इस ३९वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति ही है; नाम एक-सा होने पर भी दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि ३३वीं भावशक्ति में यह कहा था कि प्रत्येक द्रव्य अपनी सुनिश्चित वर्तमान पर्याय से युक्त होता ही है और इस ३९वीं भावशक्ति में यह बताया जा रहा है कि यह भगवान आत्मा कारकों की क्रिया से निरपेक्ष है।

भावादि छह शक्तियों के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ था कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय पर की अपेक्षा बिना स्वयं की योग्यता से स्वसमय में प्रगट होती ही है; इसप्रकार वह परकारकों से निरपेक्ष है। और अब इस ३९वीं भावशक्ति में प्रत्येक समय की प्रत्येक पर्याय को अभिन्न षट्कारकों से भी निरपेक्ष बताया जा रहा है। ध्यान रहे, यह अभिन्न षट्कारकों से निरपेक्षता विकारी पर्याय संबंधी ही ग्रहण करना; क्योंकि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों से सापेक्षता अगली क्रियाशक्ति में स्पष्ट की जायेगी।

यद्यपि ३९वीं शक्ति में विकारी-अविकारी पर्याय संबंधी कोई उल्लेख नहीं है; सामान्यरूप से ही अभिन्न षट्कारकों से निरपेक्षता का कथन है; तथापि ४०वीं शक्ति में निर्मलपर्याय संबंधी अभिन्नषट्कारकों की सापेक्षता का कथन होने से यह सहज ही फलित हो जाता है कि ३९वीं शक्ति में विकारी पर्यायों की निरपेक्षता ही समझना चाहिए।

इसप्रकार इन भावादि शक्तियों में पर से निरपेक्षता और विकारी पर्यायों से निरपेक्षता बताकर निर्मल पर्यायों संबंधी षट्कारकों की सापेक्षता का निरूपण है।

इसके बाद षट्कारकों संबंधी कर्मशक्ति, कर्ताशक्ति, करणशक्ति, सम्प्रदानशक्ति, अपादानशक्ति और अधिकरणशक्ति - इन छह शक्तियों का निरूपण होगा और उसके बाद संबंधशक्ति की चर्चा करेंगे। इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव-अभावादि छह शक्तियों में पर के साथ कारकता का निषेध और इस भावशक्ति में विकार के साथ कारकता का निषेध करके क्रियाशक्ति में निर्मल परिणमन के साथ कारकता का संबंध स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का और न रागादि भावों का कर्ता है और न पर और रागादि भावों का कर्म ही है; इसीप्रकार उनका करण भी नहीं है, सम्प्रदान भी नहीं है, अपादान भी नहीं है और अधिकरण भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का पर व रागादि के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी संबंध नहीं है।

इसीप्रकार ये परपदार्थ व विकारी भाव भी आत्मा के कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नहीं हैं और न इनका आत्मा के साथ कोई संबंध ही है।

आत्मोन्मुखी निर्मल परिणमन के साथ आत्मा का उक्त कारकों रूप निर्विकल्प संबंध अवश्य है।

उक्त भावशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रकरण में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण संबंधी कारकों की चर्चा बार-बार आई है; अत: अब आगे उक्त षट्कारकों संबंधी छह

शक्तियों की चर्चा की जा रही है और अन्त में इसका कोई संबंधी है भी या नहीं? यदि है तो कौन है – इस बात का निर्णय करने के लिए संबंधशक्ति की चर्चा करेंगे।

प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति:। भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृत्व-शक्ति:।

४१–४२. कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति

४१वीं कर्मशक्ति और ४२वीं कर्तृत्वशक्ति को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

कर्मशक्ति प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी है और कर्तृत्वशक्ति होनेरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी है।

भगवान आत्मा में जीवत्वादि अनंत शक्तियों में एक कर्म नाम की शक्ति भी है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति भी है। इन शक्तियों के कारण ही यह भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और उन्हें करता भी है। कर्मशक्ति के कारण प्राप्त करता है और कर्तृत्वशक्ति के कारण उन्हें करता है।

यह भगवान आत्मा न तो पर को प्राप्त करता है और न पर का कर्ता ही है। इसीप्रकार रागादि-विकारी भावों को प्राप्त करे या करे – ऐसी भी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। हाँ, अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करने और करने की शक्ति इसमें अवश्य है।

निर्मल परिणामों को करने की शक्ति का नाम कर्तृत्वशक्ति है और इन्हें प्राप्त करने की शक्ति का नाम कर्मशक्ति है। तात्पर्य यह है कि अपने निर्मल परिणामों को करने या प्राप्त करने के लिए इस भगवान आत्मा को पर की ओर झाँकने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग न तो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के अर्थ में हुआ है और न रागादि भावकर्मों के अर्थ में ही हुआ है तथा कर्म शब्द का अर्थ निर्मल परिणमनरूप कार्य भी नहीं है।

यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग आत्मा की अनादि-अनंत शक्तियों में अथवा यहाँ प्रतिपादित ४७ शक्तियों में से एक कर्म नामक शक्ति के अर्थ में है अथवा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों में समागत कर्म के अर्थ में है। ४०वीं कर्तृत्वशक्ति में आत्मा अपने निर्मल परिणामों का कर्ता है – यह बताया गया है और २१वीं अकर्तृत्वशक्ति में आत्मा रागादि विकारी भावों का अकर्ता है – यह बताया गया था।

इसप्रकार इन दोनों शक्तियों के विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि इस भगवान आत्मा में एक कर्म नाम की शक्ति ऐसी है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को करे अथवा उनका कर्तृत्व धारण करे।

स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म – इसप्रकार कर्ता-कर्म का अनन्यपना है। तात्पर्य यह है कि

इस भगवान आत्मा को न तो कुछ करने के लिए अन्यत्र जाना है और न कुछ पाने के लिए पर की ओर झाँकना है। सब कुछ अपने अन्दर ही है।

भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्ति:। स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदान-शक्ति:। उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति:।

कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के निरूपण के उपरान्त अब करणशक्ति की चर्चा करते हैं –

४३. करणशक्ति

४३वीं करणशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

करणशक्ति प्रवर्तमान भाव के होने में साधकतममयी है।

इस भगवान आत्मा में कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के समान एक करण नामक शक्ति भी है; जिसके कारण यह भगवान आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को प्रगट करता है, कर सकता है।

कर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा अपने निर्मल भावों का कर्ता है, कर्मशक्ति के कारण निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और करणशक्ति के कारण वह निर्मल परिणामों का स्वयं कारण भी है। कर्ता भी स्वयं, कर्म भी स्वयं और करण भी स्वयं – इसप्रकार निर्मल पर्यायों के प्रगट करने में वह पूर्णत: स्वाधीन है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों के लिए उसे अन्य की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि निर्मल पर्यायों को प्रगट करने की पूर्ण सामर्थ्य इन कारक संबंधी छह शक्तियों के माध्यम से उसमें ही विद्यमान है।

आत्मा की अनंत स्वतंत्रता की घोषक ये शक्तियाँ आत्मा की अपनी निधियाँ हैं।

उक्त विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त निर्मल पर्यायों को प्राप्त करने का साधन इस शक्ति के माध्यम से यह आत्मा स्वयं ही है; न तो परपदार्थरूप निमित्त साधन हैं और न शुभरागरूप नैमित्तिक भाव ही साधन हैं। अत: आत्मा की साधना के लिए, अनंत अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने के लिए न तो दीनता से पर की ओर देखने की आवश्यकता है और न शुभभावों में धर्म मानकर उनमें उपादेयबुद्धि रखकर उन्हें करने की आवश्यकता है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का कर्ता है, न कर्म और न करण (साधन) ही है तथा परपदार्थ भी इस भगवान आत्मा के कर्ता, कर्म और करण नहीं हैं। इसप्रकार न तो इसके माथे पर पर के कर्तृत्व का भार ही है और न पर से कुछ अपेक्षा ही है।

इसप्रकार करणशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति की चर्चा करते हैं –

४४–४५. सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति

इस ४४वीं सम्प्रदानशक्ति और ४५वीं अपादानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

सम्प्रदानशक्ति अपने द्वारा दिये जानेवाले भाव की उपेयत्वमयी है और अपादानशक्ति उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव से नाश होने से हानि को प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी है।

यहाँ कारक संबंधी छह शक्तियों की चर्चा चल रही है। सामान्यत: छह कारकों का स्वरूप इसप्रकार है - जो कार्य को करता है, वह कर्ता नामक कारक है और जो कार्य है, वह कर्मकारक है। जिसके द्वारा कार्य हो, वह साधन करण कारक कहा जाता है। कार्य का लाभ जिसे प्राप्त हो, वह सम्प्रदान कारक है और कार्य जिसमें से उत्पन्न हो, वह अपादान कारक कहा जाता है तथा कार्य के आधार को अधिकरण कारक कहते हैं।

यह तो सर्वविदित ही है कि इन शक्तियों के प्रकरण में निर्मलपर्यायरूप क्रिया को शामिल किया जाता है। अत: अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का कर्ता कौन है, कर्म कौन है, उन्हें प्राप्त करने का साधन क्या है, वे निर्मल पर्यायें प्राप्त किसको होंगी, वे कहाँ से आयेंगी और उनका आधार कौन है ?

कर्ताशक्ति में यह बताया गया है कि उनका कर्ता यह भगवान आत्मा स्वयं है; क्योंकि इसमें एक कर्ता नाम का गुण (शक्ति) है; जिसके कारण यह आत्मा स्वयं ही उक्त निर्मलपर्यायोंरूप परिणमित होता है। कर्मशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का निर्मल परिणाम ही आत्मा का कर्म है।

करणशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को सम्यग्दर्शन आदि निर्मल पर्यायों की प्राप्ति के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि आत्मा में एक करण नामक गुण (शक्ति) है, जिसके द्वारा आत्मा इन्हें प्राप्त करता है, कर सकता है।

अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि उक्त निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए हैं, आत्मा को प्राप्त होती हैं और आत्मा में से प्रगट होती हैं। अपादानशक्ति के कारण आत्मा में से ही प्रगट होती हैं और सम्प्रदानशक्ति के कारण आत्मा के लिए ही हैं।

सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए आत्मा में से प्रगट होकर स्वयं आत्मा को ही प्राप्त होती हैं - ऐसी अद्भुत वस्तुस्थिति है।

उक्त दोनों शक्तियों के स्पष्टीकरण में यह बताया गया है कि आत्मा का ज्ञान, आनन्द आत्मा में से ही आता है और आत्मा को ही दिया जाता है। दातार भी आत्मा और दान को ग्रहण करनेवाला भी आत्मा। ज्ञान और आनन्द न तो पर में से आते हैं और न पर को दिये ही जाते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा न तो इन ज्ञान और आनन्द को पर से ग्रहण करता है और न ही पर को दे ही सकता है। जो कुछ भी इसका लेना-देना होता है, वह सब अपने अन्दर ही होता है, अन्तर में ही होता है। इन ज्ञान और आनन्द का पर से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इन दोनों शक्तियों के कारण यह भगवान आत्मा अनन्तकाल तक स्वयं ही स्वयं को आनन्द देता रहेगा और स्वयं ही आनन्द लेता भी रहेगा। यह लेन-देन कभी समाप्त नहीं होनेवाली अद्भुत क्रिया है, प्रक्रिया है।

इसप्रकार इन सम्प्रदान और अपादान शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब अधिकरणशक्ति का निरूपण करते हैं –

भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः।

४६. अधिकरणशक्ति

इस ४६वीं अधिकरणशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

अधिकरणशक्ति आत्मा में भाव्यमानभाव के आधारपनेरूप है।

इस अधिकरणशक्ति के कारण भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म का आधार है।

निज भगवान आत्मा के आधार से ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलभावों की प्राप्ति होती है और ये भाव आत्मा के आधार से ही टिकते हैं।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की उत्पत्ति और वृद्धि मोक्षमार्ग है और इन्हीं की पूर्णता मोक्ष है। अधिकरणशक्ति के कारण मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्यायें बिना किसी परपदार्थ और बिना किसी शुभभाव के आधार से आत्मा के आश्रय से आत्मा में सहज ही प्रगट होती हैं।

तात्पर्य यह है कि अनंत सुख–शान्ति प्रदान करनेवाला रत्नत्रयधर्म न तो उपवासादि क्रियाकाण्ड से प्राप्त होता है और न उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभभाव से प्राप्त होता है; किन्तु अपने अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है; आत्मा के ज्ञान से होता है, श्रद्धान से होता है, ध्यान से होता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा स्वयं के आधार पर प्रतिष्ठित है; इसे अन्य आकाशादि पदार्थों के आधार की आवश्यकता नहीं है। न केवल आत्मद्रव्य स्वयं के आधार पर है; अपितु उसका स्वाभाविक परिणमन, निर्मल परिणमन भी पूर्णतः स्वयं के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र संबंधी निर्मल परिणमन का भी एकमात्र आत्मा ही आधार है; क्योंकि उसमें अधिकरण नामक एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह सब कुछ सहज ही होता है, स्वाधीनपने ही होता है।

प्रश्न : शास्त्रों में तो छहों द्रव्यों का आधार आकाश को कहा है और आत्मा भी एक द्रव्य है; अतः उसका आधार भी आकाश ही होना चाहिए?

उत्तर : आकाश को सभी द्रव्यों का आधार कथन निमित्त की अपेक्षा से किया गया कथन है; अतः असद्भूतव्यवहारनय का उपचरित कथन है। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा परमसत्य का प्रतिपादन है; उपादान की अपेक्षा प्रतिपादन है।

व्यवहार से भिन्न षट्कारक की भी चर्चा आती है; पर वह सभी कथन असद्भूत होता है, उपचरित होता है, असत्यार्थ होता है।

यहाँ अभिन्नषट्कारक की चर्चा चल रही है। अतः परमसत्य यही है कि आत्मा अपनी

अधिकरणशक्ति के कारण स्वयं प्रतिष्ठित है, उसके परिणमन में भी स्वयं का ही आधार है।

इसप्रकार अधिकरणशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब संबंधशक्ति की चर्चा करते हैं–

स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः।

४७. सम्बन्धशक्ति

४७वीं सम्बन्धशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

अपना स्वभाव ही अपना स्वामी है – ऐसी स्वस्वामित्वमयी संबंधशक्ति है।

अध्यात्म में कारक छह होते हैं और व्याकरण के अनुसार विभक्तियाँ सात होती हैं। इनमें संबोधन को जोड़कर लोक में आठ विभक्तियों या आठ कारकों की भी चर्चा होती है।

जो क्रिया के प्रति उत्तरदायी हो, जिसका क्रिया के साथ सीधा संबंध हो, उसे कारक कहते हैं। संबोधन का क्रिया के साथ कोई संबंध नहीं है; इसकारण उसे न तो कारकों में और न विभक्तियों में ही गिना जा सकता है।

संबंध का भी कोई सीधा संबंध क्रिया से नहीं होता और न वह क्रिया के प्रति उत्तरदायी ही है; अतः संबंध को भी कारक नहीं कहा जा सकता; फिर भी विभक्तियों में तो उसे शामिल किया ही गया है। अतः यहाँ भी शक्तियों के रूप में संबंध की चर्चा है। इतना विशेष है कि षट्कारकों संबंधी शक्तियों में तो कर्ता–कर्म संबंधी चर्चा है और इस संबंधशक्ति में स्व–स्वामी संबंध की बात कही गई है। इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि इस भगवान आत्मा का स्वामी कोई अन्य नहीं, यह स्वयं ही है। यही स्व और यही स्वामी – ऐसा ही अनन्य स्व–स्वामी संबंध है। यह भी स्पष्ट ही है कि न तो इसका कोई अन्य पदार्थ स्वामी है और न यह भी किसी अन्य पदार्थ का स्वामी है।

स्वयं की निर्मल पर्याय आत्मा की सम्पत्ति है और यह भगवान आत्मा ही इसका स्वामी है।

इसप्रकार यह शक्ति आत्मा के एकत्व–विभक्त स्वरूप को बतलाती है। इस संबंधशक्ति के माध्यम से भगवान आत्मा का पर के साथ किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है – यह निश्चित हो जाता है। इसप्रकार इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि अनंत शक्तियों में एक संबंध नाम की शक्ति भी है कि जिसके कारण यह आत्मा किसी भी परपदार्थ का न तो स्वामी है और न ही कोई पर पदार्थ ही भगवान आत्मा का स्वामी है। तात्पर्य यह है कि न तो इसके माथे पर के स्वामित्व का भार है और न अन्य की पराधीनता ही है।

प्रश्न : संबंध तो भिन्न–भिन्न द्रव्यों के बीच होता है। अतः मैं ही स्व और मैं ही स्वामी – यह कैसे हो सकता है ? जब दोनों स्वयं ही हैं तो फिर इसे संबंध कहने से क्या साध्य है ?

उत्तर : अरे भाई ! यह संबंधशक्ति यह स्पष्ट करने के लिए कही गई है कि आत्मा का पर के साथ कोई संबंध नहीं है। यह आत्मा पर से संबंधित न हो, अपने में ही सीमित रहे – यही कार्य है इस संबंधशक्ति का। मैं ही स्व और मैं ही स्वामी' – यह भी कथनमात्र ही है; क्योंकि मैं तो मैं ही हूँ, उसमें सम्पत्ति और स्वामी का विकल्प भी कथनमात्र है।

यह संबंधशक्ति पर के साथ संबंध बताने के लिए नहीं कही गई; अपितु पर के साथ सभीप्रकार

के सभी संबंधों के निषेध के लिए कही गई है। पर से संबंध के निषेध पर बल देने के लिए स्वयं में ही स्व-स्वामी संबंध बताया गया है।

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु।।२६४।।

यहाँ यह समझना चाहिए कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पत्ति) - इसका आशय यही है कि यहाँ स्व-स्वामी संबंध की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी बात पर बल देने के लिए कि मेरा कोई स्वामी नहीं है, मैं किसी की सम्पत्ति नहीं हूँ और मैं भी किसी का स्वामी नहीं हूँ और कोई मेरी सम्पत्ति नहीं है; इसलिए यह कहा गया है कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पत्ति)।

यह न केवल संबंधशक्ति के बारे में समझना; अपितु सभी कारकों संबंधी शक्तियों के बारे में समझना चाहिए; क्योंकि मैं ही कर्ता, मैं ही कर्म, मैं ही करण, मैं ही संप्रदान, मैं ही अपादान और मैं ही अधिकरण - इसका भी यही अर्थ हो सकता है कि मेरा कर्ता कोई अन्य नहीं, मेरा कर्म भी अन्य कोई नहीं। इसीप्रकार करणादि कारकों पर भी घटित कर लेना चाहिए।

अन्त में यही निष्कर्ष रहा कि मैं तो मैं ही हूँ, षट्कारक की प्रक्रिया से पार स्वयं में परिपूर्ण स्वतंत्र पदार्थ। यही कारण है कि इन शक्तियों के आत्मा में विद्यमान होने पर भी इनके लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती; अपितु इन शक्तियों के संग्रहालय अभेद-अखण्ड त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का आरंभ होता है।

इसप्रकार संबंधशक्ति की चर्चा के साथ-साथ ४७ शक्तियों की चर्चा भी समाप्त होती है। उक्त ४७ शक्तियों की चर्चा में दृष्टि के विषयभूत अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही है; साथ में उछलती हुई शक्तियों की बात कहकर; शक्तियों के उछलने की चर्चा करके, निर्मलपर्यायरूप से परिणमित होने की बात करके द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य की चर्चा के साथ-साथ पर्यायार्थिकनय के विषयभूत निर्मल परिणमन को भी स्वयं में समेट लिया है।

इसप्रकार इस स्याद्वादाधिकार में द्रव्य-पर्यायात्मक अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु को स्याद्वाद शैली में स्पष्ट किया गया है।

इसप्रकार ४७ शक्तियों की चर्चा करने के तत्काल बाद आचार्यदेव दो छन्दों में इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है।
फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती।।

और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर।
द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में।।२६४।।

(वसंततिलका)

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयन्तः।।२६५।।

(रोला)

अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते।
वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन।।
स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अर।
नहीं लाँघकर जिननीति को ज्ञानी होते।।२६५।।

इस लोक में स्वयं की जीवत्वादि अनेक शक्तियों से पूर्णतः परिपूर्ण होने पर भी जो भाव (आत्मा) ज्ञानमात्रता को नहीं छोड़ता; वह भाव (आत्मा) पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप विद्यमान होने से अनेकाकार द्रव्य-पर्यायमय चेतन वस्तु है।

अनेकान्तसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को स्वयमेव देखते हुए स्याद्वाद की अत्यधिक शुद्धि को जानकर जिनवरदेव की नीति का उल्लंघन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानी (ज्ञानस्वरूप) होते हैं।

उक्त छन्दों में आचार्यदेव यही कहना चाहते हैं कि यह भगवान आत्मा अक्रमवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों तथा जीवत्वादि अनंत शक्तियों का संग्रहालय द्रव्य-पर्यायात्मक चैतन्यवस्तु है। यह चैतन्यवस्तु अनंत गुणात्मक और उनके निर्मल परिणमन से संयुक्त होने पर भी अपने ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ती, अपने जाननस्वभाव को नहीं छोड़ती।

उक्त अनेकान्तात्मक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु और उसकी परिणमन व्यवस्था का स्वरूप भलीभाँति जानकर ज्ञानीजन स्याद्वादमयी जिननीति को, जिनेन्द्रभगवान कथित नीति को नहीं छोड़ते।

तात्पर्य यह है कि हमें स्याद्वादमयी जिननीति का अनुसरण करते हुए अनेकान्तात्मक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को जानकर उसमें अपनापन स्थापित कर; उसी में जम जाना, रम जाना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति के परिशिष्ट के आरंभ में ही यह प्रतिज्ञा की थी कि अब स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेय भाव पर भी थोड़ा-बहुत विचार करते हैं।

२४७ वें कलश में समागत उक्त कथन का तो यही अर्थ अभीष्ट है कि वे स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव की चर्चा करना चाहते हैं।

उक्त कथन के आधार पर तो उसमें समागत दो अधिकारों के नाम **वस्तुतत्त्वव्यवस्था अधिकार** और **उपायोपेयाधिकार** होना चाहिए; क्योंकि स्याद्वाद की स्थापना तो वे दोनों अधिकारों में ही करते देखे जाते हैं; तथापि कलश टीकाकार और नाटक समयसारकार ने इन अधिकारों के नाम

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाधिकार दे दिये। इसकारण पहले अधिकार का नाम स्याद्वाद अधिकार ही प्रचलित हो गया।

उपायोपेयाधिकार

अथास्योपायोपेयभावश्चिंत्यते –

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्ध–रूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः।

अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात् संसरतः सुनिश्चिलपरिगृहीत–व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चय–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशय–

वस्तुव्यवस्था अधिकार में स्याद्वाद की चर्चा ही प्रमुखरूप से हुई है। स्याद्वादाधिकार नामकरण में एक कारण यह भी रहा है।

अस्तु हमने भी उसी का अनुकरण करना उचित समझा; क्योंकि इससे विषयवस्तु में तो कोई विशेष अन्तर आता नहीं। अतः व्यर्थ के बौद्धिक व्यायाम से क्या लाभ है ? इसप्रकार स्याद्वादाधिकार में वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादन करने के उपरान्त अब उपाय–उपेयभाव पर विचार करते हैं।

मंगलाचरण

(दोहा)

परम शान्त सुखमय दशा, कही जिनागम मोक्ष।
रत्नत्रय की साधना, ही उपाय है मोक्ष।।

इस अधिकार का आरंभ आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र निम्नांकित पंक्ति से करते हैं –

अब उपाय–उपेय भाव पर विचार करते हैं। तात्पर्य यह है कि अकेली एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में उपायभाव अर्थात् साधकभाव और उपेयभाव अर्थात् साध्यभाव किसप्रकार घटित होते हैं – यह बताते हैं।

उपाय–उपेयभाव का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र ही है; तथापि उसमें उपाय–उपेयभाव विद्यमान रहता ही है; क्योंकि एक होने पर भी आत्मा साधकरूप से और साध्यरूप से स्वयं ही परिणमित होता है।

उसमें जो साधकरूपभाव है, वह उपाय है और जो सिद्धरूपभाव है, वह उपेय है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग उपाय है और मोक्ष उपेय है।

अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में परिभ्रमण करते हुए भलीभाँति ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–

चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आहोरण कराये जाते इस आत्मा को, अन्तर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद की तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप प्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानं ज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति।

एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवंति।

ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्या-ज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव।

से परिणमित होता हुआ परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित सकल कर्मक्षय से प्रज्वलित हुए अस्खलित विमल स्वभावभावत्व से स्वयं सिद्धरूप से परिणमता हुआ एक ज्ञानमात्रभाव ही उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।

इसप्रकार ये उपाय और उपेय - दोनों भाव ज्ञानमात्र आत्मा से अनन्य ही हैं। इसलिए सदा अस्खलित एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के निष्कम्प ग्रहण से, जिनको अनादि संसार से निर्मलभावरूप भूमिका की प्राप्ति न हुई हो; उन मुमुक्षुओं को भी तत्क्षण ही साधक भूमिका की प्राप्ति होती है। फिर उसी में नित्य लीन रहते हुए क्रमरूप से और अक्रमरूप से प्रवर्तमान अनेक धर्मों के अधिष्ठाता वे मुमुक्षु साधकभाव से उत्पन्न होनेवाले परम प्रकर्षरूप साध्यभाव के भाजन होते हैं।

परन्तु जो अनेक धर्मों से गर्भित ज्ञानमात्रभाव की इस भूमिका को प्राप्त नहीं कर पाते हैं; वे सदा ही अज्ञानी रहते हुए ज्ञानमात्रभाव को स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते हुए, जानते हुए और आचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक आत्मा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है और यहाँ शक्तियों के प्रकरण में भी त्रिकाली ध्रुव द्रव्य और गुणों के साथ-साथ निर्मल परिणमन को भी शामिल किया गया है।

यह निर्मल परिणमन ही उपाय (साधन-मोक्षमार्ग) और उपेय (साध्य-मोक्ष) के भेद से दो प्रकार का होता है।

उपायभाव तो चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रगट हो जाता है; क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में होनेवाली चारित्रगुण की परिणति भी अंशरूप में निर्मल हो जाती है।

यद्यपि किन्हीं-किन्हीं को क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट हो जाता है; तथापि क्षायिकज्ञान तेरहवें गुणस्थान के पहले नहीं होता। यद्यपि ज्ञान का परिणमन सम्यग्ज्ञानरूप हो गया

है; तथाापि ज्ञान की पूर्णता केवलज्ञान होने पर ही होती है। इसीप्रकार चारित्र की पूर्णता भी साध्यभाव की सिद्धि के साथ ही होती है।

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ।।२६६।।
स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ।।२६७।।

अनन्तगुणात्मक भगवान आत्मा का सिद्धदशारूप परिणमित हो जाना साध्यभाव है, उपेयभाव है, साक्षात् मोक्ष है। फिर भी जबतक आत्मा ने सिद्धदशा प्राप्त नहीं की है; तबतक उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन का नाम साधकभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्वयं ही साधक है और स्वयं साध्य भी है। तात्पर्य यह है कि इसे अपने साध्य की सिद्धि के लिए पर की ओर देखने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि इस ज्ञानमात्र आत्मा में ही साध्य-साधकभावरूप परिणमन भी विद्यमान है। इसप्रकार ये उपायभाव और उपेयभाव आत्मा से अनन्य ही हैं, अन्य नहीं।

आरंभ में जो यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि इस एक ज्ञानमात्र आत्मा में उपाय और उपेय - ये दो भाव किसप्रकार घटित होते हैं? उसका समाधान प्रस्तुत किया। साथ ही आत्मा की स्वाधीनता भी सहज सिद्ध हो गई; क्योंकि उसे अपने साध्य की सिद्धि के लिए पर की ओर झाँकने की आवश्यकता नहीं रही।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही साधकभाव हैं; बाह्य क्रियाकाण्डरूप व्यवहार नहीं। यद्यपि साधकों के भूमिकानुसार बाह्य व्यवहार भी देखा जाता है, सहज ही होता है; तथापि वह वस्तुतः साधकभाव नहीं है। उसे सहचारी होने के कारण साधक कहना मात्र उपचरित कथन ही है।

इसप्रकार उपाय-उपेयभाव की चर्चा करने के उपरान्त अब आचार्य अमृतचन्द्र कतिपय कलशों के माध्यम से इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अपनी उत्कृष्ट भावना को व्यक्त करते हैं।

छन्दों का पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

रे ज्ञानमात्र निज भाव अकंपभूमि।
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही।।

साधकपने को पा वे सिद्ध होते।
अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते।।२६६।।

(वसंततिलका)

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः।
आनंद-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा।।२६८।।

(वसंततिलका)

स्याद्वाद कौशल तथा संयम सुनिश्चल।
से ही सदा जो निज में जमे हैं।।
वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से।
सुपात्र हो पाते भूमिका को।।२६७।।

किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है और जो ज्ञानमात्र निजभावमय अकंप भूमिका का आश्रय लेते हैं; वे साधकदशा को प्राप्त कर अन्ततः सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं।

स्याद्वाद में प्रवीणता और सुनिश्चल संयम के द्वारा अपने में उपयुक्त रहता हुआ जो पुरुष प्रतिदिन अपने को भाता है; वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय की तीव्र मैत्री का पात्र होता हुआ इस ज्ञानमात्र निजभावमयी भूमिका का आश्रय करता है।

(वसंततिलका)

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता।
चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से।।
जो अस्खलित है आनन्दमय वह।
होता उदित अद्भुत अचल आतम।।२६८।।

चैतन्यपिण्ड के प्रचण्ड विलसित विकासरूप हास और शुद्धप्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है, आनन्द में सुस्थित जिसका अस्खलित एकरूप है और जिसकी ज्योति अचल है – ऐसा यह आत्मा आत्मा का आश्रय लेनेवालों को ही प्राप्त होता है।

उक्त कलशों में प्रगट की गई आचार्यश्री की भावना का सार यह है कि स्याद्वाद की प्रवीणता अर्थात् ज्ञाननय और सुनिश्चल संयम अर्थात् क्रियानय के आश्रय से जो अपनीतमोही साधक निज आत्मा की साधना करते हैं; उनके साधकभाव का सुप्रभात होता है और वे साधक शीघ्र ही सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा को प्राप्त न करनेवाले अज्ञानी अज्ञान की काली रात्रि के घने अंधकार में विलीन होकर संसार परिभ्रमण करते हैं।

बहुत से लोग **ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री** का अर्थ ऐसा करते हैं कि आत्मा के ज्ञान और महाव्रतादिरूप बाह्य क्रिया में तीव्र मित्रता है और इनके द्वारा ही साध्यभाव की सिद्धि होती है; किन्तु उनका यह अभिप्राय ठीक नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि स्याद्वाद की प्रवीणता से अर्थात् स्याद्वाद शैली में प्रतिपादित अनेकान्तात्मक आत्मा का स्वरूप समझना, अनुभव करना

ज्ञाननय है और सुनिश्चल संयम अर्थात् आत्मा में ही लीन हो जाना, आत्मा का ही ध्यान करना क्रियानय है। अरे भाई ! आत्मध्यान की क्रिया ही सुनिश्चल संयम है।

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६९।।

चित्रात्म-शक्ति-समुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्माद-खंडम-निराकृत-खंडमेक-
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि।।२७०।।

तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान और आत्मध्यान से ही साधकदशापूर्वक साध्यदशा प्रगट होती है, उपायपूर्वक उपेय प्राप्त होता है, मोक्षमार्गपूर्वक मोक्ष की सिद्धि होती है।

साध्यदशा में अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार वे अनंतकाल तक सहज ज्ञाता-दृष्टा रहते हुए अनंत-आनन्द को भोगते रहते हैं।

प्रश्न : कहीं-कहीं ऐसा भी तो आता है कि तीन कषाय के अभावरूप वीतरागभाव और महाव्रतादि के शुभभाव में भी मित्रता है। इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : साधकदशा में तीन कषाय के अभावरूप वीतरागपरिणति अर्थात् शुद्धभाव और महाव्रतादि के शुभभाव एकसाथ पाये जाते हैं।

यद्यपि उक्त दोनों भाव परस्पर विरोधी भाव हैं। एक शुद्धभाव है और दूसरा अशुद्ध, एक बंध के अभाव का कारण है और दूसरा शुभबंध का कारण है; तथापि उक्त दोनों भावों में ऐसा विरोध नहीं है कि वे एकसाथ रह ही न सकें। साधकदशा में वे एकसाथ पाये जाते हैं - मात्र इतना बताने के लिए उनमें मैत्रीभाव बता दिया जाता है। इससे अधिक कुछ नहीं समझना।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि ज्ञानमात्र आत्मा में ही साध्य-साधकभाव होने में स्याद्वादी को कोई बाधा नहीं आती।

इसी आशय के और भी अनेक कलश हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित।
स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब।।
तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों।
से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ।।२६९।।
निज शक्तियों का समुदाय आतम।
विनष्ट होता नयदृष्टियों से।।

खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं।
एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं।।२७०।।

न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त जगमगाते तेजवाले एवं शुद्धस्वभाव की महिमा सम्पन्न प्रकाश जब मुझमें उदय को प्राप्त होता है तो बंध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या लेना-देना ? मुझे तो नित्य उदित रहनेवाला मेरा यह स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

अनेकप्रकार की अनंतशक्तियों का समुदाय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्ड किये जाने पर तत्समय ही नाश को प्राप्त होता है। इसलिए मैं तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें यद्यपि खण्डों का निराकरण नहीं किया गया है; तथापि जो अखण्ड है, एकान्त शान्त है और अचल है - ऐसा चैतन्यमात्र भाव ही मैं हूँ।

उक्त कलशों में यही कहा गया है कि जब साध्यभाव और साधकभाव मुझमें ही हैं, मेरे ही परिणमन में हैं; तब मुझे अन्य पदार्थों से क्या प्रयोजन है? तात्पर्य यह है कि आत्मा को अपने कल्याण के लिए किसी पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति का मार्ग पूर्णत: स्वाधीन है और मुक्ति में तो पूर्ण स्वाधीनता है ही।

सहयोग की आकांक्षा से पर की ओर देखने की आवश्यकता तो है ही नहीं; साथ ही नयविकल्पों में उलझने की भी आवश्यकता नहीं है। पूर्णत: शान्त, एक, अचल, अबाधित, अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प आराधना ही पर्याप्त है। यह आराधना भी 'ऐसा चैतन्यभाव मैं हूँ' - ऐसा जानना, मानना और निर्विकल्प होकर उसी में समा जाना ही है; इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

इन कलशों के उपरान्त आत्मख्याति में गद्य में एक महामंत्र दिया गया है; जिसके भाव को आत्मसात कर उस भाव में ही समा जाना है। नित्य जपने योग्य वह मंत्र इसप्रकार है -

मैं अपने शुद्धात्मा को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से ही खण्डित करता हूँ; क्योंकि मैं तो एक सुविशुद्ध ज्ञानमात्र भाव हूँ।

यह तो सर्वविदित ही है कि आत्मख्याति गद्य-पद्यरूप टीका है। यद्यपि इसमें गद्यभाग की ही बहुलता है; तथापि इसमें २७८ छन्द भी आये हैं, जिन्हें कलश नाम से पुकारा जाता है।

उक्त मंत्र में दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मैं न तो द्रव्य से खण्डित होता हूँ, न क्षेत्र से, न काल से और न भाव से ही खण्डित होता हूँ; मैं तो एक अखण्ड चिन्मात्र वस्तु ही हूँ - यह भावना ही निरन्तर भाने योग्य है। इसी की प्रेरणा आत्मख्याति के इस गद्य खण्ड में दी गई है।

इसकी भावना निरन्तर भाते रहने का आशय मात्र इतना ही नहीं है कि हम इस वाक्यखण्ड को जीभ से दुहराते रहें; अपितु यह है कि हम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अखण्ड द्रव्यार्थिकनय

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१।।

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ।।२७२।।

की विषयभूत आत्मवस्तु को पहिचानने और उसमें ही अपनापन स्थापित कर उसको निरन्तर अपने उपयोग का विषय बनाने का सार्थक पुरुषार्थ करें।

इसके उपरान्त ज्ञानमात्र ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अनेक कलश लिखे गये हैं; जिनमें पहले कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर।
मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो।।
ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से।
परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ।।२७१।।

जो यह ज्ञानमात्रभाव रूप मैं हूँ, उसे ज्ञेयों के ज्ञानमात्ररूप नहीं जानना चाहिए; क्योंकि मैं तो ज्ञेयों के आकाररूप होनेवाली ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता – इन तीनोंमय एकवस्तु हूँ – ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि आत्मा की सत्ता या सीमा मात्र पर को जानने मात्र तक सीमित नहीं है, अपितु वह तो स्वपरप्रकाशक ज्ञानपर्यायरूप से परिणमित ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयरूप है। स्वपर को जानना उसका स्वयं का स्वभाव है, उसमें पर का या परज्ञेयों का कुछ भी नहीं है।

अब इसी भगवान आत्मा के अनेकान्तात्मक स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले तीन छन्द आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं, जिनमें से प्रथम का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(रोला)

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता।
कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है।।

अनंत शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी।
दृष्टिवंत को भ्रमित नहीं होने देता है।।२७२।।

(पृथ्वी)

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्।।२७३।।

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रियमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः।।२७४।।

मेरे आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वभाव है कि कभी तो वह मेचक (अनेकाकार -अशुद्ध) दिखाई देता है और कभी अमेचक (एकाकार-शुद्ध) दिखाई देता है तथा कभी मेचकामेचक (दोनोंरूप) दिखाई देता है; तथापि परस्पर सुग्रथित प्रगट अनंत शक्तियों के समूह रूप से स्फुरायमान वह मेरा आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धिवालों के मन को विमोहित नहीं करता, भ्रमित नहीं करता।

(रोला)

एक ओर से एक स्वयं में सीमित अर ध्रुव।
अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है।।
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो।
जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते।।२७३।।
एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता।
अन्य ओर से भव-भव पीड़ित राग-द्वेषमय।।
तीन लोकमय भासित होता विविध नयों से।
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो।।२७४।।

अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि एक ओर से देखने पर अनेकता को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा ही एकता को धारण किये रहता है; एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उदयरूप होने से ध्रुव है; एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों में ही सीमित रहता है।

एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर अनंत शान्ति दिखाई देती है। एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करते दिखाई देते हैं। एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान

होते हैं और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है।

इसप्रकार आत्मा की अद्भुत से अद्भुत स्वभाव महिमा जयवंत वर्तती है।

(मालिनी)

जयति सहजतेज:पुंजमज्जत्त्रिलोकी–
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप:।
स्वरस–विसर–पूर्णाच्छिन्न–तत्त्वोलंभ:
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष:।।२७५।।

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म–
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितम–मृतचंद्र–ज्योति–रेतत्समंता–
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं नि:सपत्नस्वभावम्।।२७६।।

इसप्रकार इन कलशों में आत्मा के अनेकान्त स्वभाव का दिग्दर्शन किया गया है। अनेक नयों से वह अनेकप्रकार का दिखाई देते हुए भी जब हम उसे नयातीत दृष्टि से देखते हैं या अनुभव करते हैं तो वह शुद्ध-बुद्ध-निरंजन-निराकार ही दिखाई देता है, सर्वज्ञस्वभावी होकर भी आत्मस्थ ही दिखाई देता है।

चूँकि अब आत्मख्याति और उसका परिशिष्ट भी समापन की ओर है; इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एकबार फिर स्याद्वाद की शुद्धि के लिए संक्षेप में आत्मवस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं।

अब अन्त में आचार्यदेव आशीर्वादात्मक कलशों के माध्यम से आत्मज्योति के जयवंत वर्तने की मंगल कामना कर रहे हैं, कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(सोरठा)

झलकें तीनो लोक, सहज तेज के पुंज में।
यद्यपि एक स्वरूप, तदपी भेद दिखाई दें।।
सहज तत्त्व उपलब्धि, निजरस के विस्तार से।
नियत ज्योति चैतन्य, चमत्कार जयवंत है।।२७५।।

(दोहा)

मोह रहित निर्मल सदा, अप्रतिपक्षी एक।
अचल चेतनारूप में, मग्न रहे स्वयमेव।।
परिपूरण आनन्दमय, अर अद्भुत उद्योत।
सदा उदित चहुँ ओर से, अमृचन्द्रज्योति।।२७६।।

सहज तेजपुंज आत्मा में त्रिलोक के सभी पदार्थ मग्न हो जाते हैं; इसकारण अनेकाकार दिखाई देते हुए भी जो आत्मा एकरूप ही है तथा जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न

तत्त्वोलब्धि है और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है – ऐसा यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्काररूप भगवान आत्मा जयवंत वर्तता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ।।२७७।।

जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है, जिसने मोह का नाश किया है; जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्मों से रहित है, जो निर्मल और पूर्ण है; ऐसी यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति, अमृतमयचन्द्रमा के समान ज्ञानज्योति, आत्मज्योति सब ओर से जलती रहे, प्रकाशित रहे।

प्रथम कलश में लोकालोक को जानकर भी स्वयं में सीमित रहनेवाले आत्मा के जयवंत वर्तने की बात की है तो दूसरे छन्द में अमृतमय चन्द्रमा के समान केवलज्ञानज्योति के निरन्तर प्रकाशित करने की प्रार्थना की गई है।

दूसरे छन्द में सहज ही आचार्य अमृतचन्द्र के नाम का भी उल्लेख हो गया है। हो सकता है आचार्यदेव ने यह प्रयोग बुद्धिपूर्वक किया हो।

अब आचार्यदेव एक छन्द में इस बात की चर्चा करते हैं कि वे स्वयं अथवा कोई भी ज्ञानी जीव अनादि से कैसा था और आत्मानुभूति होने पर कैसा हो जाता है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है–

(हरिगीत)

गतकाल में अज्ञान से एकत्व पर से जब हुआ।
फलरूप में रस-राग अर कर्तृत्व पर में तब हुआ।।
उस क्रियाफल को भोगती अनुभूति मैली हो गई।
किन्तु अब सद्ज्ञान से सब मलिनता लय हो गई।।२७७।।

पहले जिस अज्ञान से स्व और पर का द्वैत हुआ अर्थात् स्व और पर में मिश्रितपने का भाव हुआ; इसकारण स्वरूप में अन्तर पड़ गया अर्थात् संयोगरूप बंधपर्याय ही निजरूप भासित होने लगी और राग–द्वेष उत्पन्न होने लगे तथा कर्तृत्वादि भाव जाग्रत हो गये, कारकों का भेद पड़ गया। कारकों के भेद उत्पन्न होने पर क्रिया के समस्त फलों को भोगती हुई अनुभूति मैली हो गई, खिन्न हो गई। अब वही अज्ञान ज्ञानरूप में परिणत हो गया, आत्मानुभूति सम्पन्न हो गया और अज्ञान के कारण जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा था, अब वह वस्तुतः कुछ भी नहीं रहा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त कलश में आचार्यदेव अपनी विगत अवस्थाओं को याद करते हैं और उसकी तुलना अपनी आज की अवस्था से करते हैं।

आत्मख्याति टीका के आरंभ में भी मंगलाचरण के उपरान्त तीसरे कलश में आचार्यदेव ने एक भावना भायी थी कि इस समयसार ग्रन्थराज की टीका करने से मेरी अनुभव रूप परिणति की परम

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ।।२७८।।

विशुद्धि हो। अब अन्त में टीका की निर्विघ्न समाप्ति पर मानो वे कह रहे हैं कि मेरा काम हो गया है; जो भावना मैंने भायी थी, अब वह पूर्ण हो रही है।

अब सर्वान्त में टीका के कर्तृत्व के संबंध में वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं, कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें।
त्यों समय की यह व्याख्या भी उन्हीं शब्दों ने करी।।
निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का।
इस आत्मख्याति में अरे कुछ भी नहीं कर्तृत्व है।।२७८।।

जिन शब्दों ने अपनी शक्ति से ही वस्तुतत्त्व का भलीभाँति प्रतिपादन किया है; उन शब्दों ने ही समयसार ग्रन्थाधिराज की यह आत्मख्याति नाम की व्याख्या (टीका) की है अथवा समयसाररूप आत्मा का व्याख्यान किया है। अपने स्वरूप में ही गुप्त सुस्थित आचार्य अमृतचन्द्र का इसमें कुछ भी कर्तव्य (कर्तृत्व) नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मख्याति टीका शब्दों द्वारा ही हुई है, आचार्य अमृतचन्द्र ने इसमें कुछ भी नहीं किया है।

देखो, आचार्य अमृतचन्द्र ने यहाँ एक शब्द में अपना परिचय दिया है, एक उपाधि स्वयं ने स्वयं को दी है; वह है – **स्वरूपगुप्त।** वे अपने को स्वरूपगुप्त ही मानते हैं, स्वीकार करते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि यह तो उन्होंने अपनी निरभिमानता प्रगट की है; पर भाई ! यह मात्र निरभिमानता प्रगट करने की औपचारिकता नहीं है, अपितु वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है।

यह उनके अन्तर की बात है; क्योंकि उनका अपनापन त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ही है और वे अपना वास्तविक कार्य तो स्वरूप में गुप्त रहना ही मानते हैं। अत: वे अन्तर की गहराई से कह रहे हैं कि अरे भाई ! आत्मख्याति टीका स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कार्य कैसे हो सकती है ? यह तो शब्दों का कार्य है। शब्दों में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की शक्ति है। इसमें स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कोई कर्तृत्व नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि न सही उपादान, पर वे इसके निमित्तकर्ता तो हैं ही; पर भाई साहब! स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र निमित्त भी नहीं हैं; क्योंकि निमित्त उनका राग है, विकल्प है, योग-उपयोग है और स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र में ये कुछ भी नहीं आते। वे तो अपने को इनसे भिन्न स्वरूपगुप्त

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व मानते हैं। अधिक से अधिक उन्हें उक्त योग और उपयोग का कर्ता भले कहा जाये, पर वे टीकारूप परद्रव्य के परिणमन के कर्ता तो हैं ही नहीं।

इति श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्याति: समाप्ता।

माला तो फूलों से बनती है, माली से नहीं; माला तो फूल ही बनाते हैं, माली नहीं। हाँ, माला के बनने में माली का योग और उपयोग निमित्त अवश्य होता है, कर्ता नहीं। यह बात अवश्य है कि माली माला के निर्माण संबंधी अपने योग और उपयोग का कर्ता है।

इसीप्रकार यदि यह टीका शब्दरूप फूलों की अतिव्यवस्थित माला ही है तो आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त सुघड़ माली हैं। जिसप्रकार माली अपने योग और उपयोग का कर्ता है; उसीप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र भी अपने योग और उपयोग के कर्ता हो सकते हैं; पर वे रागमिश्रित उपयोग का कर्तृत्व स्वीकार करने को भी तैयार नहीं हैं; क्योंकि वे उसे अपना कर्तव्य नहीं मानते। वे शुद्धोपयोग क्रिया को ही एकमात्र कर्तव्यरूप में स्वीकार करते हैं।

प्रशस्ति के अन्तिम पद में भी वे अपनी पर्याय की प्रशस्ति नहीं करते हैं, अपने द्रव्यस्वभाव की प्रशस्ति ही करते हैं। प्रशस्ति के पद में भी वे उसी तत्त्व का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं कि जिसका उन्होंने सम्पूर्ण आत्मख्याति में किया है।

ऐसे भी अनेक धर्मात्मा ज्ञानी प्राप्त होते हैं; जो प्रशस्ति में निश्चय की बात करने के उपरान्त अपना व्यावहारिक परिचय भी देते हैं। वे कोई गलती करते हैं – ऐसा मैं नहीं मानता; क्योंकि इसके बिना इतिहास भी कैसे सुरक्षित रहेगा; पर मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि व्यावहारिक परिचय के समय भी आचार्य अमृतचन्द्र ने नाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिखा; वह भी इस रूप में कि इस टीका में अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यह बात कहने में सहजभाव से नाम आ गया है। निश्चयनय से टीका का कर्ता किसी व्यक्ति को कहना मोह में नाचना है, मिथ्या मान्यता है। यह बात उक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्ट है। उक्त कथन को मात्र औपचारिक कथन न मानकर उसमें प्रतिपादित तत्त्व की गहराई जानना ही श्रेयस्कर है।

समयसार तो सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो गया था, अब यहाँ आत्मख्याति टीका भी समाप्त हो रही है। परिशिष्ट भी टीका का ही अंग है। वह भी समाप्त हो गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका समाप्त होती है और इसके साथ ही ज्ञायकभाव प्रबोधिनी हिन्दी टीका भी समाप्त होती है।

अन्तिम भावना

(कुण्डलिया)

रहे निरन्तर चित्त में, चिन्तन बारम्बार।
आत्मख्याति टीका सहित, समयसार का सार।।
समयसार का सार त्रिकाली ध्रुव परमातम।
जीवन का आधार बने कारण परमातम।।
उसमें ही नित रहे निरन्तर मेरा अन्तर।
केवल ज्ञायकभाव चित्त में रहे निरन्तर।।

●●●

श्री समयसार की वर्णानुक्रम गाथा सूची

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अज्झवसाणणिमित्तं	२६७	३६८
अज्झवसिदेण बंधो	२६२	३६४
अट्ठवियप्पे कम्मे	१८२	२७२
अट्ठविहं पि य कम्मं	४५	९५
अण्णदविएण	३७२	४८४
अण्णाणमओ भावो	१२७	१९५
अण्णाणमया भावा	१२९	१९८
अण्णाणमया भावा	१३१	२००
अण्णाणमोहिदमदी	२३	६१
अण्णाणस्स स उदओ	१३२	२०१
अण्णाणी कम्मफलं	३१६	४३३
अण्णाणी पुण रत्तो	२१९	३२४
अण्णो करेदि अण्णो	३४८	४५८
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	५३६
अपडिक्कमणं दुविहं	२८३	३८९
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे	२८४	३८९
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	३१६
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	३१६
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	३१६
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	३१६
अपरिणमंतह्मि सयं	१२२	१९३
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं	३०७	४१६
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७	२८१
अप्पाणमयाणंता	३९	८८
अप्पाणमयाणंतो	२०२	३०२
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो	३४२	४५०
अप्पाणं झायंतो	१८९	२८१
अरसमरूवमगंधं	४९	९८
अवरे अज्झवसाणेसु	४०	८८
असुहं सुहं व दव्वं	३८१	४८९
असुहं सुहं व रूवं	३७६	४८८
असुहो सुहो व गंधो	३७७	४८८
असुहो सुहो व गुणो	३८०	४८९
असुहो सुहो व फासो	३७९	४८९
असुहो सुहो व रसो	३७८	४८८
असुहो सुहो व सद्दो	३७५	४८८
अह जाणओ दु भावो	३४४	४५०
अह जीवो पयडी तह	३३०	४४५
अह ण पयडी ण जीवो	३३१	४४५
अह दे अण्णो कोहो	११५	१८८
अहमेक्को खलु सुद्धो	३८	८४
अहमेक्को खलु सुद्धो	७३	१३५
अहमेदं एदमहं	२०	५८
अहवा एसो जीवो	३२९	४४५
अहवा मण्णसि मज्झं	३४१	४५०
अह सयमप्पा परिणमदि	१२४	१९३
अह संसारत्थाणं	६३	११५
अह सयमेव हि परिणमदि	११९	१९०
आ		
आउक्खयेण मरणं	२४८	३५५
आउक्खयेण मरणं	२४९	३५५
आऊदयेण जीवदि	२५१	३५५
आऊदयेण जीवदि	२५२	३५५
आदह्मि दव्वभावे	२०३	३०४
आदा खु मज्झ णाणं	२७७	३८१
आधाकम्मं उद्देसियं	२८७	३९२
आधाकम्मादीया	२८६	३९२
आभिणि बोहियसुदोधि	२०४	३०६
आयारादी णाणं	२७६	३८१
आयासं पि णाणं	४०१	५३०
आसि मम पुव्वभेदं	२१	५८
इ		
इणमण्णं जीवादो	२८	६७
इय कम्मबंधणाणं	२९०	३९७
उ		
उदओ असंजमस्स दु	१३३	२०१
उदयविवागो विविहो	१९८	२९८
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	३२०
उप्पादेदि करेदि य	१०७	१८३

	गाथा	पृष्ठ
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४	३४३
उवओगस्स अणाई	८९	१६०
उवओगे उवओगो	१८१	२७२
उवघादं कुव्वंतस्स	२३९	३४८
उवघादं कुव्वंतस्स	२४४	३५२
उवभोगमिंदियेहि	१९३	२९२
ए		
एदेण कारणेण दु	८२	१४८
एक्कं च दोण्णि तिण्णि	६५	११८
एकस्स दु परिणामो	१४०	२०३
एकस्स दु परिणामो	१३८	२०३
एदह्मि रदो णिच्चं	२०६	३११
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	३७४
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	११८
एदे अचेदणा खलु	१११	१८५
एदे सव्वे भावा	४४	९१
एदेण कारणेण दु	८२	१४८
एदेण कारणेण दु	१७६	२६२
एदेण दु सो कत्ता	९७	१७०
एदेसु य उवओगो	९०	१६१
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	२०१
एदेहिं य सम्बन्धो	५७	१११
एदं तु अविवरीदं	१८३	२७२
एमोदिए दु विविहे	२१४	३१६
एमेव कम्मपयडी	१४९	२३०
एमेव जीवपुरिसो	२२५	३३१
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	४४२
एमेव य ववहारो	४८	९७
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	३३१
एयं तु जाणिऊण	३८२	४८९
एयत्तणिच्छयगओ	३	१२
एयं तु असब्भूदं	२२	५८
एवमलिये अदत्ते	२६३	३६५
एवमिह जो दु जीवो	११४	१८८
एवह्मि सावराहो	३०३	४१२
एवं जाणदि णाणी	१८५	२७६
एवं ण कोवि मोक्खो	३२३	४४०
एवं णाणी सुद्धो	२७९	३८५
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०	४६७
एवं पराणि दव्वाणि	९६	१६७
एवं पोग्गलदव्वं	६४	११५
एवं बंधो उ दुण्हं वि	३१३	४२९
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१	३४८
एवं ववहारणओ	२७२	३७८
एवं ववहारस्स उ	३५३	४६२
एवं ववहारस्स दु	३६५	४६८
एवं विहा बहुविहा	४३	८८
एवं संखुवएस	३४०	४४९
एवं सम्मद्दिट्ठी	२००	२९८
एवं सम्मादिट्ठी	२४६	३५२
एवं हि जीवराया	१८	५२
एसा दु जा मई दे	२५९	३६२
क		
कणयमयाभावादो	१३०	२००
कम्मइयवग्गणासु य	११७	१९०
कम्मं जं पुव्वकयं	३८३	४९३
कम्मं जं सुहमसहुं	३८४	४९४
कम्मं णाणं ण हवइ	३९७	५२९
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११	४२७
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२	२०६
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५	२२८
कम्मस्स अभावेण य	१९२	२८६
कम्मस्स य परिणामं	७५	१३९
कम्मस्सुदयं जीवं	४१	८८
कम्मे णोकम्मह्मि य	१९	५५
कम्मेहि दु अण्णाणी	३३२	४४८
कम्मेहि भमाडिज्जइ	३३४	४४९
कम्मेहि सुहाविज्जइ	३३३	४४८
कम्मोदएण जीवा	२५४	३५८
कम्मोदएण जीवा	२५५	३५८
कम्मोदएण जीवा	२५६	३५८
कहसो घिप्पइ अप्पा	२९६	४०४
कालो णाणं ण हवइ	४००	५२९
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५	४५७

	गाथा	पृष्ठ
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६	४५८
को णाम भणिज्ज	२०७	३१३
को णाम भणिज्ज	३००	४१०
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०	१२९
कोहुवजुत्तो कोहो	१२५	१९३
ग		
गधरसफासरूवा	६०	११४
गंधो णाणं ण हवइ	३९४	५२९
गुणसण्णिदा दु एदे	११२	१८५
च		
चउविह अणेयभेयं	१७०	२५७
चारित्तपडिणिबद्धं	१६३	२४४
चेया उ पयडीअट्ठं	३१२	४२९
छ		
छिंददि भिंददि य तहा	२३८	३४८
छिंददि भिंददि य तहा	२४३	३५२
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९	३१४
ज		
जइ ण वि कुणदि	२८९	३९७
जइ जीवेण सह च्चिय	१३७	२०३
जइया इमेण जीवेण	७१	१३१
जइया स एव संखो	२२२	३२७
जं कुणदि भावमादा	९१	१६१
जं कुणदि भावमादा	१२६	१९५
जं भावं सुहमसुहं	१०२	१७९
जं सुहमसहुमुदिण्णं	३८५	४९४
जदि जीवो ण सरीरं	२६	६५
जदि पोग्गलकम्ममिणं	८५	१५२
जदि सो परदव्वाणि य	९९	१७५
जदि सो पुग्गलदव्वी	२५	६१
जदा विमुञ्चए चेदा	३१५	४३१
जह कणयमग्गितवियं	१८४	२७६
जह कोवि णरो जपइ	३२५	४४२
जह चेट्ठं कुव्वंतो	३५५	४६२
जह जीवस्स अणण्णुवओगो	११३	१८८
जह णावि सक्कमणज्जो	८	२३
जह णाम को वि पुरिसो	१७	५२
जह णाम को वि पुरिसो	३५	७७
जह णाम को वि पुरिसो	१४८	२३०
जह णाम को वि पुरिसो	२३७	३४८
जह णाम को वि पुरिसो	२८८	३९७
जह परदव्वं सेवदि	३६१	४६७
जह परदव्वं सेवदि	३६२	४६७
जह परदव्वं सेवदि	३६३	४६८
जह परदव्वं सेवदि	३६४	४६८
जह पुण सो चिय	२२६	३३१
जह पुण सो चेव णरो	२४२	३५२
जह पुरिसेणाहारो	१७९	२६८
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८	३८५
जह बंधे चिंतंतो	२९१	३९९
जह बंधे छित्तूण य	२९२	३९९
जह मज्जं पिवमाणो	१९६	२९४
जह राया ववहारा	१०८	१८३
जह विसमुवभुजंतो	१९५	२९४
जह सिप्पि उ कम्मफलं	३५२	४६२
जह सिप्पिओ दु कम्मं	३४९	४६१
जह सिप्पिओ दु करणाणि	३५१	४६२
जह सिप्पिओ दु करणेहिं	३५०	४६२
जह सिप्पिओ दु चिट्ठं	३५४	४६
जह सेडिया दु	३५६	४६७
जह सेडिया दु	३५७	४६७
जह सेडिया दु	३५८	४६७
जह सेडिया दु	३५९	४६७
जह्मा कम्मं कुव्वइ	३३५	४४९
जह्मा घाएइ परं	३३८	४४९
जह्मा जाणइ णिच्चं	४०३	५३०
जह्मा दु अत्तभावं	८६	१५४
जह्मा दु जहण्णादो	१७१	२५७
जा एस पयडीअट्ठं चेया	३१४	४३१
जावं अपडिक्कमणं	२८५	३८९
जाव ण वेदि विसेसंतरं	६९	१२९
जिदमोहस्स दु जइया	३३	७३
जीवणिबद्धा एदे	७४	१३६
जीव परिणामहेदुं	८०	१४८

	गाथा	पृष्ठ
जीवह्मि हेदुभूदे	१०५	१८२
जीवस्स जीवरूवं	३४३	४५०
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०	४८१
जीवस्स णत्थि केई	५३	१०५
जीवस्स णत्थि रागो	५१	१०५
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	१०५
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	१०५
जीवस्स दु कम्मेण य	१३९	२०३
जीवस्साजीवस्स दु	३०९	४२७
जीवादीसद्दहणं	१५५	२३९
जीवे कम्मं बद्धं	१४१	२०५
जीवे ण सयं बद्धं	११६	१९०
जीवो कम्मं उहयं	४२	८८
जीवो चरित्तदंसण	२	९
जीवो चेव हि एदे	६२	११५
जीवो ण करेदि घडं	१००	१७५
जीवो परिणामयदे	११८	१९०
जीवो बंधो य तहा	२९४	४०१
जीवो बंधो य तहा	२९५	४०४
जो अप्पणा दु मण्णदि	२५३	३५८
जो इंदिये जिणित्ता	३१	७१
जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५	३४४
जो चत्तारि वि पाए	२२९	३४१
जो चेव कुणदि	३४७	४५८
जो जह्मि गुणे दव्वे	१०३	१८०
जो ण करेदि जुगुप्पं	२३१	३४२
जो ण कुणदि अवराहे	३०२	४१२
जो ण मरदि ण य दुहिदो	२५८	३६०
जो दु ण करेदि कंखं	२३०	३४१
जोधेहिं कदे जुद्धे	१०६	१८२
जो पस्सदि अप्पाणं	१४	४०
जो पस्सदि अप्पाणं	१५	४४
जो पुण णिरवराधो	३०५	४१४
जो पोग्गल दव्वाणं	१०१	१७७
जो मण्णदि जीवेमि य	२५०	३५५
जो मण्णदि हिंसामि य	२४७	३५५
जो मरदि जो य दुहिदो	२५७	३६०
जो मोहं तु जिणित्ता	३२	७३
जो वेददि वेदिज्जदि	२१६	३२१
जो समयपाहुडमिणं	४१५	५४९
जो सव्वसंगमुक्को	१८८	२८१
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३	३४३
जो सुदणाणं सव्वं	१०	२५
जो सो दु णेहभावो	२४०	३४८
जो सो दु णेहभावो	२४५	३५२
जो हवदि असम्मूढो	२३२	३४२
जो हि सुएणहिगच्छइ	९	२५
ण		
ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३१०	४२७
णज्झवसाणं णाणं	४०२	५३०
णत्थि दु आसवबंधो	१६६	२५२
णत्थि मम को वि मोहो	३६	७९
णत्थि मम धम्मआदी	३७	८१
ण दु होइ मोक्खमग्गो	४०९	५३८
ण मुयदि पयडिमभव्वो	३१७	४३४
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०	६९
ण य रायदोसमोहं	२८०	३८७
ण रसो दु हवइ णाणं	३९५	५२९
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०	५३९
णवि कुव्वदि कम्मगुणे	८१	१४८
णवि कुव्वइ णवि वेयइ	३१९	४३६
णवि परिणमदि ण गिह्लदि	७६	१४२
णवि परिणमदि ण गिह्लदि	७७	१४२
ण वि परिणमदि ण गिह्लदि	७८	१४२
ण वि परिणमदि ण गिह्लदि	७९	१४२
णवि सक्कदि घित्तुं जं	४०६	५३६
णवि होदि अप्पमत्तो	६	१८
स सयं वद्धो कम्मे	१२१	१९३
णाणं सम्मादिट्ठं	४०४	५३०
णाणगुणेण विहीणा	२०५	३०९
णाणमधम्मो ण हवइ	३९९	५२९
णाणमया भावाओ	१२८	१९८
णाणस्स दंसणस्स य	३६९	४८०
णाणस्स पडिणिबद्ध	१६२	२४४

	गाथा	पृष्ठ
णाणावरणादीयस्स	१६५	२५१
णाणी रागप्पजहो	२१८	३२४
णादूण आसवाणं	७२	१३२
णिदिदसंथुयवयणाणि	३७३	४८८
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६	४९४
णिच्छयणयस्स	८३	१५०
णियमा कम्मपरिणदं	१२०	१९०
णिव्वेयसमावण्णो	३१८	४३४
णेव य जीवट्ठाणा	५५	१०५
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४	१०५
त		
तं एयत्तविहत्तं	५	१६
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६	२०१
तं णिच्छये ण जुज्जदि	२९	६७
तं जाणं जोगउदयं	१३४	२०१
तत्थ भवे जीवाणं	६१	११५
तह जीवे कम्माणं	५९	११४
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०	२६८
तह णाणिस्स वि विविहे	२२१	३२७
तह णाणी वि हु जइया	२२३	३२७
तह वि य सच्चे दत्ते	२६४	३६५
तह्मा दु जो विशुद्धो	४०७	५३६
तह्मा जहित्तु लिंगे	४११	५३९
तह्मा ण कोवि जीवो	३३७	४४९
तह्मा ण कोवि जीवो	३३९	४४९
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा	३२७	४४२
तह्मा दु कुसीलेहिं य	१४७	२३०
तिविहो एसुवओगो	९४	१६५
तिविहो एसुवओगो	९५	१६५
तेसिं पुणोवि य इमो	११०	१८५
तेसिं हेऊ भणिया	१९०	२८५
थ		
थेयादी अवराहे	३०१	४१२
द		
दंसणणाणचरित्तं	१७२	२५९
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६	४८०
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६७	४८०
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६८	४८०
दंसणणाणचरित्ताणि	१६	४८
दव्वगुणस्स य आदा	१०४	१८०
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८	४२७
दव्वे उवभुंजते	१९४	२९३
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०	४३६
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६	३६८
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६०	३६२
दोण्हवि णायाण भणियं	१४३	२१६
ध		
धम्माधम्मं च तहा	२६९	३७१
धम्मो णाणं ण हवइ	३९८	५२९
प		
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८	११३
पक्के फलम्हि पडिए	१६८	२५५
पज्जत्तापज्जत्ता	६७	१२०
पडिकमणं पडिसरणं	३०६	४१६
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा	२९७	४०४
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा	२९९	४०७
पण्णाए घित्तव्वो दट्ठा	२९८	४०७
परमट्ठबाहिरा जे	१५४	२३७
परमट्ठम्हि दु अठिदो	१५२	२३५
परमट्ठो खलु समओ	१५१	२३४
परमप्पाणं कुव्वं	९२	१६३
परमप्पाणमकुव्वं	९३	१६३
परमाणुमित्तयं पि हु	२०१	३०२
पासंडीलिंगाणि व	४०८	५३८
पासंडीलिंगेसु व	४१३	५४३
पुढवीपिंडसमाणा	१६९	२५६
पुरिसित्थियाहिलासी	३३६	४४९
पुरिसो जह कोवि	२२४	३३१
पोग्गलकम्मं कोहो	१२३	१९३
पोग्गलकम्मं मिच्छं	८८	१५८
पोग्गलकम्मं रागो	१९९	२९८
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं	३७४	४८८
फ		
फासो ण हवइ णाणं	३९६	५२९

	गाथा	पृष्ठ
ब		
बंधाणं च सहावं	२९३	३९९
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७	३२३
बुद्धी ववसाओ वि य	२७१	३७६
भ		
भावो रागादिजुदो	१६७	२५३
भुंजंतस्स वि विविहे	२२०	३२७
भूदत्थेणाभिगदा	१३	३३
म		
मज्झं परिग्गहोजइ	२०८	३१४
मारिमि जीवावेमि य	२६१	३६२
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४	२५१
मिच्छत्तं जइ पयडी	३२८	४४५
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७	१५८
मोक्खं असद्दहंतो	२७४	३७९
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२	५४१
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६	२४०
मोहणकम्मस्सुदया	६८	१२२
र		
रत्तो बंधदि कम्मं	१५०	२३२
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव	३७१	४८१
रागो दोसो मोहो य	१७७	२६५
रागह्मि य दोसह्मि य	२८१	३८८
रागह्मि य दोसह्मि य	२८२	३८८
राया हु णिग्गदो त्तिय	४७	९७
रूवं णाणं ण हवइ	३९२	५२८
ल		
लोयसमणाणमेयं	३२२	४४०
लोयस्स कुणइ विण्हू	३२१	४४०
व		
वंदित्तु सव्वसिद्धे	१	६
वण्णो णाणं ण हवइ	३९३	५२८
वत्थस्स सेदभावो	१५७	२४२
वत्थस्स सेदभावो	१५८	२४२
वत्थस्स सेदभावो	१५९	२४२
वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५	३६६
वदणियमाणि धरन्ता	१५३	२३५
वदसमिदीगुत्तीओ	२७३	३७९
ववहारणओ भासदि	२७	६६
ववहारभासिएण	३२४	४४२
ववहारस्स दरीसण	४६	९६
ववहारस्स दु आदा	८४	१५२
ववहारिओ पुण णओ	४१४	५४५
ववहारेण दु आदा	९८	१७५
ववहारेण दु एदे	५६	१११
ववहारेणुवदिस्सइ	७	२१
ववहारोऽभूदत्थो	११	२६
विज्जारहमारूढ़ो	२३६	३४४
वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं	३८७	४९६
वेदंतो कम्मफलं मए	३८८	४९६
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो	३८९	४९६
स		
संता दु णिरुवभोज्जा	१७५	२६२
संसिद्धिराधसिद्धं	३०४	४१४
सत्थं णाणं ण हवइ	३९०	५२८
सद्दहदि य पत्तेदि य	२७५	३७९
सद्दो णाणं ण हवइ	३९१	५२८
सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६१	२४४
सम्मदिट्ठी जीवा	२२८	३३५
सम्मद्दंसणणाणं	१४४	२१८
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२४	६१
सव्वे करेइ जीवो	२६८	३७१
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३	२६२
सव्वे भावे जह्मा	३४	७७
सामण्णपच्चया खलु	१०९	१८५
सुदपरिचिदाणुभूदा	४	१४
सुद्धं तु वियाणंतो	१८६	२७९
सुद्धो सुद्धादेसो	१२	२९
सेवंतो वि ण सेवइ	१९७	२९६
सोवण्णियं पि णियलं	१४६	२३०
सो सव्वणाणदरिसी	१६०	२४३
ह		
हेउअभावे णियमा	१९१	२८६
हेदू चदुवियप्पो	१७८	२६५
होदूण णिरुवभोज्जा	१७४	२६२

कलशकाव्यों की वर्णानुक्रम सूची

	कलश	पृष्ठ
अ		
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	४२९
अखंडितमनाकुलं	१४	४६
अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	३१२
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति	१४१	३०८
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव	५७	१७१
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	२०१
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	३६०
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया	५८	१७१
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	१७४
अज्ञानी प्रकृति स्वभाव	१९७	४३३
अतो हताः प्रमादिनो	१८८	४२१
अतः शुद्धनयायत्तं	७	३३
अत्यंतं भावयित्वा विरति	२३३	५२७
अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं	२४७	५५१
अथ महामदनिर्भरमंथरं	११३	२५०
अद्वैतापि हि चेतना	१८३	४०९
अध्यास्य शुद्धनय	१२	२६६
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	५६७
अनंतधर्मणस्तत्त्वं	२	४
अनवरतमनंतै-	१८७	४१५
अनाद्यनंतमचलं	४१	१२३
अनेनाध्यवसायेन	१७१	३७०
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	५३४
अयि कथमपि मृत्वा	२३	६३
अर्थालंबनकाल एव कलयन्	२५७	५६५
अलमलमतिजल्पै-	२४४	५४८
अवतरति न यावद्	२९	७९
अविचलितचिदात्म	२७६	६१४
अस्मिन्ननादिनि	४४	१२६
आ		
आक्रामन्नधिकल्पभावमचलं	९३	२२०
आत्मनश्चिंतयैवालं	१९	५१
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	१५७
आत्मस्वभावं परभावभिन्न-	१०	३९
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	१७४
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि-	२०८	४५९
आत्मानुभूतिरिति	१३	३३
आसंसारत एव धावति	५५	१५७
आसंसारविरोधिसंवर	१२५	२७१
आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	३०३
इ		
इति परिचिततत्त्वै	२८	७५
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी	१७६	३८६
इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी	१७७	३८८
इति सति सह	३१	८३
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	५५०
इतः पदार्थप्रथनावगुंठना-	२३४	५२८
इतो गतम नेकतां	२७३	६१३
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना	४५	१२७
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	३१५
इत्यज्ञानविमूढानां	२६२	५७०
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२६४	६०४
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	३९४
इत्येवं विरचय्य संप्रति	४८	१३८
इदमेकं जगच्चक्षु-	२४५	५४९
इदमेवात्र तात्पर्यं	११२	२६९
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	२१६
उ		
उदयति न नयश्री-	९	३८
उन्मुक्तमुन्मोच्यशेषतस्तत्	२३६	४३५
उभयनयविरोध-	४	३०
ए		
एकज्ञायकभावनिर्भर-	१४०	३०६
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	७५
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	३२
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	३०५
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	४१०
एकस्य कर्ता	७४	२०९
एकस्य कार्यं	७९	२११
एकस्य चेत्यो	८६	२१३
एकस्य चैको	८१	२११

	कलश	पृष्ठ
एकस्य जीवो	७६	२१०
एकस्य दुष्टो	७३	२०९
एकस्य दृश्यो	८७	२१३
एकस्य नाना	८५	२१३
एकस्य नित्यो	८३	२१२
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	२०८
एकस्य भातो	८९	२१४
एकस्य भावो	८०	२११
एकस्य भोक्ता	७५	२०९
एकस्य मूढो	७१	२०८
एकस्य रक्तो	७२	२०८
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	४४३
एकस्य वाच्यो	८४	२१२
एकस्य वेद्यो	८८	२१४
एकस्य सांतो	८२	२१२
एकस्य सूक्ष्मो	७७	२१०
एकस्य हेतु	७८	२१०
एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं	१६०	३४०
एक: परिणमति सदा	५२	१५६
एक: कर्ता चिदहमिह	४६	१२८
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१	२२७
एको मोक्षपथो य एष	२४०	५४२
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	५३८
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	५७०
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा	१५	४८
एषैकैव हि वेदना	१५६	३३७
क		
कथमपि समुपात्त	२०	५४
कथमपि हि लभंते	२१	५६
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	२२४
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	२२४
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	३३१
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	४६०
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	४२६
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	२३३
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकै:	२०४	४४७
कषायकलिरेकत:	२७४	६१३
कांत्यैव स्नपयंति य	२४	६५
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	४४७
कृतकारितानुमननै	२२५	४९८
क्लिश्यंतां स्वयमेव	१४२	३०८
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	६१२
क्ष		
क्षणिकमिदमिहैक:	२०६	४५६
घ		
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	१२१
च		
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व	३६	१०४
चित्पिंडचंडिमविलासिविकास	२६८	६०९
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	६१०
चिरमिति नवतत्त्व	८	३६
चित्स्वभावभरभावितभावा	९२	२१७
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	२७५
ज		
जयति सहजतेज:	२७५	६१२
जानाति य: स न करोति	१६७	३५५
जीव: करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	१८५
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	८७
जीवादजीवमिति	४३	१२५
ज्ञ		
ज्ञप्ति: करोतौ न हि	९७	२२३
ज्ञानमय एव भाव:	६६	१९७
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	३२४
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्य	२२४	४९५
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	६०	१७३
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	१७३
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	३३०
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	३२४
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:	६७	१९९
ज्ञानी करोति न	१९८	४३५
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	१४७
ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति	२५१	५६०
ट		
टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा	२६१	५६८
टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित्त	१६१	३४०

	कलश	पृष्ठ
त		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	२९४
तथापि न निरर्गलं	१६६	३५४
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	२२६
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	३३३
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	४२३
त्यजतु जगदिदानीं	२२	६०
द		
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३९	५४०
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६	५०
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि:	१७	५१
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	२२१
द्रव्यलिंगममकारमीलितै-	२४३	५४५
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच	१८०	३९६
ध		
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३	२६९
न		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	३५१
न जातु रागादि	१७५	३८६
ननु परिणाम एव किल	२११	४६५
नम: समयसाराय	१	३
न हि विदधति बद्ध	११	४२
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	२९५
नास्ति सर्वोऽपि संबंध:	२००	४४१
निजमहिमरतानां	१२८	२८३
नित्यमविकारसुस्थित	२६	७०
निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्	३८	११९
नि:शेषकर्मफल	२३१	५२६
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	२३३
नीत्वा सम्यक् प्रलय	१९३	४२५
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	१५६
नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु	२६५	६०५
नोभौ परिणामत: खलु	५३	१५६
प		
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	३१०
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	४१२
परपरिणतिहेतो	३	५
परपरिणतमुज्झत्	४७	१३९
परमार्थेन तु व्यक्त	१८	५१
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	४९२
पूर्वबद्धनिजकर्म	१४६	३१९
पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये	२५६	५६४
प्रच्युत्य शुद्धनयत:	१२१	२६६
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	४०४
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर	२५२	५६२
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	५१०
प्रमादकलित: कथं भवति	१९०	४२३
प्राकारकवलितांबर	२५	६९
प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं	१५९	३३९
प्रादुर्भावविराममुद्रित	२६०	५६८
ब		
बंधच्छेदात्कलयदतुलं	१९२	४२४
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	४६५
बाह्याथग्रहणस्वभावभरतो	२५०	५६०
बाह्यार्थै:परिपीतमुज्झित	२४८	५५८
भ		
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०	२८९
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	२५७
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	२५५
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण	१८२	४०६
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य	२५४	५६३
भूतं भांतमभूतमेव	१२	४३
भेदज्ञानोच्छलन	१३२	२९०
भेदविज्ञानत: सिद्धा:	१३१	२८९
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा	११२	२४८
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	४३२
म		
मग्ना: कर्मनयावलंबनपरा	१११	२४७
मज्जंतु निर्भरममी	३२	८६
मा कर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	४५६
मिथ्यादृष्टे: स एवास्य	१७०	३६१
मोक्षहेतुतिरोधानाद्	१०८	२४१
मोहविलासविजृम्भित	२२७	५०६
मोहाद्यदहमकार्षं	२२६	५०३
य		
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९	२०७
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	४६६
यत्सन्नाशमुपैति तत्र नियतं	१५७	३३७

	कलश	पृष्ठ
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	२८०
यदिह भवति रागद्वेष	२२०	४८७
यदेतद् ज्ञानात्मा	१०५	२३६
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८९	४२२
यस्माद् द्वैतमभूत्परा	२७७	६१५
यः करोति स करोति केवलं	९६	२२२
यः परिणमति स कर्ता	५१	१५६
यः पूर्वभावकृतकर्म	२३२	५२६
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	३२६
यावत्पाकमुपैति कर्मविरति	११०	२४६
ये तु कर्तारमात्मानं	१९९	४४०
ये तु स्वभावनियमं	२०२	४४४
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	५४३
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी	२६६	६०८
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	६१२
र		
रागजन्मनि निमित्ततां	२२१	४८७
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	४७९
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	४९३
रागद्वेषविमोहानां	११९	२६४
रागद्वेषा विहहि भवति	२१८	४८३
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया	२१९	४८४
रागादयो बंधनिदानमुक्ता	१७४	३८४
रागादीनामुदयमदयं	१७९	३९५
रागादीना झगिति विगमात्	१२४	२७०
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	२९१
रागोद्गारमहारसेन सकलं	१६३	३४७
रुंधन् बंधं नवमिति	१६२	३४५
ल		
लोक कर्मः ततोऽस्तु	१६५	३५३
लोकः शाश्वत एक एष	१५५	३३६
व		
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु	३९	१२०
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	१११
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२	१२४
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	४६५
विकल्पकः परं कर्ता	९५	२२२
विगलंतु कर्मविषतरु	२३०	५११
विजहति न हि सत्तां	११८	२६४
विरम किमपरेणाकार्य	३४	९४
विश्रांतः परभावभावकलना	२५८	५६६
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	१७२	३७३
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४९	५५८
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	२४१
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	२४१
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं	२०७	४५७
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्	१४७	३२२
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	५३६
व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि	५	३१
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४२	५४४
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	१४१
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	४६१
श		
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित	२१५	४७८
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं	२१६	४७९
स		
सकलमपि विहायाह्राय	३५	१०४
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	५१०
संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	२६०
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९	२४६
संपद्यते संवर एष	१२९	२८८
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	३३४
सम्यग्दृष्टयः स्वयमयमहं	१३७	३००
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	२९७
सर्वत स्वरसनिर्भरभावं	३०	८१
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	३७७
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	५६२
सर्वस्यामेव जीवत्यां	११७	२६१
सर्वं सदैव नियतं	१६८	३५९
सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्त	१८५	४११
स्थितेति जीवस्य निरंतराया	६५	१९५
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	१९२
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल	२६७	६०८
स्याद्वाददी पितलसन्महसि	२६९	६१०
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै	२७८	६१६
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध	२५५	५६३
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प	९०	२१५
स्वं रूपं किल वस्तुनो-	१५८	३३८
ह		
हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	२२९